

शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका : केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त पत्रिका

शोध अंक 41

जून 2018

200.00 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 07838090732

ई-मेल : shodhdisha@gmail.com

वेब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

हरियाणा

डॉ० मीना अग्रवाल

बी-203, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुडगाँव (हरियाणा)

फोन : 0124-4076565, 07838090237

दिल्ली एन०सी०आर०

डॉ० अनुभूति

सी-106, शिव कला

बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा

फोन : 09560554612

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक

डॉ० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक

डॉ० शंकर क्षेम

उपसंपादक

डॉ० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक

गीतिका गोयल/ डॉ० अनुभूति

उपसंपादक

डॉ० अशोककुमार 09557746346

विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता

ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क

आजीवन : व्यक्तिगत : पाँच हजार रुपए

संस्थागत : छह हजार रुपए

वार्षिक शुल्क : छह सौ रुपए

यह प्रति : दो सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसेट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

- डॉ० सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, Morrisville, NC-27560 USA
- डॉ० सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
- प्रो० हरिशंकर आदेश, भारतीय प्राच्य विद्या संस्थान, कनाडा
- डॉ० कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फेज-1, दिल्ली 110052
- डॉ० आर०पी० सिंह, पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय एवं पूर्व प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ०प्र०)
- प्रो० अशोक चक्रधर, जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली
- प्रो० नंदकिशोर पांडेय, निदेशक केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ०प्र०)
- प्रो० आदित्य प्रचंडिया, पूर्व आचार्य हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा
- प्रो० हरिमोहन, कुलपति, जे०एस०विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोशाबाद) उ०प्र०
- प्रो० बाबूराम, पूर्व अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
- डॉ० राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म०प्र०)
- प्रो० रामसजन पांडेय, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, मीरपुर, रेवाड़ी (हरियाणा)
- प्रो० हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययन शाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- डॉ० दामोदर खड्गसे, पूर्व कार्याध्यक्ष, महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी, मुंबई (महा०)
- प्रो० शंकर बुंदेले, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती
- प्रो० आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ० हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
- प्रो० अर्जुन चव्हाण, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा०)
- डॉ० माया टाक, पूर्व प्रोफेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- प्रो० अनिलकुमार जैन, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- प्रो० शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
- डॉ० अवनिजेश अवस्थी, हिंदी विभाग, पी०जी० डी०ए०वी० कालेज, नेहरू नगर, नई दिल्ली
- प्रो० हनुमानप्रसाद शुक्ल, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्ध
- प्रो० चंद्रकांत मिसाल, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस०एन०डी०टी० महिला विद्यापीठ, पुणे (महा०)
- डॉ० मुकेश गर्ग, पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- प्रो० जितेंद्र वत्स, प्रोफेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
- डॉ० माला मिश्रा, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, अदिति कालेज (दिल्ली विश्व०), बवाना
- प्रो० श्यामधर तिवारी, हिंदी विभाग, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
- डॉ० दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
- डॉ० शहाबुद्दीन शेख, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०, औरंगाबाद (महा०)
- डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
- डॉ० महेशचंद्र, पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ०प्र०)
- श्री राकेशकुमार दुबे, पत्रकारिता और जनसंचार विभाग, उड़ीसा केंद्रीय विश्वविद्यालय, कोरापुट (उड़ीसा)
- डॉ० महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ०प्र०)
- डॉ० अरुणकुमार भगत, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा (उ०प्र०)

आजीवन सदस्य

उत्तर प्रदेश/ उत्तराखंड

डॉ० रामानंद शर्मा
ई-89, वेव ग्रीन कॉलोनी
मुरादाबाद (उ०प्र०)

डॉ० मधुलिका तिवारी
रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एल०आर० पी०जी० कॉलेज, साहिबाबाद
गाजियाबाद (उ०प्र०)

श्री हरिराम 'पथिक'
स्नेहगंगा, विष्णुधाम कालोनी,
गली नं० 3, न्यू माधोनगर, सहारनपुर (उ०प्र०)

डॉ० वंदना सेमल्टे
टी०एफ० 7, प्रेरणा अपार्टमेंट्स,
गांधीनगर, गाजियाबाद 201001

डॉ० मनमोहन शुक्ल
147, मायापुरी, आवास योजना
झूँसी, इलाहाबाद 211019

श्री अरुणकुमार भगत
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता
एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा परिसर
'माध्यम' सी-56, ए/5, सेक्टर-62
नोएडा 201301 (उ०प्र०)

डॉ० विपिनकुमार गिरि
पुराना माधवनगर, भारद्वाज गली
सहारनपुर (उ०प्र०)

प्राचार्या
आर०बी०डी० महिला महाविद्यालय
बिजनौर (उ०प्र०) 246701

डॉ० सुधारानी सिंह
सी-54, सेक्टर-3, सुशांत सिटी
दिल्ली बाईपास, मेरठ (उ०प्र०)

डॉ० प्रेमव्रत तिवारी
सरस्वती सदन, बेतियाहाता, गोरखपुर (उ०प्र०)

डॉ० पूनम भारद्वाज
17 प्रेम विहार, मुजफ्फरनगर 251001
09997100697

श्रीमती अल्पना
द्वारा श्री अरुण कपूर, III एच 288 नेहरूनगर
पवन सिनेमा के पीछे, राकेश मार्ग
गाजियाबाद 201001

डॉ० वंदना श्रीवास्तव
के 83 सी आशियाना, लखनऊ 226012
09415917170

प्रो० धर्मेंद्रकुमार द्विवेदी
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत
राजकीय महाविद्यालय
पुँवारका, सहारनपुर (उ०प्र०)

डॉ० महेंद्रपाल सिंह
सहायक प्रोफेसर, हिंदी
सेठ पी०सी० बागला पी०जी० कॉलेज, हाथरस

श्री रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'
सी 1702, जे एम अरोमा
सेक्टर 75, नोएडा (उ०प्र०) 201301
मो० 09313727493

डॉ० सुचित्रा मलिक
37 गांधी आश्रम, विष्णु गार्डन
कनखल (हरिद्वार) उत्तराखंड

डॉ० श्रीकांत अवस्थी
राजीव गांधी विद्यालय
कोटा बाग, नैनीताल (उत्तराखंड)

सुरेंद्रकुमार जैन
हिंदी विभाग
स० भगतसिंह राजकीय स्नातकोत्तर महा०
रुद्रपुर (नैनीताल)

मध्य प्रदेश
डॉ० राजेंद्र मिश्र
14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म०प्र०)

डॉ० सुरेंद्र यादव

102 नवदीप अपार्टमेंट, 7 शंकर नगर (साकेत)
इंदौर 452018 मो० 09009566220

डॉ० ज्योतिसिंह

213 अनूपनगर
सी०एच०एल० अपोलो हास्पिटल के सामने
ए०बी० रोड, इंदौर 452008 (म०प्र०)
09926300355

डॉ० चंदा तलेरा जैन

जी-17, रेडियो कालोनी, इंदौर (म०प्र०) 452001
09425944773

डॉ० वंदना अग्निहोत्री

194 सुखदेव नगर, एरोड्रम रोड,
इंदौर (म०प्र०) 452001, मो० 09926477787

डॉ० पुष्पा शाक्य

110, सुंदरनगर मेन, सुकलिया, इंदौर (म०प्र०)
09827281203

डॉ० चंद्रकिरण अग्निहोत्री

108, रेडियो कालोनी, इंदौर (म०प्र०) 452001

प्रो० प्रहलाद तिवारी

111, वी०आई०पी०, परस्पर नगर, स्कीम नं० 97
पार्ट 4, स्लाइस 4,
इंदौर (म०प्र०) 452012
मो० 09406631688

डॉ० पंकज विरमाल

अध्यक्ष हिंदी विभाग, इंदौर क्रिश्चियन कालेज
इंदौर (म०प्र०) 452001

प्राचार्य, शासकीय महारानी लक्ष्मीबाई

कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
किला भवन, इंदौर (म०प्र०)

डॉ० निशा तिवारी

650 नैपियर टाउन, भँवरताल वाटर टैंक के पीछे
जबलपुर 482001 (म०प्र०) मो० 09425386234

डॉ० नीना उपाध्याय

प्रो० हिंदी विभाग
868, इंदिरा गांधी वार्ड, अंजनी बिल्डर्स के पास
गढ़ा, जबलपुर (म०प्र०) 482003
मो० 09424305641

डॉ० स्मृति शुक्ला

ए-16 पंचशील नगर, नर्मदा रोड, जबलपुर (म०प्र०)

प्रो० हरिमोहन बुधौलिया

6 दीप्ति विहार, इंदौर रोड
उज्जैन (म०प्र०) 456010
मो० 9826214024

डॉ० श्रीकांता अवस्थी

1189 गली नं० 17 जे०डी०ए०गार्डन
शांतिनगर दमोहनाका
जबलपुर (म०प्र०) 482002
मो० 9300598160

पंजाब/ हरियाणा**श्री हेमांशु शर्मा**

हिंदी विभाग, साईदास ए०एस०सी० सी०से० स्कूल
पटेल चौक, जालंधर शहर (पंजाब)

प्राचार्या

कमला नेहरू कालेज फॉर वुमैन
फगवाड़ा (कपूरथला) पंजाब

प्राचार्या

कन्या महाविद्यालय
विद्यालय मार्ग, जालंधर (पंजाब) 144004

डॉ० विद्या चौधरी

मिर्जापुर फार्म, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) 136119

डॉ० विजय इंदु

1608 हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी
सेक्टर 10 ए, गुड़गाँव (हरियाणा) 122001

डॉ० कविता यादव

पुत्री श्री सुनिलकुमार, ग्राम व पोस्ट पालावास
जिला रेवाड़ी (हरियाणा) 123035

डॉ० राजाराम अग्रवाल

ग्राम व पोस्ट शेखपुर दरौली
जिला फतेहाबाद (हरि०) 125053
मो० 09896789100

डॉ० पुष्पा अंतिल

203, टॉवर-9, फ्रेस्को
निर्वाणा, सेक्टर 50, गुड़गाँव (हरि०) 122018
मो० 096547444800

प्राचार्य

राजकीय महाविद्यालय, सिधरावली (गुड़गाँव)

प्राचार्य

द्रोणाचार्य राजकीय महाविद्यालय, न्यू रेलवे रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)

प्राचार्य

राजकीय महाविद्यालय, सेक्टर 14
गुड़गाँव (हरियाणा)

प्राचार्य

हरद्वारीलाल राजकीय महाविद्यालय,
तावडू (मेवात)

डॉ० ऋषिपाल

ऐसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिंदी-विभाग, बाबू अनंतराम जनता महाविद्यालय,
कौल, कैथल (हरियाणा)

प्राचार्य

बाबू अनंतराम जनता महाविद्यालय,
कौल, कैथल (हरियाणा)

महाराष्ट्र**डॉ० मेहमूद रसूल पटेल**

दारुल अमन, काशीनगर,
जालना रोड, बीड़ (महा०)

डॉ० शहाबुद्दीन नियाश मुहम्मद शेख

(प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०औरंगाबाद)
अध्यक्ष, राष्ट्रीय हिंदी सेवी महासंघ
78/484 सिविल हडको
अहमदनगर 414003, मो० 09850119687

प्रो० शेख मुहम्मद शाकिर शेख बशीर

अध्यक्ष हिंदी विभाग
पूना कालेज ऑफ आर्ट्स, कामर्स एंड साइंस
कैम्प, पुणे 411201 (महा०)
मो० 09423017017

प्रा० डॉ० अभयकुमार रमेश खैरनार

मु०पो० जुनवणे
तह० जि० धुले (महाराष्ट्र)

प्रा० अनंत नानाजी केदारे

5 पार्वती अपार्टमेंट, अयोध्या कॉलोनी
दातेनगर, गंगापूर रोड, नासिक 422005 (महा०)

डॉ० मंजूर चाँदभाई सय्यद

'गुलसिता' 223 औदुंबरनगर, अमृतधाम
पंचवटी, नासिक 422004 (महा०)
मो० 09822991516

डॉ० शोभा साहेबराव राणे

17 स्वर समृद्धि अपार्टमेंट,
नंदनवन लॉन के सामने
आशाराम बापू आश्रम मार्ग, सावरकर नगर,
गंगापूर रोड, नासिक (महा०) 422013

डॉ० लियाक़त मियाँ भाई शेख

अखिलेश नगर, प्लाट क्र० 11
नए बस स्टैंड के पास,
गंगापूर (औरंगाबाद) महा०, मो० 09423933402

डॉ० संजय विक्रम ढोढरे

7, मोतीरामनगर, वाडीभोकर रोड,
देवपुर, धुले 424002 (महाराष्ट्र)

डॉ० अशोक द्रौपद गायकवाड़

'कृतज्ञता', अवधूत पार्क, आरोह निसर्ग के पास
कादंबरी नगर क्रमांक 1 के पास
पाइप लाइन रोड, सावेडी
अहमदनगर (महा०) 414003
09822941330

प्रा० दत्तात्रय माधवराव टिलेकर

द्वारा संतोष मेडिकल, साई प्रेस्टिज, फ्लैट नं० 13
पाटील अली, ओतूर
तह० जुन्नर, शिला पुणे (महा०) 412409
09860229544

डॉ० मजीद मुनीर शेख

ग्राम व पो० साष्ट, पिंपल गाँव,
(वाया अंकुशनगर) तह० अंबड
शिला जालना (महा०) 431212
मो० 09765944586

डॉ० अश्विनीकुमार 'विष्णु'

अध्यक्ष अँग्रेजी विभाग
सीताबाई आर्ट्स कालेज, अकोला (महा०)

डॉ० भरत त्रयंबक शेणकर

द्वारा होटल जय महाराष्ट्र
ग्राम, पो० व तह० अकोले
शिला अहमदनगर (महा०) 422601
09423164521

डॉ० पोपट विठ्ठल कोटमे

प्लैट नं० 5, सत्यसंगम
कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी
श्री जयनगर, इंदिरानगर, नासिक (महा०) 422006
मो० 09850760866

डॉ० एस०एन० देवरे

प्लाट नं० 17, सिद्धिविनायक कॉलोनी
देवपुर, धुले (महा०) 424002

डॉ० श्रीमती विजयालक्ष्मी नारायण रामटेके

सुशीला सोसायटी, प्लाट क्र० 5
अजय जिम के पीछे, तेलरांधे के सामने
जरी पटका रिंगरोड, जरी पटका पोस्ट ऑफिस
नागपुर 440014 (महा०)

सुश्री शारदा बी० जावरे

ओमकार, समृद्धि डेपलपर, प्लेट क्र० 402
प्लाट नं० 26, सर्व क्र० 137/1 ए,
बराटे स्कूल के पास, वारजे, मालवाडी,
पुणे 411058 (महाराष्ट्र)
मो० 08805616654

प्रा० (श्रीमती) ऐनूर अजीजभाई इनामदार

स्वामी समर्थनगर, राजूरी रोड, कोल्हार 413710
तहसील राहाता, जिला अहमदनगर (महा०)
मो० 09011449636

सुश्री कामिनी अशोक न्यायाधीश

661 अरुणोदय कालोनी, सिडको एन-5
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
मो० 09975773345

प्रो० डॉ० चंद्रकांत मिसाल

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग,
एस०एन०डी०टी० महिला विश्वविद्यालय,
कर्वे रोड, पुणे 411038 (महाराष्ट्र)

प्रा० अशोक शामराव मराठे

116, सखाराम नगर,
पेरेजपुर रोड, साक्री, तह० साक्री,
जिला धुले 424304 (महाराष्ट्र)

प्रा० पंजाबी ममता नानकचंद

19/20, त्रिमूर्ति नगर,
मोरे अस्पताल के पास,
साक्री, तहसील साक्री, जिला धुले 424304

प्रा० डॉ० योगेश गोकुळ पाटिल

प्लॉट नं० 12, नयना सोसायटी,
नकाणे रोड, देवपुर, धुले 424002

प्रा० उषा पुंडलिक शिरोळे

द्वारा श्री शशिकांत हरी बागडे
गुरुकृपा हास्पिटल, डाक पारीपत्यदार
सावतानगर मालेगाँव, तह-मालेगाँव
जिला नासिक (महा०)

प्रा० करुणा दत्तात्रय अहिरे

व्ही०यू० पाटिल कला एवं विज्ञान महाविद्यालय,
साक्री, तह० साक्री, जिला धुले 424304

प्रा० डॉ० प्रमोद गोकुळ पाटील

मु०पो० मोराणे (प्र०ल०)
तह० जिला धुले 424001 (महाराष्ट्र)

प्रा० डॉ० अशफाक सिकलगर

जीएफ-102 ताज अपार्टमेंट,
चालीसगाँव रोड, धुले (महाराष्ट्र)

प्रा० डॉ० महेंद्रसिंह रघुवंशी

सरस्वतीनगर, प्लॉट नं० 10,
वाघेश्वरी मंदिर के पास, नंदुरबार 425412

डॉ० रेखा वसंत पाटील

सीतामाईनगर, चालिसगाँव
शिला जलगाँव (महा०) 424101

प्रा० डॉ० मंजू तरडेजा (सिंघाणी)
ब्लॉक नं० आर-10, रूम नं० 10,
कुमारनगर, साक्री रोड, धुले 424001

प्रा० डॉ० चंद्रमादेवी पाटील
59, धनदाईनगर, गोंदुर रोड, बलवाडी,
देवपूर, धुले 424005 (महाराष्ट्र)

डॉ० संजयकुमार नंदलाल शर्मा
38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी,
तलोदा, जि० नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

श्रीमती वर्षा सुभाषचंद्र देशमुख
बी-6, चंद्रवेल अपार्टमेंट, गोविंदनगर होटेल
प्रकाश्या भागे, मुंबई नाका,
नासिक (महाराष्ट्र) 422010

डॉ० देवकीनंदन महाजन
1 टेलीफोन कालोनी,
धुले रोड, अमलनेर (जलगाँव) महाराष्ट्र

डॉ० कल्पना राजेंद्र पाटील
38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी, तलोदा
जि० नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

सुश्री निर्मला पुरुषोत्तम तोमर
फ्लेट नं० 12, एस नं० 137/2
वारजे मलवाडी, पुणे 411058, मो० 08087612123

प्रा० डॉ० रामचंद्र माली
अध्यक्ष हिंदी विभाग,
क०वा०वि० महाविद्यालय
नवापुर, शिला नंदुरबार (महाराष्ट्र)

डॉ० सुषमा कोंडे
81/ए, प्लाट नं० 9/ए,
गिरिदर्शन हाउसिंग सोसायटी, बानेर रोड
पुणे 411007 (महाराष्ट्र)
मो० 09822848464

प्राचार्य विद्यावर्धिनी महाविद्यालय
धुले (महा०) 424001

डॉ० हेमलता कांचनकर
43 नंदनवन कालोनी (कैंट)
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
मो० 09730202528

सुश्री नेहा संदीप घोरपडे
द्वारा सुश्री सुनीता पवार
फ्लैट नं० 404, प्रकाश मेमाराइज
एस नं० 73, दूध डेयरी, पुणे-411046

सुश्री भारती मधुकर पाटील
मु०पो० सावलदे, तहसील शिरपूर
जिला धुले (महा०)

प्रा० शिंदे नवनाथ सर्जेराव
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
सांगोला महाविद्यालय, सांगोला
कडलास रोड, सांगोला (सोलानुर) 413307
मो० 09763602304

डॉ० मीनल प्रमोद बर्वे
7, गिरिजात्मक, अष्टविनायक रेजिडेंसी,
के०जे० मेहता कालेज के पास, नासिक-पुणे हाईवे
नासिक रोड (महाराष्ट्र) 422001
मो० 09423968189

प्रो० अमानुल्लाह मो० शेख
श्रद्धा रेजिडेंसी, बिल्डिंग ए, बिंग ए-201
आई०टी०आई० कालेज के पास
पो० मुकिंदपुर, तह० नेवासा
जिला अहमदनगर (महा०)

प्रा० ईश्वर पदमसिंग ठाकुर
जनशक्ति कालोनी
रिंग रोड, फैजपुर, तहसील यावल (जलगाँव)

डॉ० दीपक विश्वासराव पाटील
मुकाम सौदाणे, निकट कलाविश्व कंप्यूटर सेंटर
पो० बडजाई (धुले) महा० 424002
मो० 099923811609

डॉ० अनिता मधुकर अंतरे
मयूर सोलर ऐजेंसी
स्वामी समर्थ मंदिर के पास
पो० लोनी बी के, तालुका रहाता
जिला अहमदनगर (महाराष्ट्र) 413736
मो० 09970343766

श्री शेख शिराज हसन
पोस्ट बोरी, तालुका खंडाला (सतारा)
415521 (महा०), मो० 09011444059
डॉ० विठ्ठलसिंह नंदरामसिंह ढाकरे
'सी' टाइप कालेज
शास्त्रीनगर, लासलगाँव
जिला नासिक (महाराष्ट्र) 422306
मो० 08888590156

डॉ० उर्मिला मानसिंह गायकवाड
प्लॉट नं० 290-292, सेक्टर-29
गुरु स्मृति अपार्टमेंट, ए-विंग,
फ्लैट नं० 303 रावेत निकट डी-मार्ट
पुणे 412101, मो० 07620225839

डॉ० एफ०एम० शाह
द्वारा श्री टी०एम० धुवारे
छोटा दत्त मंदिर के पास, टी०बी० टोली
गोंदिया (महा०) 441614
मो० 07620042772

डॉ० शैला पांडुरंग चव्हाण
फ्लेट नं० 1, सुविधिनाथ हाउसिंग सोसायटी
मुख्य फायर ब्रिगेड आफिस के सामने
हीरा-मोती शोरूम के पीछे,
सिंघाड़ा तालाब, नासिक (महा०) 422001
मो० 09850827138

प्राचार्य
कला, वाणिज्य व कंप्यूटर
एप्लीकेशन महिला महाविद्यालय
डोंगर कठोरे, यावल,
जिला जलगाँव (महा०)

प्रा० पुरुषोत्तम कुंदे
हिंदी विभाग, न्यू आर्ट्स कामर्स एंड साइंस कालेज
शेवगाँव (अहमदनगर) 414502 महाराष्ट्र
मो० 09850947267

प्रा० अमृता भरत पाटिल
प्लॉट नं० 23, बालाप्या कॉलोनी
अशोकनगर के पास, जमनागिरि रोड
धुले (महा०) 424001

डॉ० सचिन कदम
हिंदी विभाग, संगमनेर महाविद्यालय
संगमनेर (महाराष्ट्र)

रूपाली नामदेवराव रिंगे
द्वारा बालाजी संभाजी कदम
फ्लैट नं० 12, साईं श्रद्धा रेसिडेंसी, प्लॉट नं० 78
सी०डी०सी० पूर्णनगर, चिंचवड,
पुणे 411019 महाराष्ट्र
मो० 09420848635, 07276268922

प्रो० मनोहर हिलाल पाटिल
प्लॉट नं० 1, परिजात कॉलोनी
निकट इंदिरा गार्डन, देवपुर धुले 424002 (महा०)

गुजरात

श्री गुलाबराव शांताराम बाविस्कर
201, के-टॉवर, श्रीनंदनगर
सोखड़ा रोड, छाणी,
बड़ोदरा (गुजरात) 391740
मो० 09624501415

कर्नाटक

डॉ० जुबैदा हाशिम मुल्ला
बैतुल हाशमी, म०नं० 152, ताजनगर
हुबली 580031 (कर्नाटक)

तमिलनाडु

Dr. V. Jayalakshmi
Mathura, Plot No. 38
5th Cross Street, Gokul Nagar
Perumbakkam, Chennai-600100

डॉ० कैलाशंद्र शर्मा 'शंकी'
प्रोफेसर कॉलोनी, स्टेडियम रोड
चरखी दादरी (भिवानी) हरियाणा 127306
मो० 09812121233

हिंसा का राजनीति से जुड़ा पहलू

भारतीय समाज में बढ़ती हुई हिंसक प्रवृत्तियों का एक मुख्य कारण अपराध-जगत् के सरगनाओं से राजनेताओं का वह गठजोड़ भी है, जो अब आधुनिक राजनीति की धुरी बनता जा रहा है। सत्ता पर अधिकार करने के लिए हरसंभव हथकंडों का बेहिचक प्रयोग राजनीतिज्ञों का सामान्य व्यवहार बनता जा रहा है। इस व्यवहार ने राजनीति में सभी प्रकार के नैतिक मूल्यों को तहस-नहस कर दिया है। हथियारबंद अपराधियों से मतदाताओं को आतंकित कराने या उन्हें वोट देने से रोकने की हिंसक कार्रवाई से लेकर मतदान-केंद्रों पर बलपूर्वक कब्जा करने, मतपेटियाँ उठाकर भाग जाने या मतपत्रों पर अपनी इच्छानुसार मोहर लगाकर डाल देने तक कितनी ही घटनाएँ चुनावों के अवसर पर देखने में आती हैं, जो हमें बताती हैं कि लोकतंत्र में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं, जो हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था के लिए खतरा बन सकती हैं। चुनाव के समय हिंसक झड़पें होती हैं, उम्मीदवारों का अपहरण कर लिया जाता है, उनकी हत्या तक कर दी जाती है। शुरू से अब तक के आँकड़े इकट्ठे किए जाएँ तो मालूम होगा कि चुनावी संघर्षों में मृत्युदर लगातार बढ़ती जा रही है। अब हर चुनाव प्रत्याशी को सुरक्षागार्ड साथ रखने पड़ते हैं, जबकि ऐसा पहले नहीं होता था। अपराध-जगत् और राजनीति का यह गठजोड़ भारतीय समाज को जितनी तेजी से प्रदूषित कर रहा है, उसका अनुमान लगाना आसान नहीं है।

पहले चरण में राजनेताओं ने अपनी निहित राजनीतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए अपराध-जगत् के सरगनाओं को एक प्रभावी अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। राजनेताओं के संपर्क में आ जाने से अपराध-जगत् के ये सरगना पहले प्रशासन की नजर में महत्वपूर्ण बने और फिर आम जनता की नजर में। प्रशासन और जनजीवन में अपने बढ़ते हुए प्रभाव को भाँपकर अपराध माफियाओं ने छोटे-बड़े राजनेताओं के हाथ का यंत्र बनने के स्थान पर स्वयं राजनीति में सक्रिय होने की तरफ कदम बढ़ाए। राजनीतिक दलों ने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए इनके इस कदम का स्वागत किया। परिणामतः अपराधी प्रवृत्ति के लोग दर्जनों की संख्या में चुनकर विधानसभाओं तथा लोकसभा में पहुँचने लगे। राजनीतिक दल निर्लज्जतापूर्वक इन्हें अपना प्रत्याशी बनाने के लिए टिकट देने लगे। कितनी बार ऐसे दृश्य देखे गए कि हत्या, लूट और अपहरण जैसे गंभीर अपराधों में आरोपित सरगनाओं ने जेल की सलाखों के पीछे बैठकर चुनाव लड़ा। वे जीते और उन्हें जेल से शपथ दिलाने के लिए विधानसभा तक लाया गया। इस तरह एक ऐसी संस्कृति विकसित हुई, जो हिंसा को एक राजनीतिक पैतरे की तरह इस्तेमाल करने की सीख दे रही थी। धीरे-धीरे हिंसा का यह दानव राजनीति के रास्ते से समाज में प्रवेश करने लगा। सांप्रदायिक और जातिवादी राजनीति ने तो अपनी सभी मर्यादाएँ तोड़ दीं।

सब जानते हैं कि जिसे 'व्हाइट कालर्स ट्रेडीशन' अथवा 'सफेदपोशों की परंपरा' कहते हैं, वह प्रायः समाज के लोगों के लिए एक उदाहरण बन जाती है। सामान्यजन उसी डगर पर चलने लगते हैं और उसी से प्रेरणा लेने लगते हैं। राजनीति के सफेदपोशों ने जो तौर-तरीके अपनाए थे, धीरे-धीरे दूसरे लोगों में भी उनका प्रचलन हुआ। अंततः अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज में शक्ति का प्रयोग बढ़ता चला गया। सफेदपोश अपराधियों का हाल कुछ ऐसा हो गया—

कैसी अजीब बात है कुछ लोग शहर के,
कातिल हैं मगर देख के कातिल नहीं लगते।

अपराध-जगत् से राजनीति के गठजोड़ का परिणाम यह हुआ कि अपराधी और गैर-अपराधी के बीच पहचान की रेखा स्थापित करना मुश्किल हो गया। उन लोगों तक तो कानून के हाथ पहुँच ही नहीं पाए, जिन्हें अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए राजनेताओं ने एक हथियार के रूप में प्रयोग किया था। पुलिस उन अपराधियों तक पहुँचने में संकोच करने लगी, जो राजनीति में सक्रिय होकर या राजनेताओं के संपर्क में आकर सम्मानित समझे जाने लगे थे। अपराधी सम्मानित नागरिकों की पंक्तियों में आ जाँएँ और पुलिस-थाने भी उनके निर्देशों से संचालित होने लगे तो समझा जा सकता है कि समाज की स्थिति क्या होगी?

राजनीति के अपराधीकरण ने ही नहीं, बल्कि उसके संप्रदायीकरण ने भी हिंसक प्रवृत्तियों को उकसाया। धर्म और सांप्रदायिकता के नाम पर राजनीति करनेवाले बहुत पहले यह भाँप गए थे कि एक विशेष समुदाय के वोटों को इकट्ठा करने के लिए सांप्रदायिकता और अलगाववादी घृणा का वातावरण उत्पन्न करना उनके हित में है। अनुभव ने उन्हें यह भी बता दिया था कि जब-जब सांप्रदायिक हिंसा भड़कती है तो मतदाता धर्म और संप्रदाय के नाम पर अपने-आपको गोलबंद करने लगते हैं। इस अनुभव ने जितने सांप्रदायिक दंगे कराए, उनकी कोई गिनती नहीं है। पिछले पचास वर्ष की अवधि सांप्रदायिक दंगों के इतिहास से भरी पड़ी है। हर दंगे के बाद दंगा करानेवाले ये सफेदपोश पीड़ित जनता के बीच हमदर्दी दिखाते हुए या अखबारों में अपने मानवतावादी बयान छपवाते हुए देखे गए। ऐसी ही किसी स्थिति को ध्यान में रखकर शायद किसी ने कहा होगा—

घर ये बस्ती के भस्म हो गए जलते-जलते,
हाल अब पूछते हैं, आग लगानेवाले।

यहाँ हमारा उद्देश्य सांप्रदायिक या जातिवादी दंगों की समीक्षा करना नहीं है, केवल इस बात पर विचार करना है कि समाज में हिंसा की प्रवृत्तियाँ किन कारणों से बढ़ती हैं? जैसे कि हमने कहा कि हिंसा को बढ़ावा देने की जिम्मेदार वह प्रदूषित राजनीति भी है, जो आजादी के इन वर्षों में अपराध-जगत् और सांप्रदायिक संगठनों की ओर मुड़ गई। इस खतरे को अगर पहले चरण में ही रोक दिया जाता तो आगे चलकर यह विकराल रूप धारण न करता। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। ऐसा इसलिए नहीं हो सका कि इससे अपराध-जगत् या सांप्रदायिक संगठनों से

हाथ मिलाने वाले नेताओं के निहित स्वार्थ जुड़े थे। उनका अपना कोई साफ-सुथरा जनाधार तो था नहीं, सत्ता तक पहुँचने के लिए उन्हें जिन बैसाखियों की जरूरत थी, वह उन्हें इन्हीं माफिया सरगनाओं, सांप्रदायिक संगठनों से प्राप्त हो सकती थी। वे इन्हीं का सहारा लेकर सत्ता के गलियारों तक पहुँच सकते थे। संकीर्ण राजनीति के माध्यम से जैसे-जैसे जातीयता, क्षेत्रीयता एवं सांप्रदायिकता की भावनाएँ बढ़ीं, वैसे-ही-वैसे समाज के विभिन्न क्षेत्रों में हिंसा की घटनाएँ भी बढ़ीं।

विभिन्न प्रदेशों में अलगाववादी शक्तियाँ सिर उठा रही हैं। पंजाब लंबे अर्से तक हिंसा की आग में झुलसते रहने के बाद कुछ ही समय पहले शांत हुआ है। कश्मीर का हाल सबके सामने है। बिहार में हिंसा-प्रतिहिंसा का दौर समाप्त होने में नहीं आ रहा है। इन सब जगहों पर हिंसा का जो तांडव चल रहा है, उनमें सभी का दोष हम बाहरी शक्तियों पर नहीं डाल सकते। निष्पक्ष होकर सोचें और विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि इसके लिए क्षेत्रवादी, जातिवादी और सांप्रदायिक हिंसा भी कम दोषी नहीं है।

जब क्षेत्रीयता अभरती है तो राष्ट्रीयता का हास होता है। आपको याद होगा कि काँग्रेस ने सत्ता में आने के लिए एक बार मीजोरम के चुनाव में वहाँ के ईसाई समुदाय से राज्य में क्रिश्चियन सिद्धांतों पर आधारित सरकार बनाने का वचन दिया था। प्रश्न उठता है कि क्या किसी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक देश में किसी राज्य की जनता को ऐसा आश्वासन दिया जा सकता है? जब राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक दल ही इस स्तर की राजनीति करें और अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए जनता की धार्मिक भावनाओं का शोषण करने लगें तो स्वयं समझ में आ सकता है कि समाज किस दिशा की ओर जा रहा है?

ध्यातव्य है कि बुराई की व्यापकता बुराई को निंदनीय नहीं रहने देती। हमने देखा है कि घूसखोरी बढ़ते-बढ़ते आज एक ऐसी प्रथा बन गई, जो अब निंदनीय तो क्या रहती, एक अनिवार्य बुराई की तरह स्वीकार्य हो गई। समाज ने अप्रत्यक्ष रूप से यह मान लिया कि अब इससे छुटकारा मिलना संभव नहीं है। परिणाम सबके सामने है कि घूसखोरी अब छिपकर नहीं, खुलकर होती है। इससे पहले कि हिंसा समाज में इसी तरह जड़ पकड़े, हमें सचेत हो जाना चाहिए और उन कारणों के विरुद्ध निरंतर संघर्ष करने का वचन ले लेना चाहिए, जो हिंसा की संस्कृति को फैलाने का माध्यम बन रहे हैं।

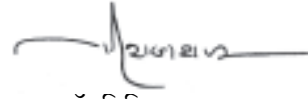
आज की परिस्थितियाँ भी कुछ अच्छी नहीं हैं। हर ओर भय है। असामाजिक तत्त्वों का खतरा है। आदमी असुरक्षित होता जा रहा है। मानसिक तनाव बढ़ रहा है। जान-पहचान के लोगों पर भी विश्वास उठता जा रहा है। स्थिति कुछ ऐसी बन गई है—

दस्तक पे दोस्तों के भी खुलते नहीं हैं दर,
हर वक्त एक अजीब-सी दहशत घरों में है।

इस दहशत से मुक्ति प्राप्त करनी होगी। अगर दहशत से मुक्ति नहीं पाई गई तो भय से पीड़ित यह समाज और भी ज्यादा रोगी हो जाएगा। इस स्थिति को बदलना होगा। अपराध और

राजनीति, क्षेत्रीयता और राजनीति, सांप्रदायिकता और राजनीति इन सबके अमानवीय गठजोड़ ने जिस वातावरण का निर्माण किया है, वह हिंसा की तरफ ले जाता है। इसे स्वस्थ करने के लिए विशेष प्रयास करने होंगे, क्योंकि इस वातावरण में ऐसे आपराधिक चरित्रों का निर्माण हो रहा है, जो वाणी से मधुर बोलते हुए भी आस्तीनों के भीतर कटारें छिपाए हुए हैं। उन्हें देखकर यही पंक्तियाँ याद आती हैं—

उसका कोई इक रूप अगर हो तो बताऊँ,
कल मेरा जो हमदर्द था, कातिल भी वही है।



डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल
संपादक

अनुक्रम

हिंसा का राजनीति से जुड़ा पहलू/ संपादकीय	9
हिंदी की बाल-कविता का इतिहास बचपन एक समंदर के बहाने/ कृष्ण 'शलभ'	15
सूरदास की कृष्ण-भक्ति/ रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'	49
समकालीन लघुकथा : शिल्प और भाषा/ डॉ० अशोक भाटिया	56
ममता कालिया कृत 'दुःखम सुखम' में व्यक्त समाज/ प्रो० शर्मिला सक्सेना	70
उच्च शिक्षा में सांस्कृतिक मूल्यों की अनिवार्यता/ डॉ० वीरेंद्रसिंह बर्त्वाल	77
रीतिकाल के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की साहित्येतिहास दृष्टि/ अमृतकुमार	82
रेखाचित्र-साहित्य में प्रभाकर माचवे का योगदान/ डॉ० गीतासिंह	87
भक्तिकालीन हिंदीकाव्य में सामाजिक समन्वय व समरसता : वर्तमान समाज की आवश्यकता/ डॉ० कविता मीणा	94
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : सरस्वती पत्रिका/ डॉ० मेवालाल यादव	100
मुक्तिबोध : रचना-प्रक्रिया में भावों का आभ्यंतर संपादन/ ओप्रकाश शर्मा	107
समकालीन आर्थिक परिदृश्य की दृष्टि से 'मय्यादास की माड़ी' एवं 'ढाई घर' का तुलनात्मक विश्लेषण/ प्रीति चौहान	116
व्यक्ति नाम : मानव-जीवन के विविध पहलुओं के प्रतिबिंब/ राकेशनारायण द्विवेदी	122
विश्वकल्याण एवं भारतीय ज्ञान-परंपरा/ डॉ० कविता भट्ट	129
शिवमंगलसिंह 'सुमन' के काव्य में प्रेमभाव/ डॉ० अलका प्रचंडिया	139
हिंदी हाइकु में जीवनमूल्यों के समसामयिक संदर्भ/ डॉ० कुँवर दिनेशसिंह	145
विष्णु प्रभाकर के नाटकों में चित्रित मनोवैज्ञानिक समस्या/ डॉ० पोपट विट्ठल कोटमे, प्रा० दादासाहेब नारायण डांगे	153
मंजुल भगत के साहित्य में नारी के विविध रूप/ प्रो० सुचित्रा मलिक, मोना शर्मा	161
विद्यापति के काव्य के भावपक्ष के सौंदर्य पक्ष का विश्लेषण 'विद्यापति वैभव' के संदर्भ में/ डॉ० दीप्ति	164

हिंदी बालसाहित्य में महिला साहित्यकारों का योगदान/ साधना यादव	169
सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों को चुनौती देता आत्मकथात्मक उपन्यास :	
दोहरा अभिशाप/ डॉ० मधुछंदा चक्रवर्ती	181
राजेन्द्र नागदेव के काव्य में समकालीन भावबोध/	
कैलास श्रीधर भामरे, डॉ० महेंद्र रघुवंशी	191
ललित निबंधों की परंपरा में डॉ० दुबे के ललित निबंधों का अध्ययन :	
'कोई खिड़की इसी दीवार से' के परिप्रेक्ष में/	
डॉ० शिवाजी देवरे, प्रा० स्वाति वसंतराव शेलार	196
21वीं शती के पौराणिक नायिका-प्रधान हिंदी-उपन्यासों का	
सांस्कृतिक योगदान/ रचना	204
'अंधायुग' और 'चक्रव्यूह' में मानवीय अस्तित्व का सवाल/ डॉ० वंदना सिंह	212
21वीं सदी के कवि और उनकी कविता/ मीनाक्षी	218
भारत में भाषाशिक्षण : एक विचार/ डॉ० कमल हरनाल	222
व्यंग्य-विधा में सामाजिक चेतना/ डॉ० अशोककुमार	227
राही मासूम रजा के उपन्यासों में शैलीवैज्ञानिक संदर्भ/	
प्रो० डॉ० वी०एन० भालेराव, अरुण अशोक सोनकांबळे	232
स्मृतियाँ हमारे जीवन की अनमोल निधि/ अनिता ललित	236

समीक्षा समिति

- प्रो० हरिमोहन, कुलपति, जे०एस०विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोशाबाद) उ०प्र०
 प्रो० आदित्य प्रचंडिया, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट,
 दयालबाग, आगरा (उ०प्र०)
 प्रो० रामसजन पांडेय, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, मीरपुर, रेवाड़ी (हरियाणा)
 प्रो० अनिलकुमार जैन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
 प्रो० हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययन शाला, विक्रम विश्वविद्यालय,
 उज्जैन (म०प्र०)
 प्रो० शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ०प्र०)
 प्रो० चंद्रकांत मिसाल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस०एन०डी०टी० महिला विद्यापीठ, पुणे (महा०)

हिंदी की बाल-कविता का इतिहास बचपन एक समंदर के बहाने

कृष्ण 'शलभ

(हिंदी बाल-कविता में बच्चों को केंद्र में रखकर उन्नीसवीं सदी से इक्कीसवीं सदी तक के कालखंड में असंख्य कविताएँ लिखी गईं। बेहद मीठी चटक-मटक वाली, जो बचपन की संजीवनी भी हैं, खिलौने भी। नीरजा स्मृति बालसाहित्य न्यास, सहारनपुर के सहयोग से मेधा बुक्स, एक्स 11, नवीन शाहदरा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'बचपन एक समंदर' में इस समूची धारा से बाल-कविताएँ संकलित की गई हैं। इस संकलन के पीछे उद्देश्य यह रहा है कि एक ही स्थान पर संपूर्ण कालखंड की चर्चित और महत्वपूर्ण कविताएँ संकलित होकर पाठकों, शोधार्थियों और बच्चों तक पहुँचें। इस संकलन का संपादन श्री कृष्ण शलभ ने किया। दुर्भाग्य से वे अब हमारे बीच नहीं हैं। 'बचपन एक समंदर' पुस्तक की भूमिका के रूप में उन्होंने हिंदी की बाल-कविता पर विस्तार से चर्चा की। उसी भूमिका को हम यहाँ प्रस्तुत करते हुए गौरव का अनुभव कर रहे हैं।)

बाल-कविता बचपन का प्रतिरूप है। बचपन जीवन की सबसे मीठी और सरल अवस्था यानी सारी अवस्थाओं में बचपन की बादशाहत सचमुच सबसे बड़ी है। बच्चा हर काल में बच्चा रहा है। बच्चा रहेगा। बचपन को चाहिए उसका अपना स्वर, अपना भाव-बोध, अपनी उत्फुल्ल चंचल अनुभूतियाँ, अपना वास्तविक और काल्पनिक विराट संसार। बस इसी की अभिव्यक्ति बाल-कविता है और उसकी आत्मा भी। वस्तुतः बाल-कविता है ही एक जीवंत बच्चा, जो कभी चुलबुला, कभी हठीला, कभी प्रश्नातुर, जिज्ञासु दिखाई देता है। हर बार एक अलग रंग, हर बार एक नई छवि।

'कविता तो छुटपन से ही हमारे भीतर कहीं मौजूद होती है। नसों में बहते लहू की तरह। जन्म के बाद से ही आदमी कविता, अभिनय और संगीत की ऐसी दुनिया में बार-बार गुजरता है, जहाँ जीवन कई रंगों में दिखाई देता है। बच्चों की तुतलाहट में कविता न जाने कितने रंगों में आकार लेती है। बच्चा तुतलाकर कुछ बोलता है तो वह कविता ही तो होती है जिसे सुनना अच्छा लगता है। उसका रोना भी एक अलग तरह की कविता होती है और उसकी भाषा को माँ ज्यादा समझती है। वह जानती है कि बच्चे के इस रोने का मतलब क्या होता है। वह तुमकता है तो उसे क्या चाहिए और तुतलाकर कुछ बोलता है तो उसमें कौनसी जिद्द होती है।'¹

साहित्य में कविता हो या कहानी या फिर नाटक, उसके बीज बालकों में बचपन से ही बो दिए जाते हैं, जो बाद में अवस्था और स्थितियों के अनुसार विकसित होते चलेते हैं। बच्चा बचपन में सबसे पहले कविता ही सुनता आया है। माँ की मीठी लोरी के रूप में कविता ही है, जिसकी लय से उसका रिश्ता बन जाता है। धीरे-धीरे कविता उसके लिए खिलौना बन जाती है। यह

खिलौना भी होती है, आनंद भी और अप्रत्यक्ष संस्कार की ध्वनियाँ लिए जीवन-लय की एक विराट यात्रा भी।

कौन है हिंदी बाल-कविता का प्रथम सृष्टा। यह विचार और चिंतन निरंतर होता रहा है। इसके सहारे कुछ जगनिक (1100-1200) के 'आल्हाखंड' से, कुछ अमीर खुसरो (1283-1328) और कुछ महाकवि सूरदास (1478-1583) के कृष्णलीला पदों व तुलसीकृत काव्य (1532-1623) से भी इसके प्रादुर्भाव के सूत्र जोड़ते हैं। इस प्रसंग में श्रद्धेय निरंकारदेव सेवक ने अपनी पुस्तक 'बालगीत साहित्य' में 'हिंदी बालगीत साहित्य के इतिहास की भूमिका' के अंतर्गत उल्लेख किया है—'ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों में रचे गए 'जगनिक' के आल्हाखंड के कुछ अंश ऐसे हैं, जिन्हें ग्रामीण बच्चे आज तक गाकर सुनाते पाए जाते हैं। 'आल्हाखंड' वीररस की एक ऐसी कविता का नाम है, जिससे सुननेवाले लोग आवेश में अपने को रोक न पाकर आपस में स्वयं ही लड़ने लगते थे। बालश्रोताओं के मन पर भी इसका प्रभाव पड़ता होगा। इसीलिए यह स्वाभाविक ही था कि उसके कुछ अंशों को उन्होंने अपने मनोरंजन के लिए अपने काव्य के रूप में लिया है।”

'सेवकजी के इस अभिमत में कविता के रचना-अंशों की स्पष्टता नहीं है। वे कौन से उद्धरण हैं, जिन्हें बच्चों की कविता (बाल-कविता) कहा जा सकता है। इसका आधार मात्र कविता के साथ संयुक्त होनेवाले बाह्य उपकरण स्वर, लय, गायन हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संगीत का प्रभाव हर उम्र पर सीधे पड़ता है और पूर्ण रूप से आनंदित भी करता है। संगीत में सबसे अधिक आनंद बच्चे को आता है। आल्हा के पाठ और लय-प्रवाह सुनिश्चित हैं। उसके ध्वन्यात्मक प्रभाव से सभी आनंदित हो सकते हैं। मगर संगीत को अलग कर देने पर पाठ-प्रक्रिया के अंतर्गत वे कौनसे काव्यांश हैं, जिन्हें बाल-कविता के रूप में बच्चों की कविता माना जाए? इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख सेवकजी ने अपनी धारणा में नहीं किया है।

वास्तविकता यह है कि 'आल्हा' में बाल-कविता जैसा कुछ भी नहीं है। केवल स्वर-संगीत, ध्वनि-प्रवाह से प्राप्त आनंद के कारण तो किसी कृति या उद्धरणों को, जो वैसे भी अज्ञात हैं, बच्चों की कविता नहीं कहा जा सकता। इतिहास का निर्माण साक्ष्य और उसकी पुष्ट प्रामाणिकता के सहारे ही होता है। कल्पनाएँ इतिहास का निर्माण नहीं करतीं। केवल बाल-कविता के इतिहास को अधिकाधिक प्राचीन सिद्ध करने मात्र की भाव कल्पना के आधार पर उसके उद्भव का स्रोत ऐसे कालखंड में प्रस्थापित करने का प्रयास करना, जहाँ हिंदी बाल-कविता जैसी कोई चीज है ही नहीं, कदाचित्त उपयुक्त और सर्वमान्य न होगा।

जगनिक के बाद हिंदी के दूसरे कवि अमीर खुसरो (1283-1328) को लें, जिन्होंने पहिलियाँ और मुकरियाँ लिखीं, जो शताब्दियों से बच्चों का मनोरंजन करती आ रही हैं। उनमें कुछ ऐसी बालोचित सरल भावनाओं की अनुरूपता है कि बच्चे यह समझ ही नहीं सकते कि उनकी रचना कवि ने उनके लिए नहीं की थी। यद्यपि ये बच्चों और बड़ों में समान रूप से लोकप्रिय हैं परंतु यह भी सत्य है कि इनकी रचना कवि ने बच्चों को केंद्र में रखकर नहीं की है। इनके सृजन का उपजीव्य बच्चा नहीं है।

'हिंदी में वीरगाथाकाल के बाद भक्तिकालीन कुछ कवियों ने अपने इष्टदेवों की भक्ति में तल्लीन होकर काव्य-रचना की है। इनमें तुलसीदास जहाँ राम और उनके भाइयों के बालरूप का

वर्णन करते हैं, वहीं यह भी कह देते हैं 'अवधेश के बालक चार सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरें'! इससे स्पष्ट है कि उनका बाल रूप वर्णन इष्ट को मन में स्मरण करने के लिए ही था।¹³ 'शिशुओं की मानसिक गतिविधियों और चेष्टाओं का जितना स्वस्थ चित्रण कृष्ण के शिशु जीवन को आधार बनाकर सूरदास ने किया है, वैसा वात्सल्यपूर्ण काव्य विश्वसाहित्य में विरल है। किंतु सूर के पद बालकों के लिए नहीं, भक्तों के लिए रचित हैं।'¹⁴

यहाँ लब्धप्रतिष्ठित कवि और हिंदी बाल-कविता के इतिहास-लेखक प्रकाश मनु का कथन भी द्रष्टव्य है—'यों तो हिंदी बाल-कविता के शुरुआती पगचिह्न बीसवीं सदी की शुरुआत से ही नजर आने लगते हैं—और कुछ लोग तो इससे भी पहले भारतेंदु या फिर सूर के वात्सल्य-वर्णन में हिंदी की बाल-कविता का उत्स देखते हैं। 'मैया मेरी, मैं नहीं माखन खायो' या 'मैया कबहूँ बढ़ेगी चोटी' में भी निःसंदेह बालमन की सरल जिज्ञासा के अक्स हैं। अमीर खुसरो की पहेलियाँ जब 'एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औँधा धरा' जैसे कौतुक-संसार की निर्मिति करती हैं तो वे बच्चे के काफी नजदीक होती हैं, पर जहाँ तक आधुनिक हिंदी बाल-कविता की संभावनाभरी शुरुआत और उसकी निरंतर प्रवाहमान परंपरा की बात है, तो वह हम मोटे तौर से हिंदी बाल-कविता की शुरुआत बीसवीं सदी के प्रारंभ से मान सकते हैं।'¹⁵

इस प्रसंग में कुछ उल्लेखनीय तथ्यों की ओर नजर डालना उपयुक्त होगा, जो हिंदी बाल-कविता को सृजन और प्रकाशन की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी से जोड़ते हैं। भारत में अठारहवीं शताब्दी 1757 में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई। कंपनी की स्थापना के बाद देश के शिक्षा-ढाँचे में परिवर्तन का एक नया दौर प्रारंभ हुआ। शिक्षा-प्रणाली के बदलने और प्रारंभ होने पर पाठ्य पुस्तक समितियों का गठन हुआ और आवश्यक प्रक्रिया के अनुसार पाठ्य-पुस्तकों की रचना प्रारंभ हुई। सन् 1840 (उन्नीसवीं शताब्दी) में बच्चों की रीडरों के प्रकाशन होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

हिंदी बाल-कविता के अतीत को खँगालने और प्रकाश में लाने की गवेषणात्मक प्रक्रिया में 'भारत मित्र' पत्र अत्यधिक सहायक है। कलकत्ता से प्रकाशित इस पत्र के संपादक बालमुकुंद गुप्त जी थे।

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा प्रारंभ शिक्षा-पद्धति की माँग के अनुसार ही उन्नीसवीं शताब्दी में बच्चों के पाठ्यक्रम के लिए 'हिंदी शिक्षावली' का प्रकाशन हुआ। इसके तृतीय भाग में बालमुकुंद गुप्त की एक कविता 'गिलहरी का ब्याह' संकलित की गई है, जो उनकी पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'खिलौना' से ली गई थी। इस पर आलोचना का जो प्रसंग सामने आता है वह रोचक तो है ही, आज के दौर में उन्नीसवीं शताब्दी की हिंदी बाल-कविता की आलोचना स्थिति को लेकर बेहद प्रेरक भी है।

बालमुकुंद गुप्त की बाल-कविता 'खिलौना' का प्रकाशन उन्नीसवीं शताब्दी में हो चुका था। क्योंकि हिंदी शिक्षावली की प्रत्यालोचना 29 जनवरी सन् 1900 के 'भारत मित्र' में हुई। इससे पूर्व पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा इसकी आलोचना 1899 में हो चुकी थी, जो मर्चेन्ट प्रेस रेलीगंज कानपुर से मुद्रित हुई थी।

बाल-कविता के बाल सुलभ मिजाज और संरचना की दृष्टि से बालमुकुंद गुप्त की कविता 'गिलहरी का ब्याह' की पंक्तियाँ, जो बच्चों की भावनाओं से सटकर रची गई है, गुप्तजी

की सृजना-सामर्थ्य का पता देती हैं। इस कविता का प्रारंभ ही बाल-कविता के स्वर को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है—

ढम-ढमा-ढम ब्याह गिलहरी का है सुनिए आज।

आसन पोथी लेकर चलिए, पंडित जी महाराज।⁶

निरंकारदेव सेवक ने गुप्तजी की अन्य कृतियों 'खेल-तमाशा' तथा 'स्फुट कविताएँ' नामक संकलनों का भी उल्लेख किया है।⁷

काफी खोजबीन करने पर भी 'खिलौना' और 'खेल-तमाशा' की कोई प्रति नहीं मिल सकी है। इस संदर्भ में स्व० बालमुकुंद गुप्त जी के पौत्र श्री हरिकृष्ण गुप्त कलकत्ता से लंबा पत्राचार और संपर्क भी किया गया। यदि 'खिलौना' और 'खेल-तमाशा' की कोई प्रति या कुछ पन्ने ही उपलब्ध हो जाते तो इन पुस्तकों में प्रकाशित गुप्तजी की उन्नीसवीं शताब्दी की कुल 48 बाल-कविताएँ आज प्रकाश में आ जातीं। अफसोस है कि किस तरह नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के दुर्लभ दस्तावेजों, पुस्तकों, पांडुलिपियों और रचनाओं के अनुरक्षण की तरफ से आँखें मूँदे बेफिक्र रही। शायद इसे पता ही नहीं रहा कि इनका कितना ऐतिहासिक महत्त्व होता है। काल के सतत प्रवाह में ऐसी उपेक्षा चिंतनीय है। हिंदी बाल-कविता के प्रारंभिक दौर की त्रयी (बालमुकुंद गुप्त, श्रीधर पाठक, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') के शेष दो रचनाकारों की चर्चा भी इसी परिप्रेक्ष्य में किया जाना प्रासंगिक और जरूरी है। श्रीधर पाठक और 'हरिऔध' ऐसे ही दो समर्थ कवि हैं।

श्रीधर पाठक (1860-1928) आगरा (उ०प्र०) जनपद के जोधरी में जनमे। श्रीधर पाठक हिंदी बाल-कविता के सर्वाधिक चर्चित और प्रणम्य रचनाकारों में हैं। निरंकारदेव 'सेवक' ने उन्हें हिंदी बाल-कविता का प्रथम कवि माने जाने का अभिमत इस प्रकार प्रकट किया है—'हिंदी में पहला बालगीत कब लिखा गया, यह तो कोई खोज करके ही निश्चित बता सकता है। प्रमुख बाल-गीतकार कवियों में पं० श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और सुखराम चौबे 'गुणाकर' समकालीन थे। इनमें से पं० श्रीधर पाठक और बालमुकुंद गुप्त ने सबसे पहले लगभग एक ही समय में बच्चों के लिए भी कविताएँ लिखना प्रारंभ किया था। श्रीधर पाठक बड़ों के एक सुविख्यात कवि होने के साथ बच्चों के कवि के रूप में प्रकाश में आए। प्राप्त जानकारी के अनुसार उन्होंने ही सबसे पहले स्वतंत्र रूप से मनोरंजक बालगीत लिखे। इसलिए उन्हें ही हिंदी का पहला बालगीतकार कवि माना जा सकता है।'⁸

सेवकजी के कथन में प्राप्त जानकारी के आधार-बिंदु क्या हैं, इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह सत्य है कि श्रीधर पाठक त्रयी के चर्चित रचनाकार रहे हैं। पाठकजी की बाल-कविताएँ बाल-अनुभूतियों और उनके सरल, सौम्य विन्यास के कारण चकित करती हैं। पाठकजी ने बच्चों के लिए कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैना, कोयल, चकोर, मोर, तीतर जैसे सुपरिचित विषयों पर कविताएँ लिखी हैं। पाठकजी द्वारा रचित ये बाल-कविताएँ 'मनोविनोद' के बालविलास खंड स्फुट कविता-संग्रह में प्रकाशित हैं। इस खंड में कुल आठ कविताएँ प्रकाशित हैं। कविताओं के साथ कवि ने रचना-सृजन का स्थान व रचना-तिथि देकर सृजन-समय को भी स्पष्ट कर दिया है। प्राप्त विवरण निम्नलिखित है—

क्र०सं०	कविता	स्थान	सृजन-तिथि
1.	उठो भई उठो	प्रयाग	08.08.1906
2.	धूप आ गई	प्रयाग	08.08.1906
3.	बिल्ली के बच्चे	प्रयाग	08.08.1906
4.	मैना	नैनीताल	26.07.1909
5.	चकोर	नैनीताल	16.07.1909
6.	मोर	नैनीताल	12.08.1909
7.	कुक्कुटी	नैनीताल	12.08.1909
8.	तोता पढ़ो	नैनीताल	14.05.1910 ⁹

‘मनोविनोद’ में प्रकाशित इन कविताओं के अतिरिक्त इनकी दो कविताएँ ‘तीतर’ व ‘गुड्डी लोरी’ के प्रकाशन का विवरण भी ‘बालसखा’ के अंकों से प्राप्त होता है।¹⁰

श्रीधर पाठक की सर्वाधिक चकित और सम्मोहित करनेवाली कविता है, ‘बाबा आज देल छे आए/चिज्जी-पिज्जी कुछ न लाए/बाबा क्यों नहीं चिज्जी लाए/इतनी देली छे क्यों आए?’ निश्चय ही यह स्वच्छंद प्रवृत्ति की कविता पाठकजी की पूर्व-प्रकाशित रचनाओं के बाद रची गई कविता है। ऐसी ही स्थिति अन्य उल्लेखनीय कविताओं ‘तीतर’ और ‘गुड्डी लोरी’ की भी है। विचारणीय यह है कि यदि ये दोनों कविताएँ 1910 तक की समयावधि में रची गई होतीं तो निश्चय ही ‘स्फुट कविताओं’ के साथ प्रकाशित पुस्तक ‘मनोविनोद’ के बालविलास खंड में प्रकाशित होतीं। श्रीधर पाठक की ‘मनोविनोद’ में, जो 1917 में अंकार प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई, कुल 36 कविताएँ हैं, जिनमें पूर्व की कविताएँ भी शामिल हैं, इनके साथ प्राप्त परिस्थितिजन्य साक्ष्य स्पष्ट संकेत करते हैं कि पाठकजी की तमाम कविताएँ 1906 व उसके बाद की हैं, जिनकी गणना पूर्व रचनाओं की भाँति बीसवीं सदी में ही किया जाना समीचीन होगा।

श्रीधर पाठकजी की एक पुस्तक ‘बाल भूगोल’ का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जिसमें बच्चों को भूगोल पढ़ाने के उद्देश्य से तत्कालीन पाठ्यक्रम की आवश्यकता के अनुरूप लिखी छोटी-छोटी कुछ कविताएँ हैं। ये कविताएँ पूर्णतः बच्चों के मनोभाव और बाल-संसार से बाहर की हैं, क्योंकि स्पष्ट है कि इन्हें बच्चों को शिक्षित करने के सरोकार के अंतर्गत रचा गया है। यही कारण है कि इनमें ‘बाबा आज देल छे आए’ वाला बच्चा पूरी तरह अनुपस्थित है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’ (1865-1947) द्विवेदीयुग के बड़े कवियों में से हैं। हरिऔधजी ने पर्याप्त बालसाहित्य का सृजन किया है। हिंदी बालसाहित्य के प्रारंभिक दौर में हरिऔध का नाम शीर्ष पर है। यह उल्लेखनीय है कि हरिऔध जिस समय ‘प्रियप्रवास’ की रचना कर रहे थे, उस समय भी उनकी फुटकर कविताएँ ‘सरस्वती’, ‘मर्यादा’ आदि पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित हो रही थीं।¹¹

हरिऔध युगद्रष्टा महाकवि थे। आजकल तो बालसाहित्य की पत्रिकाएँ हैं और प्रभूत साहित्य उपलब्ध है, पर हरिऔध ने सत्तर वर्ष पूर्व ही इस दिशा में तीन संग्रह प्रकाशित किए— ‘फूल पत्ते’ (1934), ‘अच्छे अच्छे गीत’ (1934), ‘बाल-कवितावली’। इन संग्रहों की रचनाएँ और सोच कि ‘शिशु’ और ‘बाल’ ही भव्य भारत की नींव हैं, ऐतिहासिक महत्त्व की थी।¹²

हरिऔधजी के अन्य संकलनों ‘बाल-विभव’, ‘पद्य-प्रसून’, ‘चंद्रखिलौना’, ‘खेल-तमाशा’

का उल्लेख भी मिलता है। हिंदी बाल-कविता की प्रारंभिक समकालीन त्रयी में हरिऔधजी ने उपर्युक्त उल्लेख के अनुसार पर्याप्त साहित्य-सृजन किया।¹³ डॉ॰ कन्हैयासिंह के कथन कि 'प्रियप्रवास' के रचनाकाल के समय में ही 'हरिऔध' जी की फुटकर बाल-कविताएँ (रचनाएँ) 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित हो रही थीं' के परिप्रेक्ष्य में यह प्रमाण उपलब्ध है कि 'सरस्वती' में उनकी कोयल (मार्च 1906) बालविनोद (फरवरी 1908), भोर का उठना' (जून 1955), लोरियाँ (जून 1916), बाल (नवंबर 1917) कविताएँ प्रकाशित हुईं।¹⁴

'सरस्वती' के अतिरिक्त भी हरिऔधजी की कतिपय बाल-कविताएँ 'चुगली' (बाल सखा 1918), खिला रहे, फूले फूलों सा/वन आँखों का तारा (बालक अगस्त 1931) देखने को मिलती हैं। हरिऔधजी की एक पुस्तक 'काव्योपवन' (जिसका प्रकाशन खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना से हुआ है) अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस पुस्तक का उन्नीसवाँ प्रखंड 'बालविनोद' है, जिसकी भूमिका हरिऔधजी ने 1907 के अक्टूबर माह में लिखी है।

बालविनोद में संकलित कविताओं पर 'हरिऔध शती स्मारक ग्रंथ' के अंतर्गत की गई टिप्पणी महत्वपूर्ण है—'इसमें खड़ीबोली की पाँच बालोपयोगी रचनाएँ हैं—भगवान की बड़ाई, गिलहरी, बंदर, बहन, कोयल। ये रचनाएँ बाद में अन्य संग्रहों में भी ले ली गई हैं। 'काव्योपवन' में संकलित हो जाने से इतना पता अवश्य लग जाता है कि हरिऔधजी बहुत पहले से ही शिशुकाव्य के प्रणयन में दत्तचित हो गए थे और वे इसमें सफलमनोरथ भी हुए।'¹⁵

लोकगीत और बाल-कविता

बाल-कविता की परंपरा का एक स्रोत लोकधर्मी बालगीत भी है। एक अर्थ में यह श्रुति साहित्य है। ये गीत न जाने कब किस-किस कंठ से फूटे, होंठों चढ़े और सृष्टि की विराट लय में बँध गए। ये बीते कल में भी थे, आज भी हैं और इसी प्रकार गतिमान होते हुए समय के प्रवाह में कल भी रहेंगे, क्योंकि ये विराट लोक की अक्षय संपदा हैं। बहते रहना ही इनकी जीवंतता है। इनमें परंपरा है और युगबोध के आनंदातिरेक की एक निस्सीम धार भी है। बच्चों के इस लोक-संसार में असंख्यक रचनाएँ मिलती हैं, जिन्हें बच्चों ने अपने आनंद और इच्छित सरोकारों के साथ बनाया, गाया और निरंतर दोहराया है। मैं जब बचपन में था, तब स्कूल में बच्चे गाते थे और उछल-उछल कर गाते थे—'ग्यारह बज गए, बारह बज गए, पूरा बज गया एक/मास्टर जी तुम छुट्टी दे दो भूखा मर गया पेट!' निश्चित ही इसमें भूख के कारण बच्चों की छुट्टी का भोला-सा सरोकार निहित है, पर इसकी भाषा बेहद सीधी-सादी! मन से निकले, मन में उतरे। बच्चों का भाव-संसार कितना आनंदमय और विलक्षण होता है। जहाँ कल्पनाएँ स्वयं ही कुछ ऐसा निर्मित कर लेती हैं, जो बड़ों के भाव-संसार में कदाचित संभव ही नहीं। अब देखिए, न जाने कबसे चला आ रहा यह लोकगीत—'हरा समंदर गोपी चंदर/बोल मेरी मछली कितना पानी' खेल-खेल में कैसा सवाल खड़ा करता है? इसमें अमूर्त भी मूर्तमान है। मछली बने बच्चे से समंदर के पानी की सहज जाँच-पड़ताल। एक ऐसी भली-भली सी जिज्ञासा कि बड़ा सौ बार सोचे और सोचता ही रह जाए। पर बच्चे की प्रबल जिज्ञासा! बच्चा पूछता है, हर बार पूछता है पूरी ठसक के साथ—'बोल मेरी मछली कितना पानी' अब मछली भी भला कब तक चुप रहे? खेलना उसे भी है। चुप तो रह नहीं सकता, आखिर बच्चा जो ठहरा। बोलना उसकी फितरत है। बोल पड़ता है समंदर में खड़ा बच्चा, 'इतना पानी, इतना पानी!' एक इशारा होता है, जो घुटनों से नीचे शुरू

होकर धीरे-धीरे बढ़ता चलता है। खेल चलता रहता है और अंत में सिर से ऊपर हाथ उठाते हुए अगम जल....इतना पानी, इतना पानी....कैसी अद्भुत चपलता! ऐसी चुस्त चपलता ही लोकगीतों का सौंदर्य है। बच्चों के ऐसे ही असंख्यक लोकगीत लोक में प्रचलित हैं। पर यहाँ कुछ की ही चर्चा इस दृष्टि से कर रहा हूँ कि यह बालकविता के बीजबिंदु की चर्चा सी है, जो मूल रूप से बाल-कविता की एक आरंभिक यात्रा-सी ही है।

स्कूल जाने के लिए बच्चे को तख्ती पोतकर तैयार करनी है। पोतनी भी है, सुखानी भी। बच्चा है कि चुप कैसे बैठे! चुप्पी तो उसे सुहाती ही नहीं। बस ऐसे में हाजिर है कविता समय की अरज के साथ। हाँ, एक बात और! यहाँ कविता के रचाव को देखें। उसकी शैल्पिक शास्त्रीयता में न झाँकें, क्योंकि यह बच्चे की अनगढ़ बतकही है—

‘सूख-सूख पट्टी/चंदन गट्टी/राजा आया/महल चुनाया/झंडा गाड़ा/बजा नगाड़ा/रानी गई रूठ/पट्टी गई सूख’। अब रानी के रूठने और तख्ती के सूखने का परस्पर भले ही कोई संबंध न हो, पर इससे क्या! बच्चे का प्रयोजन तो कुछ गाना है, गुनगुनाना है और मस्ती में झूम-झूम जाना है। ऐसे ही—‘शांति मन मानती/कहना क्यों नहीं मानती/पंडित जी बुलाने आए/बस्ता क्यों नहीं बाँधती!’ एक से एक बेहतरीन लोकगीत।

‘चंदामामा दूर के/पुए पकाए बूर के’ और ‘प्याली गई टूट मुन्ना गया रूठ’ के साथ मुन्ना को मनाने का जतन। गजब की सहजता फिर आटे-बाटे, चाँई-माँई, अक्कड़-बक्कड़, जैसे चर्चित लोकगीतों के बीच खड़ा एक चर्चित गीत—‘बरसो राम धड़ाके से, बुढ़िया मर गई फाके से!’

लोक का आनंद जनता की बोली में है। जनता को मजा अपनी बोली में ही आता है। यहाँ इस गीत में बादल का बरसना नहीं, ‘राम’ का बरसना है और धड़ाके की अर्थ-व्यंजना में शब्द की देशज टटकेवाली अर्थ की लय का गांभीर्य! कविता को भवानी भाई (भवानीप्रसाद मिश्र) ने ‘मंगल’ कहा है! लोक की कविता हो और उसमें मंगल न हो, यह कैसे हो सकता है। इस लोकगीत में बच्चे ‘राम’ (बादल) से बरसने का अनुरोध भी लोकमंगल के लिए ही करते हैं, क्योंकि उन्हें बुढ़िया के भूखों मर जाने की चिंता जो सता रही है, जल बरसेगा तो फसल उगेगी। कैसे मंगल-भाव के अक्षत हैं इस लोकगीत में। समय की ध्वनियों को भी इन लोकगीतों ने अपना विषय बनाया है।

लोक की वाचिक परंपरा में लय की विराट पहचान है, जो संपूर्ण जीवन की पहचान है। इस लय से बँध आज का गीत भी अपने को समृद्ध करता है। उस पर आश्रित न होकर भी उसके रस से शक्ति ग्रहण करता है। यही बात हिंदी बाल-कविता पर भी पूरी तरह लागू होती है। हिंदी बाल-कविता में लोक लय का यह जादू अपने पूरे दमखम के साथ उपस्थित दिखाई देता है।

हिंदी के मूर्धन्य बालकवि कन्हैयालाल ‘मत्त’ ने लोकरंगों का उस्तादाना ढंग से प्रयोग किया है। ‘आटे-बाटे दही चटाके/सोलह सोलह सबने डाटे/डाट डूटकर चले बजार/पहुँचे सात समंदर पार/सात समंदर बारी-बारी/धूम-धाम से चली सवारी’ की लय मुकम्मल देशी टटके वाली लोकलय है। सैर-सपाटा (आरसीप्रसाद सिंह) ‘हाथी हाथी बाल दे’ ‘चल मेरी ढोलकी ढमाल ढमाल’ या फिर ‘पूसी बिल्ली’ और ‘हाथी-घोड़ा पालकी’ (द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी) ‘साग पकाया’ (सत्यप्रकाश कुलश्रेष्ठ) टिली-लिली, चाँई माँई खेलो, कंतक थैया (राष्ट्रबंधु) ‘प्यासी सोन चिरैया बादल पानी दे’ (रामसेवक शर्मा) ‘अगड़म बगड़म’ (दिविक रमेश) चिक्कड़ बम

भई चिक्कड़ बम (देवेंद्रकुमार देव) चकई के चकदुम (रमेश आजाद) में लोकलय की पारंपरिक अनुगूँज ही अपने सहज स्फूर्त स्वभाव में प्रतिध्वनित हुई है।

रमेश तैलंग हिंदी बाल-कविता के ऐसे सामर्थ्यवान कवि हैं, जिनके यहाँ कविता के सारे जादू एक साथ दिखाई पड़ते हैं। तैलंग के यहाँ लोकलय अपने रंग का अनूठा जादू लिए है, जो सदियों के लोकस्वर और बिंबों को बच्चे के संदर्भों से जोड़ती है। सचमुच आश्चर्य होता है कि लोकधुन और लोकरंग में बच्चों की आधुनिक कविता का एक ऐसा भी रूप रंग हो सकता है। ग्राम्य रस-रंग में चक्की की अनुगूँज से उठती उभरती है। तैलंग की कविता—‘चक-चक, चकर-चकर चक्की चले/हो रामा, हो रामा, हो रामा’ और जब यह कविता डोलती-बोलती माँ की कर्मशीलता पर आ टिकती है तो क्या कहना—‘पंछी का दाना, ढोरों की सानी/चिता जगत की माँ में समानी/माँ तेरे बल से गिरस्थी चले/हो रामा हो रामा हो रामा!’ की इस धुन के साथ बार-बार चक्की की अनुगूँज पर लौटता स्वर चक्की के पूरे अंतर्लोक को छलछला कर मूर्त करता है। यहाँ ‘गृहस्थी’ को ‘गिरस्थी’ कहने का देशी टटका जन बोली से ही आया है। इसे तैलंग बखूबी जान सके हैं। यही लोक की शक्ति है और कवि की लोक के प्रति अनुरक्ति भी। तैलंग की ‘निक्का पैसा’ भी ऐसी ही रचना है जिसके प्राण-स्वर लोकलय से निःसृत हैं।

हिंदी बाल-कविता में लोकलय, लोकछवियों और लोकलुभावन शक्ति से ओतप्रोत ऐसी असंख्यक रचनाएँ हैं, जो लोक के प्रति हिंदी बालकवियों के अटूट जुड़ाव का पता देती हैं। ऐसी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत संकलन में भी संगृहीत हैं।

बालगीत एक चिंतन

हिंदी बाल-कविता की धारा में न जाने कब और कैसे एक जबरदस्त दुर्घटना घटित हुई कि आँख मूँदकर पिछली सारी परंपरा की अनदेखी करते हुए छंद के विविध रूपोंवाली रचनाओं को एक नाम दे दिया गया ‘बालगीत’। इतना ही नहीं, ऐसी रचनाएँ भी, जिनका ‘गीत’ से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है, को भी बालगीत कहा जाने लगा। कवियों से लेकर संपादकों तक ने इस भेड़चाल में सक्रियता से अनुगमन किया। विचलन की यह अंधी स्थिति चिंतनीय है। यदि यह रास्ता उपयुक्त होता तो पुराने कवियों श्रीधर पाठक, कामताप्रसाद ‘गुरु’, अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’, सुखराम चौबे ‘गुणाकर’ आदि भी इसे अपनाते। इनमें से किसी ने भी अपनी बच्चों के लिए लिखी जानेवाली बाल-कविताओं को बालगीत नहीं कहा और न अपनी बाल-कविता पुस्तकों के नाम ‘बालगीत’ विशेषण देकर रखे। ऐसा कदाचित इस कारण से ही हुआ कि ये सभी रचनाकार रचना-विधान के बिंदु पर स्पष्ट रहे और अपनी विज्ञता के कारण ऐसा घालमेल किए जाने के पक्षधर नहीं रहे। कविता और गीत का शैल्पिक ढाँचा (फारमेट) अलग-अलग है। गीत का केंद्रीय भाव उसके मुखड़े में ही केंद्रित होता है और संपूर्ण गीत में उसी केंद्रीय भाव को भिन्न-भिन्न प्रयोगों से विस्तार दिया जाता है। गीत, कविता का सबसे मुश्किल, सघन और लोकप्रिय माध्यम है। गीतिकाव्य की आत्मा है। भाव है, जो एक साथ गीत में फूट निकलता है। छंद गीत-रचना की आँख है। दरअसल, छंद ही शब्दों को मूर्त और मुखर करता है। छंद की आत्मा लय है, जो सहज और ग्राह्य होती है। गीत में शब्द-ध्वनियों की बार-बार पुनरावृत्ति होती है और यह पुनरावृत्ति हर अवतरण (स्टेंजा) के अंत में जरूरी तौर पर होती है, जिसे गीत की टेक कहते हैं, जो पूरी संरचना की लय को एक सूत्रित किए रहती है।

गीत-रचना के लिए 'निजता' (वैयक्तिकता) की बात कही जाती है। निःसंदेह, यह 'निजता' रचनाकार की अपनी व्यैक्तिक अनुभूति की चरम का बिंदु होती है। पर, अनुभूति से अभिव्यक्ति तक आते-आते निजता ऐसी निवैयक्तिक हो जाती है कि हर किसी को गीत अपना-सा लगने लगता है। बच्चों के लिए लिखे जानेवाले गीत यानी 'बालगीत' में रचनाकार को बच्चों के निज में झाँककर उसके साथ चरम तक जीना होता है। जाहिर-सी बात है कि बच्चों का निज उनकी अपनी दुनिया होती है। उसके रंगों, छवियों को पकड़ना ही गीत बुनने का कौशल होता है। नवगीत के सिद्ध कवि रमेश रंजक ने 'नए गीत का उद्भव और विकास' नामक अपनी पुस्तक के अंतर्गत गीत के संदर्भ में गोपालसिंह 'नेपाली' की एक रचना 'मधुर बेर' का उदाहरण देकर लिखा है—'नेपाली' गीतों में सहज तुकों के पंडित हैं। उद्धृत गीत इतना सहज और मधुर है कि इसे आसानी से बालगीत साहित्य में भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है'। यह बालगीत नेपाली जी के सृजन-स्वभाव के अनुसार एक लंबा गीत है। प्रस्तुत हैं कुछ अंश—'देहरादून के मधुर बेर/जंगल में मिलते ढेर-ढेर/पैने काँटे नित बिछा जाल/रहते चौकस नोंके निकाल/फिर भी हाथों से झुका डाल/ तोड़ते बेर, भरते रुमाल/रह जाते काँटे घेर-घेर/देहरादून के मधुर बेर। यदि छोड़ सेब किशमिश अनार/इनको चखने का हो विचार। तो ला-ला वन से बार-बार/दूँ मैं बिखेर रे कई सेर/देहरादून के मधुर बेर'।

हिंदी बाल-कविता, जिसमें गीत सहित छंद के सारे विधागत रूप समाहित हैं, से समृद्ध हुई है। जब गीत की सारी शैल्पिक जरूरतों को ध्यान में रखकर रचना-सृजन होगा तो निःसंदेह वह 'गीत' होगा और उसे 'बालगीत' कहा जाना ठीक होगा। हर किसी रचना को बालगीत नहीं कहा जाता। हर गाई जाने वाली रचना बालगीत नहीं हो सकती।

बाल-कविता की युगीन प्रवृत्तियों और रचना-अवदान के संपूर्ण वैशिष्ट्य को समझने और जानने की दृष्टि से अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी तरह से इसका काल-निर्धारण किया है, परंतु इसकी संपूर्ण यात्रा को प्रारंभ से अद्यतन जानने-समझने की दृष्टि से जो वर्गीकरण प्रकाश मनु ने अपनी पुस्तक 'हिंदी बाल-कविता का इतिहास' के अंतर्गत किया है, वह प्रारंभिक युग में समय के थोड़े से वास्तविक परिवर्तन के साथ मुझे उपयुक्त लगता है—1. प्रारंभिक युग, 2. गौरव युग, 3. विकास युग।

प्रारंभिक युग की यह धारा

प्रारंभिक युग जिसे बाल-कविता का आदियुग भी कह सकते हैं, उन्नीसवीं शताब्दी में बाल-कविता के उत्स से 1947 तक का युग है। उन्नीसवीं शताब्दी यद्यपि बाल-कविता के जन्मने का बीजबिंदु है, परंतु इसका सही-सही स्वरूप जिसे हम ठीक से शुरुआती दौर कह सकते हैं, बीसवीं शताब्दी की युगीन धारा ही है। इस दौर में देश गुलाम था। अँग्रेजों की दासता से मुक्त होने की छटपटाहट में गुलामी को राष्ट्रीय समस्या माना गया। इसी अरज और सरोकार के साथ बाल-कविता के सहारे बच्चों में राष्ट्रीय चेतना जगाने का आंदोलन-सा खड़ा हो गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक समय में ही बाल-कविता की जरूरत को महसूस किया जाने लगा। जन-जन तक पहुँचाने की दृष्टि से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बाल-कविता को पर्याप्त महत्त्व देते हुए इसका प्रकाशन प्रारंभ किया। 'सरस्वती' के मार्च 1916 के अंक में मैथिलीशरण गुप्त की एक

बाल-कविता 'ओला' प्रकाशित हुई। बाद में तो 'बालसखा' (1917), वानर (1931) और इससे पहले 1915 में 'शिशु' जैसी पत्रिकाओं ने अपना ध्यान इस दिशा में केंद्रित किया। इस दौर में हिंदी साहित्य की अनेक बड़ी विभूतियों ने बाल-कविता में उतरकर अपनी सर्जनात्मक उपस्थिति दर्ज कराई। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान आदि एक से बढ़कर एक सुंदर कविताएँ लिखीं। मगर श्रीधर पाठक की सर्जनात्मक दृष्टि इन सबमें अत्यधिक महत्वपूर्ण और अलग रंग में दिखाई दी।

श्रीधर पाठक (1860-1928) की उस समय लिखी गई कविताएँ स्वतंत्र शिखर की ओर नए ढंग की हैं। इनकी सहज और प्रभावपूर्ण संरचना मुग्ध करती है। इनकी रचनाओं में बालमनोविज्ञान की अद्भुत पकड़ है। उपदेश के बोझिल भार से कटकर लिखी इन रचनाओं का अत्यधिक महत्व है। एक अर्थ में ये नींव की बहुत-सी ईंटों में से एक हैं। श्रीधर पाठक के संपूर्ण रचना-अवदान में एक से बढ़कर एक रचनाएँ हैं। परंतु 'बाबा आज देल छे आए' जैसी रचना जो अपने जन्म से एक लंबे समय बाद आज भी समय से सटकर खड़ी दिखाई देती है, अनुपम है। इस रचना का रचाव और रंग गजब का है। इस कविता का बाल-सुलभ चेहरा और उसकी भोली सहज रेखाएँ उसे आज भी ताजा बनाए हुए हैं। जैसा बच्चा कल था, वैसा ही आज भी उपस्थित है। कहीं कुछ भी तो नहीं बदला, इस कविता की तुतलाहट का स्वर और बाबा से किए जा रहे सवाल आज के दौर में भी बच्चे को जोड़ने की भरपूर ताकत रखते हैं। एक अर्थ में यही कालजयी सृजन है और शायद रचना की अमरता भी। पाठकजी की 'तीतर' पर लिखी कविता में भी गजब की चुस्ती है।

विद्याभूषण 'विभु' और सभामोहन अवधियाँ 'स्वर्ण सहोदर' ऐसे ही दो उल्लेखनीय नाम हैं, जिनकी बाल-कविता के आस्वाद और रूप-रंग आज तक चकित करते हैं। विद्याभूषण 'विभु' (1894-1965) ने सचमुच बालस्वभाव के मनोविज्ञान की अंतरंगता को पूरी तरह समझा है। खेल-खेल में बाल-कविता की पुख्ता इमारत खड़ी करने में 'विभु' जी की सिद्धहस्तता का कायल होना पड़ता है। एक से एक थिरकती अनुभूति और नादात्मक सौंदर्य के साथ पानी के से प्रवाह की तरह शब्दों का संतरण बिल्कुल सीधा, सरल, निर्मल। 'विभु' जी की 'घूम हाथी-झूम हाथी' बड़ी प्रसिद्ध कविता है, जिसकी गणना आजादी के पहले की बेहतरीन यादगार कविताओं में की जाती है। 'हाथी' को लेकर ऐसी चुस्त और मस्त चाल की कोई दूसरी कविता फिर हिंदी बाल-कविता में ढूँढ़े से भी नहीं मिलती—'घूम हाथी-झूम हाथी/घूम हाथी झूम हाथी/धरती घूमें बादल, घूमे सूरज चाँद सितारे/चुनिया घूमे, मुनिया घूमे, घूमें राजदुलारे/हाथी झूम-झूम-झूम/हाथी घूम-घूम-घूम!' इस कविता में लय का वह उस्तादाना कमाल है, जो शब्दों के प्रयोग की जादूगरी से बेहद सधा हुआ है। यह इस कविता की वास्तविक प्राणशक्ति है। अब बच्चा पढ़े, जवान या बूढ़ा कोई भी, ऐसा हो ही नहीं सकता कि वह गर्दन हिला-हिलाकर न झूमे। यह कौशल इस एक कविता में ही नहीं, विभुजी की तमाम उपलब्ध कविताओं में देखने को मिलता है। अब देखिए इस कविता का स्वर—'अरे बुलाकी/हाँ री काकी/मैं, ना, मैं, ना, गाती मैना/अपना नाम बताती मैना/और फिर बच्चे का आश्चर्यमिश्रित भाव आगे के रंग कैसे अद्भुत 'हाँ ऐसा/ला पैसा, फिर बार-बार कविता हाँ ऐसा/ला पैसा की चुस्ती के साथ थिरकती चलती है। विभुजी ने प्रारंभिक दौर में ही खटमल हुई लड़ाई, मोर पंखी, गैंडा, चीता, आदि पर बेहतरीन शिशु कविताएँ लिखकर

शिशु कविताओं का मार्ग प्रशस्त किया। अफसोस की बात यह है कि उनकी कविता पुस्तकें पंख शंख, ता, बबुआ और अन्य में से बहुत कोशिश करने पर मात्र 'बबुआ' ही उपलब्ध हो सकी। यदि उनकी तमाम पुस्तकें एक स्थान पर संकलित कर कोई समग्र प्रकाशित हो सके तो यह उनके प्रति महत्त्वपूर्ण समादर होगा।

सभामोहन अवधिया 'स्वर्ण सहोदर' (1902-1980) भी हिंदी बाल-कविता के शिखर पुरुषों में से हैं। 'स्वर्ण सहोदर' के यहाँ बाल-कविता पूरी तरह बच्चा बनी नजर आती है। पूरी तरह ऊधम, धमाचौकड़ी और शरारतों के बीच उछलकूद! बेहद ताज्जुब होता है कि इन तमाम छवियों के बीच 'स्वर्ण सहोदर' बिल्कुल अपने जादुई अंदाज में अलग खड़े दिखाई देते हैं। अपने बचपन में जिन्होंने ये सब खेल बेफिक्री से किए हैं, वे इस कविता में अपने बीते बचपन की छवियाँ आज भी देख सकते हैं और बच्चे तो आज भी खेल में शामिल हैं ही। 'नटखट हम हाँ, नटखट हम, करने निकले खटपट हम....!' 'बालसखा' फरवरी 1941 में प्रकाशित 'बंदूक चली' कविता का स्वरसंधान देखते ही बनता है, जो छोटे-छोटे चित्रों को जीवंतता प्रदान करता है। भाषा का वैभव 'स्वर्ण सहोदर' की इस कविता में देखने को मिलता है। 'बंदूक चली/बंदूक चली/चल गई सनन सन, सन-सन-सन/जाने किस पर किस जगह चली/!' आगे बंदूक की आवाज सहमा-सहमी और भगदड़ के स्वाभाविक चित्र 'लड़की भड़की/लड़का भड़का/दादी का दिल धड़का-धड़का/सहमी बेचारी रामकली!'

'स्वर्ण सहोदर' द्वारा कविता में लिखी गई महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ 'वीर हकीकत', 'हम्मीर हठ', 'वीर बालक बादल' महत्त्वपूर्ण हैं और निःसंदेह बाल-कविता का एक विशिष्ट अवदान के रूप में एक अविभाज्य हिस्सा। उनके इस अवदान में अतीत की भव्यता है तो वर्तमान की प्रेरणा भी शामिल है।

ठाकुर श्रीनाथसिंह (1901-1961) ने प्रारंभिक युग में ही 'शिशु' और 'बालसखा' जैसी लोकप्रिय पत्रिकाओं का संपादन करते हुए बच्चों के लिए उम्दा कविताएँ लिखीं। इनकी कविताओं में राष्ट्रीय स्वर के गाढ़े रंग भी हैं और बचपन की सरल रेखाएँ भी। ठाकुर श्रीनाथसिंह की नानी का संदूक, मक्खी की निगाह बेहद दिलचस्प कविताएँ हैं। इन्होंने रोटी आलू, जुड़वा की मुसीबत जैसी चुस्त-चपल शिशु कविताएँ भी लिखी हैं, जो बेहद रोचक हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शिष्य गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (1899-1959) ने भी हरिऔधजी की परंपरा के पथ पर बाल-कविताएँ लिखी हैं, 'भारत कितना प्यारा है' में राष्ट्रीय चिंतन है तो 'मैं ना बनूँगा दादा जैसा' कविता बाल-मन की गहरी परतों को खोलती दिखाई देती है। जहाँ बच्चे को बाबा से शिकायत है—'नहीं खेलते कभी खिलौने कलम चलाते रहते हैं/क्या रक्खा है इन खेलों में हँसी उड़ाके कहते हैं, तो फिर बच्चा ऐसे दादा जैसा क्यों बने? यही बाल-कविता की वास्तविक जमीन है और यही ऊर्जा भी।

पं० रमापति शुक्ल की कल्पनाएँ अछूती हैं। 1946 में लिखी रमापति शुक्ल की एक बहुचर्चित कविता 'मनुष्य का बड़प्पन' अथवा 'सबसे बड़ा मनुष्य' है, जिसमें बड़े तर्कपूर्ण ढंग से सीधी-सादी भाषा का प्रयोग कर मनुष्य के बड़प्पन की चर्चा की गई है। साधारण जीवन में जिन चीजों को देखकर हम वैसी कल्पना ही नहीं कर सकते, जैसी काल्पनिकता से यथार्थ को छूते हुए रमापति शुक्ल ने की है। मसलन आलपीन के सिर है पर उस पर बाल नहीं, कुर्सी के बाँहें हैं पर

वह बाल नहीं फेंक सकती, कंघी के दाँत होने पर भी वह खाना नहीं खा सकती, सुराही का गला पतला है, पर वह गाना नहीं गा सकती। धीरे-धीरे यह कविता मनुष्य की खूबियों से जुड़ती है और अंततः एक बड़ी बात कह जाती है। हिंदी बाल-कविता में 'अगर' शीर्षक पर बहुतेरी बाल-कविताएँ देखने को मिलती हैं, उनमें आकर्षित करने की क्षमता भी है, परंतु ऐसी तमाम कविताओं से पहले रमापति शुक्ल की लिखी 'अगर' कविता आज की तमाम कविताओं की पूर्व पीठिका सिद्ध होती है और वास्तविक प्रेरणा भी। यह कविता अपनी गंभीरता के बावजूद बालमन को सहजता से खोलती है। यद्यपि यह कविता एक लंबी कविता है, पर इसका एक अंश ही बराबर पाठ में आता है। बच्चा विचार करता है अगर उसे कहीं एक बड़ा-सा संदूक मिल जाता तो वह उसमें दुनिया भर का गुस्सा क्रोध, ईर्ष्या, घूरना, डाँट-फटकार यानी वह सब, जो बच्चों की स्वतंत्र दुनिया को बाधित करता है, भरकर उसे समुद्र में डलवा देता तब जो दुनिया होती उसी दुनिया के पक्षधर रहे रमापति शुक्ल। वह बच्चों की प्रारंभिक आजादी के प्रवक्ता भी हैं, प्रतिनिधि भी। रमापति शुक्ल की कविताओं में किस्सागोई भी है और मस्ती भी। 'मस्तराम की कहानी' और 'प्रतिध्वनि' ऐसी ही कविताएँ हैं। रमापति शुक्ल ने निरंतर लिखा। 1976 के बाद लिखी 'दादाजी की छींक' में हास्य-विनोद की प्रच्छन्न छवियाँ गुदगुदाती हैं।

प्रारंभिक युग के कालखंड में लंबी कविताएँ लिखने में सिद्ध कवि रामेश्वरदयाल दुबे एक ऐसे समर्थ रचनाकार हैं, जो बेहद सीधी-सादी भाषा में अपनी कविता प्रारंभ करते हैं और अंत में भिन्न-भिन्न चित्रों के माध्यम से सुंदर संदेश कह जाते हैं। जो किसी को मूर्ख बनाने चलते हैं, वह अंततः खुद मूर्ख बन जाते हैं। ऐसे कथ्य की बेहद चर्चित रचना 'खोटी अठन्नी' है, जो बच्चों के स्वभाव और मन से सीधे-सीधे जुड़ती है और बाल-कविता में नए आयाम जोड़ती है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ भी देखने को मिलती हैं, जो बालमन की अंतःपरतों को खोलती हैं। गुप्तजी की 'सरकस' कविता सरकस के तंबू के अंदर के संसार के साथ सटकर चलती है, जिसमें तोते के तोप चलाने, बंदर के मुँह में चुरट दबाकर एंठने की चर्चा है, तो कविता के केंद्रीय भाव का प्रकटीकरण ऐसे हुआ है—यह सिंही का जना हुआ है/आती इस पर मुझे दया है!' यह शेर गुलाम क्यों है? आखिर को यही राष्ट्रीय सरोकार हिंदी बाल-कविता के प्रारंभ में रहा है।

इसी कालखंड में सोहनलाल द्विवेदी, निरंकारदेव सेवक और द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी अपने-अपने रंग और मिजाज के साथ बच्चों की दुनिया में उपस्थित दिखाई देते हैं, जिनका रचना-संसार बालस्वभाव के काफी निकट है। सोहनलाल द्विवेदी (1906-1988) राष्ट्रीय कवि के रूप में विख्यात हुए और इन्होंने बहुतायत से राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं, परंतु वह इस भाव-धारा में दूर तक बहकर भी सिमटे नहीं हैं। अपनी इस चौहद्दी को फलाँगते हुए इन्होंने और कुछ यादगार कविताएँ भी लिखी हैं, जो अपने अंदाज में आगे बढ़ती हैं—'मैंने पाले बहुत कबूतर, भोले-भाले लाल कबूतर/ कुछ उजले कुछ लाल कबूतर/चलते छम-छम चाल कबूतर।' कहते हुए कविता बढ़ती है तो लगता है कि कबूतर के सारे रंग छिटके जा रहे हैं। द्विवेदीजी ने हिंदी बाल-कविता को अपने सृजन से उचित स्थान दिलाया।

हिंदी बाल-कविता के भीष्म पितामह के रूप में जिन्हें बार-बार स्मरण किया जाएगा, ऐसे विराट व्यक्तित्व और सचमुच एक बड़े कवि का नाम है निरंकारदेव सेवक (1919-1994),

जिनके बिना हिंदी बाल-कविता का मुकम्मल चेहरा ही नहीं बनता। प्रारंभिक दौर में ही सेवकजी ने जो कल्पनाशीलता व विषयगत वैविध्य का रास्ता अपनाया, उससे हर युग हर पीढ़ी के रचनाकार बहुत कुछ सीख सकते हैं। निरंकारजी की तमाम कविताएँ बताती हैं कि बच्चों की कविताएँ कैसे बाल-कविताएँ हो सकती हैं। निरंकारजी की कविताएँ एक से बढ़कर एक हैं। 'अगर-मगर' का कथा-विन्यास और परिणति अर्चोभित करती है। उनके यहाँ 'तुम बनो किताबों के कीड़े' जैसी कविता है तो चिड़ियों की बात के अपने रंग हैं—'एक बार दो चिड़ियाँ आकर/बैठ गई छत की मुँडेर पर!' धीरे-धीरे यह कविता इधर-उधर के रस-प्रसंगों से उछलते हुए जब व्याह के प्रसंग पर आती है तो चिड़िया को चिड़िया का उत्तर 'चिड़िया कहीं ब्याह करती हैं/वो तो बच्चों से डरती हैं' विस्मित करता है। सेवकजी ने प्रारंभिक दौर की 'शिशु-कविता' को एक विस्तृत वितान दिया है। इनकी शिशु-कविताएँ भाषा और भाव की दृष्टि से कमाल की हैं। सेवकजी की एक कविता, जिसे बच्चे सिर हिला-हिलाकर गाते दोहराते देखे जाते हैं, 'पैसा' है। यह कविता इतनी चपल कल्पना के साथ आगे बढ़ती है कि सोचना पड़ता है कि बच्चों का संसार और भाव-कल्पनाएँ ऐसी भी होती हैं। चने के खाने से चूहे के दाँत टूटना, एक चना खाने से घोड़े का पीठ पर बिठाना और बड़ा मजा आता का आनंद तत्त्व! मुझे ताज्जुब हुआ, जब इस कविता में डूबे लयलीन मेरे छः वर्ष के पौत्र कुशाग्र ने कविता को अपनी कल्पनाशीलता से अपने बोल दिए—'पैसा पास होता तो चार चने लाते/चार में से एक चना बाबा को खिलाते/बाबा जो खाते तो छोटे हो जाते/छोटे हो जाते तो बड़े मजे आते।' सचमुच एक अच्छी कविता बच्चे के वास्तविक संसार को कैसे खोलती है, यह निरंकारजी की कविताएँ स्पष्ट करती हैं।

द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी की 'वीर तुम बढ़े चलो, धीर तुम बढ़े चलो' या फिर 'मुन्ना-मुन्नी ओढ़े चुन्नी, गुड़िया खूब सजाई' जैसी कविताओं को पढ़-गाकर कई पीढ़ियाँ आगे बढ़ गईं, पर ये कविताएँ आज भी अपने सौंदर्य से हर किसी को मोहित करती हैं। इनकी एक कविता 'यदि होता किन्नरनरेश मैं' में अद्भुत रंग और कल्पना के अनूठे भाव-दृश्य हैं। माहेश्वरीजी ने विपुल मात्रा में बच्चों के लिए लिखा। वह जब 'हाथी-हाथी बाल दे, लोहे की दीवाल दे' कहते हैं तो ऐसा लगता है, जैसे सचमुच में यह कविता बच्चे के अंदर से छलछलाकर बाहर आ रही है। आज लोकलय की अनुगूँज लिए ऐसी ही शिशु-कविताओं की आवश्यकता है।

पं० कामताप्रसाद 'गुरु' ने छंद और लय के साथ सधी हुई भाषा में छड़ी पर अद्भुत कविता लिखी है। यह लंबी और नाटकीय कविता है। इस कविता के सहारे इस दौर के मिजाज को समझा जा सकता है। शकुंतला सिरोठिया बच्चों की ऐसी कवयित्री हैं, जिनके पास एक करिश्माई लय है, जिसके सहारे वह बच्चों के मन में गहरे उतरती हैं। तब वे ऐसा कुछ कह जाती हैं, जिसका कोई मुकाबला ही नहीं—'दुम्मक ढूँँ भई दुम्मक ढूँँ/मैं हूँ राजा नौकर तुम!' यही लय 'हाथी आता झूम के धरती मिट्टी चूमके' में यकीनन शकुंतला जी के मिजाज को कविता के रंग में ढलकर प्रकट करती है। इन्होंने लोरियाँ भी लिखी हैं और कमाल की लिखी हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठी और मन्नन द्विवेदी गजपुरी की कविताएँ भी इसी कालखंड में रची गई हैं। त्रिपाठीजी की कविताएँ अनुपम हैं और उनकी कल्पनाएँ बेजोड़। चंदामामा और मामी निशा को लेकर उनकी कविता इतनी बढ़िया है कि उसकी टक्कर की दूसरी कविता इस संदर्भ को लेकर दिखाई नहीं देती। त्रिपाठीजी ने शिशु-कविताएँ भी लिखी हैं। 'नंदू की छींक' ऐसी ही स्मरणीय

शिशु-कविता है, जिसका जिक्र हमेशा होता आया है और होता रहेगा। त्रिपाठीजी की 'तिल्ली सिंह' और 'चतुर चित्रकार' कथात्मक कविताएँ हैं, जिनकी प्रभा और प्रभाव अद्भुत हैं। मन्नन द्विवेदी गजपुरी की कविताएँ ग्राम्य परिवेश से उठती दिखती हैं और जीवन के वैविध्य को स्पर्श करती हैं।

आजादी से पहले की बाल-कविता को जिन महिला रचनाकारों ने अपने रचनात्मक अवदान से बढ़ाया और पुष्ट भी किया, इन कवयित्रियों में सुभद्राकुमारी चौहान, शकुंतला सिरौठिया, कमला चौधरी, शांति अग्रवाल, मंजुला वीरदेव, सुमित्राकुमारी सिन्हा का नाम लिया जा सकता है। इनमें सुभद्राकुमारी चौहान की बाल-कविता में समय के सरोकार की प्रतिध्वनियाँ भी हैं और वात्सल्यपूर्ण छलछलाहट के साथ बाल-मन का रस भी। 'खूब लड़ी मरदानी, वह तो झाँसीवाली रानी थी' के साथ-साथ 'बचपन', 'कदंब का पेड़', 'सभा का खेल' कविताएँ अपनी ओर बरबस ध्यान खींचती हैं और इस युग की बेहद चर्चित कविताओं में शुमार होती हैं।

बीसवीं शताब्दी के इस कालखंड को हिंदी बाल-कविता के कद्दावर रचनाकार रामधारीसिंह 'दिनकर' और उनकी कविता 'चाँद का कुर्ता' से जाना जाता है। निःसंदेह 'चाँद का कुर्ता' जैसी कविता का लिख जाना एक अप्रतिम घटना है। यह कविता अपने दौर और बाद के दौर में भी लोककंठ में ऐसी गूँजी कि इसकी लय निरंतर प्रवाहमान होती रही। आज की हिंदी बाल-कविता में चाँद के इस प्रसंग पर लिखी इस टक्कर की कोई कविता दिखाई नहीं देती। दिनकरजी ने हालाँकि 'मिर्च का मजा', 'धूप-छाँह', 'सूरज का ब्याह' जैसे बाल-कविता संग्रह भी दिए, परंतु उसमें 'सूरज का ब्याह' को छोड़कर ऐसी अद्भुत शक्ति दिखाई नहीं देती।

आरसीप्रसाद सिंह ने भी अपने ढंग से बाल-कविता को अपना स्वर दिया है। उनका अपना मुहावरा है, जिसमें वैविध्य के मनोरम रंग हैं। आरसीप्रसाद सिंह विषय को साधने का उस्तादाना हुनर रखते हैं। इनका स्वर राष्ट्रीय भी है और नटखट भी। दूरबीन, दूरदर्शन और अखाड़े पर लिखी इनकी कविताएँ चटक-मटक के कारण आकर्षित करती हैं। हिंदी के समर्थ गीतकार गोपालसिंह नेपाली ने भी बच्चों के प्रति अपने रागात्मक दायित्व को 'सरिता' जैसी रचना लिखकर पूरा किया। 'यह लघु सरिता का बहता जल, कितना शीतल कितना निर्मल।' यह अद्भुत कविता कभी बच्चे-बच्चे की जबान पर थी।

प्रारंभिक दौर के अन्य कवियों में, जिनका उल्लेख इस दौर की कविता के संदर्भ में होना इस कारण जरूरी है, उल्लेखनीय कवि हैं, बालमुकुंद गुप्त, सीताराम बी०ए०, सुखराम चौबे 'गुणाकर', पं० सुदर्शनाचार्य, रामजीलाल शर्मा, गिरिजाकुमार घोष, पं० भूपनारायण दीक्षित, लोचनप्रसाद पांडेय, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, लल्लीप्रसाद पांडेय, मुरारीलाल शर्मा 'बालबंधु', देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर', शंभुदयाल सक्सेना, गोकुलचंद शर्मा, आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव, जहूरबख्शा, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामसिंहासन सहाय 'मधुर', विश्वप्रसाद 'कुसुम', बाबूलाल भार्गव 'कीर्ति', नेमिचंद्र जैन, गौरीशंकर 'लहरी', कपूरचंद जैन 'इंदु', रघुनंदन शर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, रामेश्वर गुरु 'कुमार हृदय', प्रेमसखा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कमला चौधरी, ज्ञानवती सक्सेना 'किरण', मदनगोपाल सिंहल, बाबू गुलाबराय, विनयमोहन शर्मा 'वीरात्मा', रामलक्ष्मण शुक्ल 'मादक', नर्मदाप्रसाद खरे, देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त', अब्दुल रहमान 'सागरी', डॉ० सुधींद्र, नरेंद्र मालवीय, सत्यप्रकाश कुलश्रेष्ठ, शिक्षार्थी, रामगोपाल 'रुद्र', बलवीरसिंह 'रंग', डॉ० राजेश्वर 'गुरु', मदनमोहन

व्यास, हरिश्चंद्र बैरी 'बालबंधु', ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक', रामलोचन शर्मा 'कंटक', हरिमोहन झा, प्रो० मनोरंजन एम०ए०, रुद्रदत्त मिश्र, 'बंधुरत्न', त्रिभुवननाथ 'नाथ' तथा रामदेवसिंह 'कलाधर', दामोदरसहाय 'कविकिंकर', जगदीश झा 'विमल', प्रो० मणिराम गुप्त 'रसिक', मूलचंद श्री वात्री, सुखदेवप्रसाद चौबे, हीरादेवी जोशी, व्यथित हृदय, हरिकृष्ण दास गुप्त, 'हरि', श्रीरामसिंह उदय, अशोक बी०ए०, लक्ष्मीदेवी चंद्रिका।

इन उल्लेखनीय कवियों में कुछ कवि एक तरह की पुरानी चाल पर उपदेशात्मक खाँचे की सर्जना में निमग्न रहे, परंतु कुछ ऐसे भी थे, जो पुराने खाँचे की चोहद्दी को फलाँगते हुए बाहर आने की सार्थक कोशिशें करते दिखाई देते हैं। 'बालसखा' और 'सरस्वती' के संपादक रहे देवीदत्त शुक्ल (1888-1971) ने 'मैं काशी का रहनेवाला उचकू मेरा नाम/सदा मिठाई मैंने खाई, दिया न एक छदाम।' जैसी कविताएँ लिखीं, जिनकी लय बच्चों के भाव-संसार से निकलती दिखाई देती हैं। यह कविता 'बालक' के दिसंबर 1920 के अंक में प्रकाशित हुई और अपने रस-रंग के कारण आज भी चर्चित है। देवीदत्त शुक्ल की 'आँधी' पर लिखी गई कविता भी खासी चर्चित हुई है।

आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव ने अपनी कविता में मेढक के फुदकने की मुद्राएँ उतारीं तो देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर' (1893-1955) ने दादा के पोपले मुँह को बच्चों की कल्पनाओं से उकेरा। लल्लीप्रसाद पांडेय ने अपने संपादकीय जीवन के रेखाचित्र 'वानर' में उतारे हैं, तो सुदर्शनाचार्य ने 'हाऊ और बिलाऊ' कविता में कथात्मकता के जरिए 'हाऊ और बिलाऊ' के चरित्र को गति देकर मूर्त किया है। बाद में निरंकारदेव सेवक के यहाँ इसी कविता की प्राण-शक्ति से 'अगर-मगर' जैसी कविता ने जन्म लिया। यह बात और है कि सेवकजी ने इसे बाद में एक अलग मोड़ पर लाकर छोड़ा है। सीताराम बी०ए० की चर्चित कथात्मक कविता 'बैरंगिया नाला' इसी दौर की कविता है जिसका स्वर राष्ट्रीय सरोकार से निःसृत है। दामोदर सहाय 'कविकिंकर' की 'मोर' एक दिलचस्प कविता जिसका अपना आख्यान है। लंबी कथात्मक कविताओं की इस परंपरा में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन की 'प्रदीप' 1905 में प्रकाशित एक कविता 'बंदर-सभा' भी लोकप्रिय रही। इस कविता की आल्हा लय में इसकी प्राण-शक्ति समाई है। लोक रस-रंग की छलछलाहट और बाल-कविता का एक अटूट रिश्ता इसमें मुखर होता दिखाई देता है।

'एक भारतीय आत्मा' माखनलाल चतुर्वेदी ने भी बचपन में डूबकर बाल-कविताएँ लिखी हैं। इनकी कविताएँ राष्ट्रीय स्वर की अनुगूँज भी लिए हैं और बाल मन की छवियाँ भी। 'एक फूल की चाह' कालजयी कविता है। राजगिरि के लड्डुओं पर लिखी माखनलाल जी की बाल-कविता का रस-रंग अलग है।

बीसवीं शताब्दी के इस दौर के कवियों में रघुनंदन शर्मा ने उत्कृष्ट शिशु-कविताएँ लिखीं, जिनका जादू आज भी सम्मोहित करता है। 'डम डमाडम डम/खेलें-कूदें हम' की लय पर उनकी शिशु कविता की ताजगी के क्या कहने। प्रो० केसरी (1909) की रची कविता 'आज खेलने का दिन है माँ/मुझे न यह दिन खोने दे' भी बेजोड़ है। 'सरस्वती' के संपादक रहे पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की उस दौर में बेहद चर्चित रही कविता 'बुढ़िया चला रही थी चक्की' के चुलबुले प्रसंग एक अद्भुत केरीकेचर को साधते हुए चले हैं। विश्वप्रकाश 'कुसुम' की कविता 'आलू-गोभी' की संगीतात्मकता में शब्दों की जादूगरी की करिश्माई लय के क्या कहने। पं० भूपनारायण दीक्षित

की 'रसगुल्ला' कविता कमाल की है, पर 'तीन बिल्लियाँ' जैसी कथा कविता में उनका चुस्त कथात्मक विन्यास कमाल का दिखाई देता है। दीक्षितजी की एक रचना, जो आजादी के बाद के दौर में लिखी गई, बेहद दिलचस्प कविता है—'चाऊ माऊ बेहद खाऊ'! आजादी से पहले के दौर में जहूरबख्शा द्वारा लिखी गई 'बढ़ई' जैसी कविता इस बात की साक्षी है कि इस दौर में विषयों की नई तलाश प्रारंभ हो गई थी। प्रो० मोहनसिंह 'दीवाना', ठा० गोपालशरण सिंह, रामसिंहासन सहाय 'मधुर', बलभद्रप्रसाद गुप्त रसिक, नर्मदाप्रसाद खरे, रामवृक्ष बेनीपुरी, मदनमोहन व्यास, बलवीरसिंह 'रंग' आदि ने भी बीच-बीच में बाल-कविताएँ लिखी हैं, इनमें कुछ गुलाब की कुछ कपास की तर्ज जैसी हैं। कुछ नीरस तुकबंदी, कुछ सरस सारगर्भित। हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि' (1911 दिल्ली) ने कागज की नाव पर कविता लिखी, जो अपनी ओर आज भी ध्यान खींचती है—'आओ नाव तिराएँ/दीदी से बनवाएँ और आगे डगमग डगमग डोले/नाव चली, नाव चली/उछल उछल हम बोले'। बंधु रत्न (1920) की 'आई चिड़िया आले आई/आई चिड़ियावाले आई' का स्वर एकदम मौलिक और निराला है। प्रसिद्ध गीतकार बलबीरसिंह 'रंग' ने बापू, सुभाष, मौलाना आजाद आदि पर बाल-कविताएँ लिखीं। इसी दौर में रामदेव कलाधर की 'तोते से' कविता का अनूठा अंदाज और गोकुलचंद्र शर्मा की कथात्मक कविता 'गूँज' भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है। क्या यह जानना अच्छा नहीं लगेगा कि बचपन में ऐसी प्रार्थना, जिसे हम और पूर्व की पीढ़ी गाते-गाते बड़ी हुई 'वह शक्ति हमें दो दयानिधे कर्तव्य-मार्ग पर डट जाएँ' इसी दौर में मेरठ के कस्बा साईमल की टीकरी के कवि मुरारीलाल शर्मा 'बालबंधु' ने लिखी थी। इसी कालखंड में शंभुदयाल सक्सेना (फर्रुखाबाद, उ०प्र०) ने विपुल मात्रा में बाल-कविताएँ लिखीं, लोरियों और अलग-अलग रंग-ढंग की उनकी कविताओं के रंग अनूठे हैं।

सचमुच हिंदी बाल-कविता का यह प्रारंभिक कालखंड अविस्मरणीय है। इस दौर में भले ही प्रारंभिक स्वर उपदेशात्मक स्थूलता का रहा हो, पर समय पर सजग दृष्टि रखते हुए इस दौर में जल्दी ही रचनाकारों ने अपने सृजन को इससे मुक्त किया और बालमन के सतरंगे आकाश की ओर जाती उन्मुक्त कल्पनाएँ बाल-कविता का अटूट हिस्सा बनीं।

गौरवयुग की प्रभा और प्रभाव

हिंदी बाल-कविता की इस चर्चा में 1947 से 1980 तक के कालखंड को गौरवयुग कहा जा सकता है। इस दौर में बाल-कविता ने चुनौतियों का सामना तो किया ही, आनंद की रसधार से भी स्वयं को परिपूर्ण किया। नवोन्मेष के इस युग में आजादी मिल जाने से जन-जन में एक नई चेतना का जन्म हुआ। बाल-कविता ने पूर्व से उत्कर्ष की दिशा में आगे कदम बढ़ाए। यह समय निःसंदेह सर्जनात्मक परिवर्तन का समय था। एक तरह से साहित्य और सांस्कृतिक भावभूमि पर विकासोन्मुखी विचार। इस दौर में बाल पत्रिकाओं की पूर्व परंपरा 'शिशु', 'खिलौना', 'बालसखा', 'कुमार' आदि के क्रम को आगे बढ़ानेवाली अनेक पत्रिकाओं ने आगे का मोर्चा सँभाला। आजादी के तत्काल बाद इलाहाबाद से 'लल्ला' (1948), दिल्ली से 'बाल भारती', पटना से 'चुन्नु-मुन्नु', देहरादून से 'नन्ही दुनिया', बंबई और दिल्ली से 'पराग' 1964 में दिल्ली से 'नंदन', 'बाल जगत' (पटना), 'शिशु बंधु' (लखनऊ), 'चमकते सितारे' (पटना), 'मनमोहन' (इलाहाबाद), 'अंगूर के गुच्छे' और 'मेला' जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ, जिनसे हिंदी बाल-कविता को प्रकाशकीय महत्त्व और विस्तार मिला। बाल-कविता ने भी अपने बहुरंगी वैविध्य का परिचय दिया। इस दौर

में हालाँकि पहले कुछ वर्षों में राष्ट्रीयता के स्वरवाली कुछ रचनाएँ छपीं, परंतु सातवें दशक के आते-आते हिंदी बाल-कविता ने अपने में क्रांतिकारी परिवर्तन करते हुए चमत्कारिक ऊँचाइयाँ हासिल कीं।

‘नंदन’, ‘पराग’, ‘बाल भारती’ जैसी बाल-पत्रिकाओं ने बेहतरीन कविताओं को स्थान दिया। इस दौर को गौरवयुग कहने का अभिप्राय इतना है कि इस दौर की बाल-कविता में जो रचनाकार ऊर्जा और संभावना से परिपूर्ण नजर आते हैं, इससे पहले और बाद में ऐसा दिखाई नहीं दिया।

यह सुखद संयोग रहा कि दामोदर अग्रवाल, सूर्यभानु गुप्त, शेरजंग गर्ग, श्रीप्रसाद, सर्वेश्वर, बालस्वरूप राही, योगेंद्रकुमार ‘लल्ला’, कन्हैयालाल ‘मत्त’, प्रयाग शुक्ल, चंद्रपालसिंह यादव ‘मयंक’, नारायणलाल परमार, शांति अग्रवाल, सरस्वतीकुमार ‘दीपक’, बालकृष्ण गर्ग, उमाकांत मालवीय जैसे समर्थ कवि एक साथ रचनाकर्म में प्रवृत्त हुए। हालाँकि इनमें से कन्हैयालाल ‘मत्त’ तो आजादी से पहले से ही लिख रहे थे, पर इस काल के आते-आते मत्तजी बच्चों की कविता को पूरी तरह समर्पित हो गए। इन तमाम कवियों ने ऐसा लिखा, जिसके रंग अजब-गजब थे! ऐसी अद्भुत कविताएँ रची गईं, जिनमें हिंदी बाल-कविता का भावी इतिहास और रूप रचा जा रहा था।

इस दौर में बाल-कविता के परिदृश्य पर एक विशिष्ट त्रयी दिखाई देती है। एक ही समय में बेहद अच्छा लिखकर चौकानेवाले तीन समर्थ कवि दामोदर अग्रवाल, सूर्यभानु गुप्त और शेरजंग गर्ग।

दामोदर अग्रवाल निश्चय ही इस दौर और इस त्रयी के केंद्रीय कवि हैं, जिनकी रचनात्मकता के विभिन्न आयामों को दृष्टि में रखकर इस दौर और इस दौर की बाल-कविता की संपूर्ण ताकत और संभावनाओं का अनुशीलन किया जा सकता है। दामोदर की कविता बेहद मोहक अंदाज में प्रारंभ होती है और उसमें निरंतर बालकोचित भाव-मुद्राएँ विचार से आकार तक देखने को मिलती हैं। दामोदर अग्रवाल की एक बेहद प्रसिद्ध कविता है ‘कोई लाके मुझे दे!’ एक विशिष्ट सम्मोहन के साथ यह कविता अपनी विशिष्ट लय और शैली में आगे बढ़ती है, तो लगता है कि हिंदी बाल-कविता में लय की ऐसी ताजगी अन्यत्र दिखाई नहीं देती। बच्चे की चाह के कैसे-कैसे रूप प्रतीक दामोदरजी ने पकड़े हैं कि ताज्जुब होता है। इसी तरह दामोदर अग्रवाल की कविता ‘एक पैसा’ में बच्चे के भावलोक की विराट अनुगूँज समाई है, जहाँ बच्चा एक पैसा मिलने के बाद एक से एक बेहतरीन अनूठी कल्पनाएँ करता दिखाई देता है। लय की झुभाने वाली जादूगरी ‘मैं इस एक पैसे से तोता खरीदूँ/मैं उस एक तोते को केले खिला लूँ!’ और फिर तोते को जादू दिखाने, डमरू बजाने, नट को बुलाने के चित्र गजब के हैं। दामोदर अग्रवाल की एक मशहूर कविता बिजली पर भी है, जिसका तेवर समय-सापेक्ष है—‘बड़ी शरम की बात है बिजली बड़ी शरम की बात’। मुश्किल यह है कि बिजली के जाने से पता ही नहीं चलता कि थाली में कहाँ दाल और भात है। यह कविता उन सारे तत्त्वों के साथ, जो किसी कविता को पूर्ण बनाते हैं, एक सामर्थ्यवान और बड़ी कविता है।

इस त्रयी के दूसरे महत्त्वपूर्ण समर्थ कवि हैं सूर्यभानु गुप्त। इनकी कविताएँ कल्पनालोक और भाषा की सामर्थ्य के बीच अपना विशिष्ट स्थान रखती है। पुराने विषयों को भी प्राणवंत कर देने की कला सूर्यभानु गुप्त को आती है। चाहे ‘आइने’ को लेकर लिखी गई कविता हो या फिर

‘चंदामामा’ जैसे विषयों पर जिज्ञासा का तत्त्व, जो इस कविता में खास तरह से आता है। जब वह ‘बादल’ कविता में बादलों को हिप्पी के रंग-रूप की उपमा देते हैं तो सचमुच बादलों के रंग-रूप को बदलते दिखाई देते हैं, जिनके काँधों पर आँधी-पानीवाले झोले लटके हैं। सचमुच यही कविताएँ हैं जो आगे की कविता को कुछ नया देने की प्रेरणा देती हैं।

स्वतंत्रता के बाद दिशा की दृष्टि से हिंदी बाल-कविता को एक विस्तृत वितान देने में डॉ० शेरजंग गर्ग का विशिष्ट योगदान है। उनके पास गजल के लहजेवाली भाषा की सामर्थ्य है। साथ ही अपना विशिष्ट मुहावरा भी है। इनके कहने का यही उस्तादाना ढंग, जिसमें ढलकर और संवेदना के ताप में तपकर इनकी कविताएँ खुद-ब-खुद बोलती हैं कि हाँ ये शेरजंग गर्ग की कविताएँ हैं। ‘तीनों बंदर महाधुरंधर’ कविता के बहाने से शेरजंग गर्ग गांधी-दर्शन को बदलते समय के साथ बयान करते हैं। ‘नए साल में’ शेरजंग गर्ग की एक ऐसी दिलचस्प कविता है, जिसमें आनेवाले वर्ष में नई-नई कल्पनाएँ, नए-नए सपने और बच्चे की नई-नई अपेक्षाएँ घुली मिली हैं। कविता का प्रारंभ ही गजब का है—‘छुक-छुक चले हमारी गाड़ी नए साल में/गुड़िया की भी होगी शादी नए साल में/अच्छे-अच्छे काम करेंगे नए साल में’। और फिर निर्द्वंद्व घोषणा ‘सीधे-सच्चे नहीं डरेंगे नए साल में!’ आगे ऐसी कामना भी कि ‘भैया की उग आए दाढ़ी नए साल में’ जो भरपूर मजा देती है। हालाँकि शेरजंग गर्ग की कविताएँ कभी-कभी गुणवत्ता की चिंता में डूबकर उपदेश के भार का शिकार भी हो जाती हैं। शेरजंग गर्ग की छोटी-छोटी शिशु कविताएँ अपने दिलचस्प अंदाज में अपनी ओर सहसा ध्यान खींचती हैं। शिशु कविताओं का उनका अंदाज और सुघड़ता देखते ही बनती है। ‘गाय’ पर लिखी इनकी शिशु कविता में बड़ा नटखटपन है। सचमुच शेरजंग गर्ग बाल-कविता में चुनौतियों को स्वीकार कर कविता लिखनेवाले कवि हैं।

डॉ० श्रीप्रसाद हिंदी बाल-कविता के ऐसे शीर्ष कवियों में हैं, जिन्होंने बालसाहित्य के संवर्द्धन के लिए खुद को पूरी तरह खपाया है और विशेषतः बाल-कविता में अपनी अलग पहचान बनाई है। भाषा और लय की जादूगरी इनके यहाँ मुकम्मल ढंग से पाई जाती है। श्रीप्रसादजी की कविता की एक विशिष्टता यह है कि इनमें सांस्कृतिक चेतना और परिवेश की समझ गहरी और बहुत गहरी है। इनकी मशहूर कविता हाथी में उनका समूचा सौंदर्यबोध देखा जा सकता है। ‘हल्लम हल्लम हौदा, हाथी चल्लम चल्लम/हम बैठे हाथी पर हाथी हल्लम हल्लम...!’ हाथी का एक संपूर्ण विराट चित्र यह कविता खड़ा करती है। ‘बड़ा मजा आता’ और ‘सौ सौ हाथी नाचे’ जैसी कविताओं में बाल-मनोभावों और अद्भुत कल्पनाओं का बेजोड़ प्रकटीकरण मिलता है।

डॉ० श्रीप्रसाद ने शिशु कविताएँ भी लिखी हैं और खूब जमकर लिखी हैं, निश्चय ही जिनकी गुणवत्ता ने शिशु कविता को समृद्ध किया है। इनकी मजेदार शिशु कविता है ‘बिल्ली को जुकाम’ और ‘दही बड़ा’! ‘बड़ी बुआ’ में बुआ की व्यंजनों की माँग बेजोड़ है। श्रीप्रसाद जी ने ढेरों कविताएँ लिखी हैं। ढेरों छपी हैं, कुछ कविता बनी हैं और सचमुच कविता के आनंद तक ले जाती हैं। पर कुछ ढेरों लिखने के कारण कविता बनने तक नहीं पहुँच सकी हैं, लेकिन अपनी संपूर्ण सामर्थ्य के साथ डॉ० श्रीप्रसाद हिंदी बाल-कविता के शलाका पुरुषों में एक हैं।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना बाल-कविता के एक प्रमुख और चर्चित कवि हैं, जिनकी कविताएँ नई सोच और अंदाज में ढलकर सामने आई हैं। सोच और अंदाज की दृष्टि से वह एक विशिष्ट कवि होते हुए अलग दिखाई देते हैं। वे छोटी बात से बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी बड़ी बात पैदा करने

में महारत रखते हैं, जो इनकी कविता को मुकम्मल तो बनाती ही है, साथ ही उसे असाधारण भी बनाती है। सर्वेश्वर की कविता में एक अनूठी तराश और मौलिक लय है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी कविता सीधी-सादी भाषा में उठते-उभरते आगे बढ़ती है, ठीक बात के अंदाज में 'बतूता का जूता' हो या 'बिल्ली के बच्चे' सभी में इनकी छलछलाती अनुभूतियों ने बालकोचित बाना पहना है। सर्वेश्वर ने शिशु कविताएँ भी लिखी हैं, जिनमें समय की ध्वनियाँ भी ध्वनित होती हैं और मनोरंजन की भी। 'महँगू ने महँगई में/पैसे फूँके टाई में' जैसी बेजोड़ कविता के साथ अनेक शिशु कविताएँ मन मोहती हैं।

बालस्वरूप राही ने बच्चों के लिए बेजोड़ कविताएँ लिखी हैं और विपुल ख्याति भी प्राप्त की है। इनकी एक चर्चित और प्रसिद्ध कविता 'चंदामामा' में समय के सच को लेकर बच्चा कैसे सवाल करता है—'चंदामामा, कहो तुम्हारी शान पुरानी कहाँ गई/कात रही थी बैठी चरखा, बुढ़िया नानी कहाँ गई' चाँद पर लिखी गई पारंपरिक ढर्रे की तमाम कविताओं की पुरानी जमीन छोड़ती यह कविता नई जमीन पर खड़ी हिंदी बाल-कविता के समयबोध और नव्यता को रेखांकित करती है। हालाँकि चाँद की इसी तरह की कविता की पृष्ठभूमि और भंगिमा के कथ्य प्रभाकर माचवे की भी एक कविता में आए हैं, पर छंद के कारण आनंद का क्षरण हुआ है और कविता बिखर गई है। 'सूरज का रथ' राही जी की उनकी ही अदा में ढली सचमुच एक ऐसी कविता है, जिस पर फिदा हुआ जा सकता है। इस कविता में सूरज के रंगों को रथ के घोड़ों के रंगों में संयुक्त कर एक नई अर्थ-लय में ढालकर राही जी ने कमाल किया है। 'ऊँट' में ऊँट का समूचा रूप उभारकर लाने का हुनर इनके कौशल को प्रकट करता है।

प्रयाग शुक्ल बाल-कविता के अप्रतिम रचनाकार हैं, जो समय के साथ अपनी कविता की धारा को मोड़ते चलते हैं और अपने अंदाज से कविता को खड़ा करते दिखाई देते हैं। मसलन गुड्डा और गुड़िया के नए अंदाज की कल्पनाओं के बीच से गुजरते हुए आगे बढ़ती यह कविता—'यह है गुड़िया, यह है गुड्डा/यह है बुढ़िया यह है बुड्डा।' यहाँ गुड़िया के बुढ़िया और गुड्डा के बुड्डा हो जाने का एक शाश्वत सच कविता को एक वास्तविक दुनिया से जोड़ता है। 'क्रिकेट' और 'भागा भालू' भी प्रयाग शुक्ल की दिलचस्प शिशु कविताएँ हैं। प्रयाग शुक्ल की कविता का अपना मुहावरा है, पर कविता में लोक का यह मुहावरा लाना और वह भी मोहक अंदाज में, हर किसी के बूते की बात नहीं—'भालू की माँ बोली—कालू/आ तुझको नहला दूँ..।' और फिर ठंडा पानी पड़ने पर 'याद आ गई नानी' का रंग कमाल का है।

हिंदी बाल-कविता की एकरसता को तोड़ने और उसे हास्य की गुदगुदी से जोड़ने की दिशा में इसी दौर के तीन कवियों ने पहल की। इन कवियों में उमाकांत मालवीय, योगेंद्रकुमार 'लल्ला' और कन्हैयालाल 'मत्त' के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनके यहाँ हास्य की प्रच्छन्न छवियाँ बहुतायत से मिलती हैं।

उमाकांत मालवीय की बाल-कविता के अपने अनूठे अंदाज हैं। वह गंभीरता का लबादा उतारते हुए गुदगुदाती है और इसके साथ तुमक-तुमककर एक सधी हुई लय और प्रभावी कथ्य के बीच से अपना रास्ता बनाती है। इनकी एक कविता है, 'लंगूर की शादी' जिसके दृश्य एक से बढ़कर एक—'शादी है लंगूर की/दावत मोती चूर की!' इस कविता में टना-टन इंतजाम के क्या कहने! घोड़े का आना, सेहरे में लंगूर का सजना, लगता है कि कोई शादी है। सचमुच उमाकांत

मालवीय की बाल-कविता का वितान अद्भुत भी है और विस्तृत भी।

योगेंद्रकुमार 'लल्ला' एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने बाल-कविता को अपनी विशिष्ट दृष्टि से रचा है। 'लल्ला' हास्य को कविता में ऐसे लाते हैं कि ताज्जुब होता है। बच्चे से लेकर बड़ों तक को इनकी कविताएँ ताजा गुदगुदी का अहसास कराती हैं। अलग रंग, अलग प्रभाव, अलग ढंग की सधी छंदबद्ध लल्लाजी की कविताएँ पूरी भीड़ में अलग दिखाई देती हैं। 'कर दो हड़ताल' कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—'कर दो जी कर दो हड़ताल/मिट जाए जी का जंजाल/जो न हमारी माने बात/उसके बाँधो कसकर हाथ/कर दो उसका घोटम घोट! पहनाकर केवल लँगोटे' अब घोटम घोट की तुक का प्रयोग हो और घोटम घोट जैसे शब्द के प्रयोग से गंजे हो जाने की भाव-मुद्रा में हँसी न फूटे ऐसा कैसे हो सकता है। बच्चे ऐसी छवियों से ही अपना आनंद निचोड़ते हैं। तोते जी, मेला, हल्ला गुल्ला, कमाल, जैसी ढेरों कविताएँ 'लल्ला' के ऐसे रचना-प्रसून हैं, जिनका सौंदर्य-रंग और खुशबू हर काल में बच्चे को आकर्षित करेगी।

इसी तरह अनूठी लय और चुलबुले अंदाज के कवि कन्हैयालाल 'मत्त' का हिंदी बाल-कविता में महत्त्वपूर्ण योगदान है। हालाँकि इनकी एक पुस्तक 'लोरियाँ और बालगीत' 1941 में मु० हरप्रसाद इलै० प्रेस बुलंदशहर से आजादी से पहले ही प्रकाशित हुई, पर इन्होंने आजादी के बाद खुद को पूरी तरह से बच्चों की कविता के हवाले कर दिया और अंत तक लिखते रहे। 'लोरियाँ और बालगीत' वह पुस्तक है, जिसमें पहली बार 'बालगीत' शब्द का नामकरण के रूप में प्रयोग किया गया। मत्तजी की कविता में लोकलय का अनूठा मिश्रण है। जब मत्तजी की कविता 'आटे बाटे दही पटाके' शुरू होती है तो इतनी चटपटी हो जाती है कि एक के बाद एक न जाने कितने भले-भले रोचक दृश्यबिंब इससे जुड़ते जाते हैं, जो चटपटे हैं, अटपटे नहीं। इस बीच सधी हुई लोकलय का जादू बराबर साथ रहता है। मत्तजी ने हर दृष्टि से बाल-कविता को साधा है। छंद, अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तर पर साधना का उत्कर्ष इनकी कविताओं में देखने को मिलता है। मत्तजी कविता को सीधे-सादे तरीके से उठाते हैं और बाल-मन के रंग से एक ऐसा चित्र बनाते हैं, जिसके बीच से एक भरपूर बच्चा छलछलाने लगता है। 'जाड़ा लगे जाड़ा लगे जड़नपुरी' का स्वर हो या 'चल भई काके' हर कहीं एक मस्ती कविता के साथ चलती है। मत्तजी ने शिशु कविताएँ भी खूब चटक-मटक के साथ लिखी हैं। एक शिशु कविता चूहे और ऊँट को लेकर है, जो खूब मोहती है—'चूहेमल का देखो खेल/चले ऊँट की पकड़ नकेल/बुड़बुड़-बुड़बुड़ बोला ऊँट/मुझे पिला पानी दो घूँट।' सचमुच मत्तजी की ऐसी तमाम कविताएँ ही उन्हें निरंकारदेव सेवक और माहेश्वरी जी जैसे शीर्ष कवियों के साथ खड़ा करती हैं।

इस भावभूमि में बालकृष्ण गर्ग भी एक चर्चित और उल्लेखनीय नाम है। इनकी कविता हास्य-विनोद की शिष्टता के साथ संगीतात्मकता की लय की विशिष्टता के कारण अलग पहचान बनाती है। 'तड़तड़ बजता ताशा/मीठा लगे बताशा/मार करारा झापड़/तोड़ा हमने पापड़/बैठ कार में कुत्ता/पहुँच गया कलकत्ता'। इनके यहाँ ध्वनियों के अनूठे और दिलचस्प प्रयोग भी हुए हैं जो बच्चों को सदा से भाते रहे हैं और भाते रहेंगे।

इस दौर में अच्छी बाल-कविताएँ लिखनेवाले कुछ उल्लेखनीय कवि और भी हैं, जिनके बिना इस दौर की धारा पूरी ही नहीं होती। ऐसे कवि हैं—चंद्रदत्त 'इंदु', विष्णुकांत पांडेय, सरोजिनी कुलश्रेष्ठ, मंगरूराम मिश्र, हरिकृष्ण देवसरे, सरोजिनी अग्रवाल, सरोजिनी प्रीतम, हरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय,

डॉ० रामजी मिश्र, इंदिरा परमार, बाबूलाल शर्मा 'प्रेम', जगदीशचंद्र शर्मा, रामकृष्ण खद्दर, सुमित्राकुमारी सिन्हा, अमृतलाल नागर, शंभूनाथ 'शेष', बेनीमाधव शर्मा, कल्याणकुमार शशि, गंगासहाय 'प्रेमी', सीताराम गुप्त, डॉ० चंद्रप्रकाश वर्मा, किशोरीरमण टंडन, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, विद्यावती मिश्र, सरस्वतीकुमार दीपक, रघुवीरशरण मित्र, शांति अग्रवाल, डॉ० देवेंद्रदत्त तिवारी, होरीलाल शर्मा नीरव, तरुण भाई, हंसकुमार तिवारी, लाला जगदलपुरी, कृष्णकांत तैलंग, नरेशचंद्र सैनिक, लक्ष्मीकांत वर्मा, शिवशंकर मिश्र, रामजन्मसिंह 'शिरीष', गोपालकृष्ण कौल, रामानंद दोषी, चंद्रपालसिंह यादव 'मयंक', चंद्रसेन 'विराट', रामभरोसे गुप्त 'राकेश', धर्मपाल शास्त्री, डॉ० शोभनाथ लाल, प्रेमनारायण गौड़, कामिनी दीदी, रामावतार चेतन, भीष्मसिंह चौहान, वीरेंद्र मिश्र, रामावतार त्यागी, राधेश्याम 'प्रगल्भ', कपिल, मधुर शास्त्री, बालकराम नागर, भवानीप्रसाद मिश्र, रामवचनसिंह आनंद, चिरंजीव, मनोहर वर्मा, विश्वदेव शर्मा, संतकुमार टंडन 'रसिक', दिग्गज मुरादाबादी, सावित्री परमार, मधु भारतीय, प्रेमचंद गोस्वामी, कौशलेंद्र पांडेय, बालकवि वैरागी, शांति मेहरोत्रा, भगवानस्वरूप 'जिज्ञासु' जैन, शंभुप्रसाद श्रीवास्तव, डॉ० श्यामसिंह 'शशि', शुभा वर्मा, शंकर सुल्तानपुरी, रमाकांत श्रीवास्तव, रमाशंकर 'चंचल', रवींद्र 'शलभ', राजकमल चौधरी, मृदुल मोहन अवधिया, प्रेमचंद गुप्त 'विशाल', दीनदयाल उपाध्याय, राधेश्याम सक्सेना 'रसिकेश', ठाकुर जमनाप्रसाद 'जलेश', आचार्य अज्ञात, चक्रधर 'नलिन' तथा रमेश भाई।

चंद्रपालसिंह यादव 'मयंक' ने आजीवन हिंदी बाल-कविता को अपनी रचनात्मकता से पुष्ट किया। हिंदी बाल-कविता के प्रथम पंक्ति के बालकवि के रूप में मयंकजी को याद किया जाता है। मयंकजी ने अपनी सृजनशीलता से अंत तक स्वयं को बाल-कविता से जोड़े रखा और खूब कविताएँ लिखीं। हालाँकि इनके सृजन में पुरानी काट की कविताएँ बहुतायत से हैं, पर बीच-बीच में कुछ ऐसी कविताएँ भी मिलती हैं जहाँ इनकी रचनाधर्मिता का लोहा मानना पड़ता है। ऐसी कविताओं में 'जादूगर' गजब की कविता है। 'जाड़े की रात' भी मयंकजी की ऐसी ही दिलचस्प कविता है, जिसमें जाड़े की फितरत को कैंटीली का विशेषण देकर मयंकजी ने परिवेश को ऐसा उभारा है कि दंग होना पड़ता है। मुक्त छंदवाली प्रयोगशीलता की चौखट पर बतकही के जरिए से लिखी गई कविता 'मौसम के बच्चे' एक अद्भुत और उत्कृष्ट कविता है। मुझे लगता है कि इस दृष्टि से पहली बार मयंकजी ने 'मौसम' को देखा है। नव्यता का यह दृष्टिबोध 'मौसम' को दोहराने वाले तमाम कवियों के सामने चुनौती देता रहा है।

विष्णुकांत पांडेय ने बालकविता के विभिन्न रूपों में लिखा है और बहुतायत से लिखा है। लंबी कविताओं में वे बिखरते दिखाई देते हैं, पर चुस्ती की दृष्टि से उनका बालमन शिशु कविता के प्रांगण में ही खुला है। शिशु कविता के माध्यम से पांडेयजी ने अपने कवि को खूब विस्तार देते हुए साधा है। 'सुनिए थानेदार', 'जानवरों का मेला' इनकी दिलचस्प कविताएँ हैं। 'फोन उठाकर कुत्ता बोला सुनिए थानेदार' में कुत्ते की चौकीदारी और परंपरा को तोड़ते हुए आधुनिक परिवेश की दृष्टि का व्यवहार चमत्कृत करनेवाला है।

चंद्रदत्त 'इंदु' बच्चों के चहेते कवि हैं। इंदुजी की बाल-कविताएँ अपनी उत्फुलता के रंगों में बच्चों की भाव कल्पनाओं के साथ सटकर चली हैं। 'एक थी गुड़िया एक थी गुड्डी' इंदुजी की चर्चित कविता है, जिसमें चिट्ठी के बहाने ढेरों रसप्रसंगों को लिखा गया है। कविता का प्रारंभ और चिट्ठी पर सुनने की प्रतिक्रिया को रेखांकित करने का कौशल इंदुजी का अपना है, जो तमाम

कविता में बराबर चलता रहा है—‘चिट्ठी पढ़ी तुम्हारी गुड्डी/डब्बू हिला रहा था टुड्डी!’ ‘बिल्ली बोली’ भी इसी चाल की कविता है, जिसमें दिल्ली के भूगोल इतिहास की बातूनी बतियाहट खुली है, साथ ही नए दौर के किस्से भी शामिल हैं। ‘अट्टू-बट्टू’ और ‘छोटा अन्ने’ इंदुजी की दिलचस्प शिशु कविताएँ हैं।

इस दौर के सातवें दशक में सक्रिय रहे मंगरूराम मिश्र, यादराम रसेंद्र और दिग्गज मुरादाबादी खासे उल्लेखनीय कवि हैं। मंगरूराम मिश्र की शिशु कविताएँ कमाल की हैं। मेढक की सैर, चक्खन मियाँ, घोड़े की लात जैसी कविताएँ अपने चुस्त-चपल कथ्य और शरारतों के कारण उल्लेखनीय हैं। यादराम ‘रसेंद्र’ के यहाँ शिशु कविताओं का दिलचस्प पिटारा है और ऐसी-ऐसी कविताएँ कि जिन्हें बार-बार पढ़ने को मन करे। फिलहाल इतना भर देखें—‘मम्मी से यों रोकर बोली—/मेरी जीजी नंदा,/जाऊँगी स्कूल तभी जब/दिखला दोगी चंदा/मम्मी बोली—चुप रह बिटिया/कहना मेरा मान/पापा जी का हैट हटाकर/उधर देख आ चाँद।’

यादराम रसेंद्र से थोड़ा हटकर अनूठे अंदाज में शिशु कविताओं को दिग्गज मुरादाबादी ने जिस तरह से साधा है, वह उल्लेखनीय है। दिग्गजजी की शिशु कविताओं में संदेश की चाशनी भी है—‘मधुमक्खी के छत्ते पर तू/यों गुलेल मत चला किशोर।’ ‘रेल चली’ और खरगोश भी इनकी अच्छी शिशु कविताएँ हैं।

चक्रधर ‘नलिन’ भी निरंतर लिखते रहे हैं, पर वह जब-जब अपनी सादगी से हटे हैं, तब-तब कविता पटरी से उतरी है। फिर भी जब-जब नलिनजी का कवि तन्मयता में गहरे उतरा है, तो अपनी सादगी के कारण ऐसी कविताएँ नव्यता के साथ मोहित करती हैं। बहुत-सी ऐसी कविताओं के बीच ‘मंगलग्रह’ की यात्रा नलिनजी की ऐसी ही प्रभावी कविता है।

रामवचनसिंह आनंद ने मूलतः कहानियाँ लिखी हैं, परंतु इनकी बाल-कविताएँ भी प्रभावी हैं, जिनमें कथात्मक मुद्रा भी है, उत्फुल्लता भी है। ‘पास हुए हम हुरे हुरे’ का उठान भला किसे मुग्ध नहीं करेगा? आनंद की ‘टेलीफोन’ और ‘गौरैया’ भी चर्चित कविताएँ हैं।

इस दौर की चर्चित कविताओं में शंभुप्रसाद श्रीवास्तव की ‘हीरा-मोती’, प्रेमनारायण गौड़ की ‘बल्ब’, किशोर काबरा की ‘पत्ती का खेल’, सरस्वतीकुमार ‘दीपक’ की ‘गुड़ियाघर’, शांति अग्रवाल की ‘कटू की बारात’, ‘फूटा मटका’, लाला जगदलपुरी की ‘हवा’, सरोजिनी कुलश्रेष्ठ की ‘भूकंप’, नारायणलाल परमार की ‘दादाजी का खर्टा’, ‘गिलहरी प्रसन्न है’, ‘हरी मिरचियाँ जिंदाबाद’ रामावतार ‘चेतन’ की ‘रंग निराला रोटी का’ जैसी कविताएँ मिलती हैं, जो विस्मित भी करती हैं और जिन्हें पढ़कर इस दौर की सामर्थ्य शक्ति और सृजनशीलता के रंग भी खुलते हैं।

रामनिरंजन शर्मा ‘ठिमाऊ’ सीधे-सादे ढंग से कविता लिखते हैं, जिनमें ग्रामीण जनजीवन और उसके भले-भले चित्र उभरते हैं। मगर वह अपनी दृष्टि को समय के संदर्भों से भी जोड़कर जब लिखते हैं, तो उसका प्रभाव अलग और अनूठा दिखाई देता है। महँगाई जैसे विषय पर लिखी इनकी बाल-कविता सचमुच एक ऐसी कविता है, जिसमें बच्चे का स्वभाव और जिज्ञासा मौजूद है। ‘पप्पू ने दीदी से पूछा—क्या होती महँगाई/सभी इसी की चर्चा करते चली कहाँ से आई?’ और आगे महँगाई की मार से घर की जरूरतों का दैनिक परिवर्तन भी शामिल करते हुए एक खूबसूरत मोड़ पर कविता समाप्त होती है।

जगदीशचंद्र शर्मा भी इसी कड़ी के एक महत्त्वपूर्ण कवि हैं। इनमें राष्ट्रीय सरोकारों का

स्वर भी है और सीधा-सादा बच्चे का भी। उनकी शिशु कविता में उनका बाल-मन पूरी तरह खुलता है। 'मक्की चक्की', 'कबाड़ी की गाड़ी', 'हाथी दादा' ऐसी ही शिशु कविताएँ हैं।

बाबूराम शर्मा 'विभाकर' (खरड़, मुजफ्फरनगर) एक लंबे समय से बाल-कविता लेखन में रमे रहे हैं। 'बात' जैसे साधारण विषय पर लिखी उनकी मजेदार कविता पर मुग्ध हुआ जा सकता है। यह बाल-कविता 'बात' की प्रकृति और प्रभाव को सीधे-सादे ढंग से कहते हुए विस्तार लेती है। उनकी कविता में कहीं-कहीं हास्य की प्रच्छन्न छवियाँ भी हैं। उनकी 'दादी माँ' कविता में दादी की दिलचस्प मुद्राएँ हैं, जो बच्चों को मनोरंजन का भरपूर मसाला देती हैं।

हिंदी बाल-कविता के इस दौर में ही बेहद सीधे-सादे मगर सुघड़ लय के बच्चों के कवि रमेश भाई (दिल्ली) की उपस्थिति उल्लेखनीय है। यह चकित कर देनेवाली बात है कि बीते कल से लेकर आज तक और न जाने कब तक एक शिशु कविता जिसे बच्चे झूम-झूमकर तोतले स्वर से सधे हुए स्वर तक गाते गुनगुनाते रहेंगे। 'मछली जल की रानी है' केवल चार पंक्तियों की यह कविता रमेश भाई की है, जो सोचने पर मजबूर करती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है इस कविता में मछली के स्वभाव और जीवन की परतें सहजता से खुलती हैं। देखिए—'मछली जल की रानी है/जीवन उसका पानी है/हाथ लगाओ डर जाएगी/बाहर निकालो मर जाएगी' शिशु कविता की संपदा में यह कविता अमूल्य है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ इस शिशु कविता को निरंकारदेव सेवक के सृजन से जोड़ते हैं, पर यह सच नहीं।

हिंदी बाल-कविता के इस मध्यकाल में बाल-कविता की संभावनाओं को खूब खँगाला गया और बाल-कविताएँ जीवन और बाल-मनोभावों के ज्यादा करीब आईं। जीवन और प्रकृति के जितने रंगारंग गतिशील चित्र इस कालखंड की कविता में मिलते हैं, वैसे पहले कभी देखे नहीं गए। बाल-कविता का यह दौर शिशु कविता के आदर्श का दौर भी है। इस दौर में आचार्य 'अज्ञात', सीताराम गुप्त, गंगासहाय 'प्रेमी' की शिशु कविताएँ मुग्ध करती हैं। आचार्य अज्ञात की 'गप्पूजी फिसले', गंगासहाय 'प्रेमी' की 'बाबा की दाढ़ी' और सीताराम गुप्त की 'कार पड़ी बीमार' जैसी शिशु कविताएँ एक उपलब्धि हैं। इन कवियों में सबसे अधिक सीताराम गुप्त ने लिखा है। गुप्तजी की शिशु कविताएँ ऐसी हैं, जो बच्चे की जुबान पर चढ़कर उनके खेल और खिलौने होने की शक्ति रखती हैं। शिशु कविताओं से अलग सीताराम गुप्त की बाल-कविताएँ अनुभूति और भाषा-शिल्प की दृष्टि से बेहतरीन कविताओं में परिगणित की जा सकती हैं। 'दलबदलू हवाएँ', 'रेवड़ी' भी उनकी दिलचस्प कविताएँ हैं। 'मौसम की लड़की' भी एक ऐसी ही अनूठी कविता है, जो बार-बार मौसमी कविताएँ लिखनेवाले कवियों के सामने एक उदाहरण के रूप में है। देखिए, 'तिलबुग्गे रेवड़ी गजक की है शौकीन बड़ी/चट कर जाती मेवा काजू किशमिश खड़ी-खड़ी/सर्दी इसका नाम लाड़ली सारे मौसम की/आई फ्रॉक पहन कुहरे की लड़की मौसम की।'

डॉ० श्रीकृष्णचंद्र तिवारी राष्ट्रबंधु बालसाहित्य में अपनी यायावरी छवि को लेकर विख्यात रहे हैं। कुछ ऐसी यादगार कविताएँ राष्ट्रबंधुजी ने लिखी हैं, जिनकी गणना अनुपम और बेहतरीन कविताओं में होती है और होती रहेगी। राष्ट्रबंधु मुख्यतः ग्राम्य परिवेश के कवि थे। उनकी कविता यायावरी के बीच लोक से रसशक्ति ग्रहण कर जब आकार लेती है, तो बाल-कविता को सचमुच विस्तार देती है। 'कंतक थैया घुनू मनइयाँ' और 'चाँई माँई खेलो' उनकी रसमय और अनूठी लय

की कविताएँ हैं। 'टिली-लिली', 'चाँई माँई', 'नई डायरी' भी राष्ट्रबंधुजी की लोकप्रिय कविताएँ हैं। उन्होंने शिशु कविताएँ भी रची हैं, जो दमदार हैं और अपनी ओर ध्यान खींचती हैं।

इस दौर की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह भी है कि गीत विधा की ख्यातिप्राप्त कवयित्री महादेवी वर्मा ने भी बच्चों के प्रति अपनी सृजनशीलता के दायित्व का निर्वाह किया। महादेवीजी की बाल-कविताओं के रंग अनूठे हैं। इनकी एक कविता है, 'अब यह चिड़िया कहाँ रहेगी' जिसमें चिड़िया का घोंसला टूट जाने के बाद बच्चे के करुणार्द्र स्वर को शब्द दिए गए हैं। बच्चे की मुश्किल भी कैसी कि—'घर में पेड़ कहाँ से लाएँ/कैसे यह घोंसला बनाएँ/कैसे फूटे अंडे जोड़े/किससे यह सब बात कहेगी, अब यह चिड़िया कहाँ रहेगी?' ऐसे ही 'माँ के ठाकुरजी' का बालस्वर बेहद भोला-भाला है। पाँच पंक्तियों की यह कविता जो शिशु कविता ही है, की भंगिमाएँ मन मोहती हैं—'ठंडे पानी से नहलाती/ठंडा चंदन उन्हें लगाती/उनका भोग हमें दे जाती/फिर भी कभी नहीं बोले हैं/माँ के ठाकुरजी भोले हैं।' 'बया' और 'कोयल' भी उनकी दिलचस्प कविताएँ हैं।

इससे आगे के दौर में, जो विकासयुग के नैरंतर्य में आज तक की बाल-कविता का है, कवियों की एक लंबी कतार है, जिसमें विकास की गति भी है, संभावनाओं की खोजपरक दृष्टि भी है, पर बाल-कविता में जीवन के बहुरंगे आस्वाद, फक्कड़पन और मस्ती का ऐसा आलम जो पहले रहा, बहुत कम नजर आता है।

विकासयुग का कारवाँ और बाल-कविता

विकासयुग, जिसे हम 1980 से आगे मौजूदा समय तक का युग कह सकते हैं। इस दौर में जो एक विशिष्टता दिखाई देती है, वह यह है कि यहाँ बाल-कविता समयसापेक्ष होकर नहीं, चुनौतियों का सामना करती दिखाई देती है। इसमें समय की आहटें बखूबी सुनाई देती हैं। तोता मैना, बिल्ली के संदर्भों से थोड़ा हटकर बाल-कविता बच्चे और उसके आस-पास की ज्वलंत स्थितियों पर चिंतन करती है। विशेषतः इस दौर में विचार-तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है। इस दौर की सबसे बड़ी घटना के रूप में कुछ कवियों की एक साथ ऐसी उपस्थिति है, जिन्होंने सजग दृष्टि से बच्चे को देखा और जिया है और जीते हुए जमकर लिखा है। इस दौर में बाल-कविता लिखनेवालों की एक विशिष्ट त्रयी है—दिविक रमेश, हरीश निगम और सूर्यकुमार पांडेय। इन तीनों ही कवियों ने अपने-अपने अंदाज से अनूठे प्रयोग किए और अपनी पहचान बनाते हुए अनूठी बाल-कविताएँ लिखीं। आज भी ये कवि अपनी सृजनशीलता के साथ कविता में निमग्न हैं।

इन कवियों में दिविक रमेश (1946) की कविता का अंदाज अन्यों की अपेक्षा सशक्त और सर्वथा मौलिक है। दिविक को बाल-कविता में समकालीन भाव-बोध को स्पर्श करते हुए परंपरागत विचार और सतही दृष्टि को छोड़कर नए विचार और यथार्थ से बाल-कविता को जोड़ना आता है। इस दृष्टि से दिविक की 'घर' कविता बेजोड़ कविता है। ऐसा नहीं कि इससे पहले या इसके साथ-साथ हिंदी बाल-कविता में 'घर' को लेकर कविताएँ नहीं लिखी गईं, पर इस तरह से घर से वंचित बच्चों के बारे में किसी का ध्यान नहीं गया। दिविक के यहाँ समकालीन भाव-बोध की छवियाँ बहुत हैं। गाँव की स्मृतियों की छटपटाहट में नगर के बच्चे की पीड़ा की अभिव्यक्ति 'चिड़िया कभी पंख में भरकर थोड़ी हवा गाँव की लाना/पोखर का जल लाना, गाँव

की मिट्टी लाना और ऐसे शहर में गाँव की झलक देखने को व्याकुल आकुल बच्चे की संवेदना का स्वर, समकालीन भाव-बोध का ही स्वर तो है। 'थकता तो होगा सूरज' कविता में 'सूरज' को मानवीकरण रूप देकर 'मजदूर' के रूप में एक अद्भुत प्रयोग दिविक की प्रयोगशीलता का पता देता है।

हरीश निगम नवगीत के चर्चित हस्ताक्षर होने के कारण लय के बेहतरीन कवि हैं और साथ ही साथ प्रयोग के भी। उनका यही रूप उनकी बाल-कविताओं में मुखर हुआ है। नव्यता की दृष्टि, बिंबों की सजीवता और सुघड़ लय निगम की बाल-कविता की विशिष्टता है। इनके यहाँ बस्ते से बच्चे के सवालों की कविता है, तो चंदामामा से मामी के बारे में जानने की बच्चे की बातें भी शामिल हैं। बचपन है, तो किशोर भी उनके भाव-चिंतन में उतरा है। इस दृष्टि से 'दिन इमली से' किशोर स्वर की बेहद अच्छी कविता लगती है, जिसमें एक किशोरी के मन को खूब खोला गया है। यहाँ यह भी कि बाल-कविता में अभी तक भी किशोर कविताएँ एक ही पाँत में शामिल हैं और उन्हें अलग से देखा नहीं गया है।

सूर्यकुमार पांडेय, रमेश तैलंग और सुरेश विमल की बाल-कविता में उपस्थिति एक सुखद अहसास दिलाती है। परंपरागत बाल-कविता को प्रयोग की दृष्टि से आगे ले जानेवालों में सूर्यकुमार पांडेय की दृष्टि कमाल की है। वह समय से सटते हुए नवोन्मेष में बाल-कविता को रचते हैं। रचते क्या हैं कहते हैं। यही कारण है कि घिसी-पिटी तुकों का उनके यहाँ प्रयोग नहीं होता। 'एक पान का पत्ता' में जब वह कलकत्ता/मत्था/कत्था/सुपारी और पूना के साथ चूना जैसी तुकों का प्रयोग करते हैं तो उनका यह अंदाज सीधे-सीधे जुबान पर चढ़कर अपना जादू दिखाता है और फिर यह भी कि पान को लेकर पूरे परिवेश की दरकार के सही-सही प्रयोग। यह एक समर्थ रचनाकार ही कर सकता है। सूर्यकुमार पांडेय की कविताओं में सौंदर्यबोध बहुत गहरा है, जिसे 'रूप धूप के' कविता में देखा जा सकता है। अछूते उपमान और कहने का ढंग सचमुच सूर्यकुमार पांडेय को बच्चों का आधुनिक कवि बनाती है। इनके यहाँ खट्टी-मीठी चपल नन्ही कविताएँ भी हैं, जिनके रस-रंग बच्चों की दुनिया के हैं।

बीसवीं शताब्दी की बाल-कविता में रमेश तैलंग का स्वर अनुपम रूप में उभरा। श्रीधर पाठक की तुतलाहट भरी कविता 'बाबा आज देल छे आए' को लेकर ऐसा नहीं कि आगे कोई प्रयोग-भंगिमाओं के साथ जो सफलता रमेश तैलंग की कविता 'अले छुबह हो गई/आँगन बुहाल लूँ' को मिली, वह किसी और को कदाचित नहीं मिली। रमेश तैलंग इस दौर के समर्थ और अपार संभावनाओं से भरे-भरे कवि हैं। इनकी कविताओं का भाव-संसार बच्चों के बीच से जन्मता है और उन्हीं की भाषा के सहारे कविता का आकार पाता है। 'टिन्नी जी' में लय का कमाल 'टिन्नी जी ओ टिन्नी जी/ये लो एक चवन्नी जी' के साथ शरारतों की उड़ान और लय का वेग मुग्ध करता है, तो 'निक्का पैसा' में भी यही लय का सुघड़ कमाल देखने लायक है।

'निक्का पैसा कहाँ चला' के बाद 'कहाँ चला जी कहाँ चला' की लय ऐसी कि हर कोई झूमने को मजबूर। यह कमाल रमेश तैलंग की कविताओं में बराबर दिखाई देता है। वह चाहे 'एक चपाती' हो या 'पापा की तनख्वाह में' जैसी कविताएँ हों। तैलंग की कविताएँ लीक पर नहीं, लीक तोड़कर समय की ध्वनियों से रस ग्रहण कर नए अर्थ के साथ चली हैं।

सुरेश विमल बाल-कविता के बदले मिजाज और ताजगी की दृष्टि से बेहद चर्चित नाम

है। उनकी कविता में मौलिक प्रयोग, अनछुए बिंब और प्रकृति के जीवंत चित्र ऐसे घुले-मिले हैं, जैसे हवा में सुगंध। चाहे 'पत्तों की दुनिया' हो या 'गुलमोहर का पेड़' या फिर 'कहाँ बनाए घर गौरेया' जैसी कविताएँ अपनी ओर बच्चों का ध्यान खींचती हैं, साथ ही कविता में कुछ नया जोड़ने की कोशिशें भी करती हैं। सुरेश विमल ने गाँव की जिंदगी को जिया है। गाँव और प्रकृति के ऐसे चित्र अपने सूक्ष्म निरीक्षण से बाल-कविता में इन्होंने उतारे हैं कि इनकी दृष्टि का लोहा मानना पड़ता है। 'पत्तों का गीत' पत्तों के आकार और बनावट को बड़े ही कलात्मक अंदाज में खोलता है।

इस दौर के अन्य महत्त्वपूर्ण कवि हैं—रमेश कौशिक, देवेंद्रकुमार, रत्नप्रकाश शील, रोहिताश्व अस्थाना, जहीर कुरैशी, अब्दुल मलिक खान, रमेशचंद्र पंत, भैरूलाल गर्ग, राजा चौरसिया, गोपालदास नीरज, रामावतार त्यागी, मधुसूदन साहा, सुंदरलाल अरुणेश, किसलय बंदोपाध्याय, ओंकारेश्वर दयाल 'नीरद', नवीन सागर, कृष्ण कल्पित, देवेंद्रकुमार देव, रामसेवक शर्मा, अहद प्रकाश, सुरेंद्र विक्रम, उषा यादव, नीलिमा सिन्हा, शिवचरण चौहान, भगवतीप्रसाद द्विवेदी, रमेश राज, अशोकरंजन सक्सेना, घमंडीलाल अग्रवाल, कृष्ण शलभ, योगेंद्रदत्त शर्मा, रमेश आजाद, श्याम सुशील, रामानुज त्रिपाठी, यश मालवीय, वसु मालवीय, लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, अश्वघोष, सफदर हाशमी, प्रमोद जोशी, मो० साजिद खान, मो० फहीम, रमेशचंद्र शाह, मूलाराम जोशी, बलराम गुमाश्ता, राजेश जोशी, प्रकाश मनु। इन कवियों ने भले ही चाहे जबसे लिखना शुरू किया हो, पर उनकी कविता को उर्वरा जमीन और रचनात्मकता का विस्तार बीसवीं सदी के आखिरी दशक में ही मिला।

रमेश कौशिक काफी समय तक बच्चों के लिए कविताएँ लिखी हैं। परंपरा से हटकर कुछ अच्छी कविताएँ उन्होंने लिखी हैं। इनकी आकर्षक और लयात्मक दृष्टि से बेहद चुस्त कविता 'कठपुतली' है। धागे से बँधी कठपुतली को तकली के नाच से जोड़ना अद्भुत है। 'तकली-सी नाचे कठपुतली/छम-छम, छम-छम, छम-छम, छम-छम/यह छम-छम की लय!' अपनी ओर किसे नहीं खींचेगी। रमेश कौशिक की शून्य और कैमरे जैसे विषयों पर लिखी कविताएँ सचमुच बहुत प्यारी हैं।

इस दौर की कविता में देवेंद्रकुमार की बाल-कविताएँ अपनी विशिष्टता के कारण अलग से दिखाई देती हैं। उनकी कविताएँ अपने सुदृढ़ स्वरूप, भाषा के तेवर और शब्दों के मितव्ययी व्यवहार के कारण चकित करती हैं, कविता वह भी बाल-कविता, विस्तार की अपेक्षा संक्षेपण की कला है। अनुभूति को कम-से-कम शब्दों में जिसे व्यक्त करना आता है। इसमें भी जिसकी रचना रसलय से लबालब अर्थ की तरफ नदी की तरह बहती है, वही समर्थ कवि है। देवेंद्र की कविताएँ सायास लिखी गई कविताएँ नहीं हैं। बच्चे को भरपूर जीते हुए उनका प्रस्फुटन एक मस्ती के साथ उनकी कविता में होता दिखाई पड़ता है। उनकी कविताओं में प्रकृति के चित्र कुछ ज्यादा हैं। अब हवा है कि मानती ही नहीं, ठीक शैतान बच्चे-सी। देवेंद्रकुमार की 'हवा हुई शैतान' एक दिलचस्प कविता है, जिसमें हवा की शैतानी के चित्र खूब उभरे हैं। 'गड़बड़झाला' की सुघड़ लय और चुस्त कथ्य के बीच बच्चा उछालें मारता दिखाई देता है। यहाँ शरारतों भरी कल्पना के अनूठे भावचित्र हैं। हर पंक्ति में गड़बड़ होने के अनूठे कथ्य। देवेंद्रकुमार की कई कविताएँ ऐसी भी हैं, जिसमें पूरी गति से परिवार उतरता है, रसोई और खाने के भावचित्र उभरते हैं। 'अब तो

खाओ' एक ऐसी ही कविता है, जिसमें रोटी बनाने और अम्माँ के बीच चलते करतबों के चित्र उभरते हैं।

रत्नप्रकाश शील (1935) की कविताएँ उनके हरफनमौला होने का संकेत करती हैं। उनकी कविता में बच्चों के अंतरंगता के ऐसे भले-भले चित्र हैं, जिनके बीच से बच्चे का मनोविज्ञान झलकता है। शरारतें हैं, तो प्रश्नाकुल भाव-भंगिमाएँ भी हैं। 'सोन चिरैया' उनकी बेहद चुस्त और चटकीली कविता है, जिसमें बच्चा चिरैया को अपने साथ खाना खाने की दावत देता हुआ उससे अपने मन को खोलता है। 'सोन चिरैया आजा आजा, खा जा हप्पा/फिर गाएँगे दोनों मिलकर लारा लप्पा! कविता विन्यास की दृष्टि से इस कविता की भाषा और तेवर बिल्कुल बच्चे के से हैं। देखें हप्पा/चप्पा/बप्पा और अंत में धप्पा जैसी तुकों का प्रयोग इस कविता की लय को कैसे साधते हैं कि कवि की उस्तादी की दाद देनी पड़ती है।

रोहिताश्व अस्थाना ने भी ने ढेरों कविताएँ लिखी हैं। अस्थाना अपनी सृजनशीलता में ढरों की कविताएँ लिखते-लिखते जब प्रयोग की दिशा में बढ़ते हैं, तो गजल की विधा में कुछ नया और अच्छा कहते हैं। कहने का ढंग उनका अपना है। फिर भी 'लोमड़ी' कविता में उनके डाक बाँटने, खाक छानने और जंगल की नाक होने के अच्छे चित्र बन पड़े हैं। रोहिताश्व की एक और गजल 'फूल बनकर मुस्कराना चाहिए' एक बेहतरीन रचना है।

घमंडीलाल अग्रवाल बच्चों के चहेते कवि हैं। ढेरों कविताएँ लिखने के बावजूद उनकी कविताएँ जब-जब अपने रूटीन से बाहर फलौंगती हैं, तो मन को छूती हैं। उनकी कविताओं में 'कहो मम्मी कहो पापा' और 'तुम भी थी शैतान' कविताएँ मन मोहती हैं। ऐसी कविताओं में कवि का मन खुला है और वह बच्चा बना नजर आता है। यहाँ 'तुम भी थी शैतान' में बच्चा अपनी शैतानियों को लेकर माँ के सामने उसकी शैतानियों को रखकर बचाव मुद्रा में है। यहाँ यह कहना वाजिब-सा लगता है कि कविता सचमुच जब-जब अपने में ताजगी और आनंद बटोरकर लिखी जाती है, तो बोलती है!

इस दौर के सातवें-आठवें दशक में जिन कवियों ने बाल-कविता को समृद्ध किया है, उनमें जहीर कुरैशी भी हैं। इनकी कविता के अपने तेवर हैं और अपना मुहावरा भी। इनकी 'सपने में' कविता के ठाठ के क्या कहने, चकित होना पड़ता है। 'पापा बबलू बन जाते हैं सपने में' और आगे सपने में क्या-क्या होता है, जिनकी छवियों के चित्र गुदगुदाते भी हैं, लुभाते भी हैं। इसी तरह 'पप्पी का शिकायतनामा' भी एक बेहतरीन कविता है।

रमेश आजाद ग्राम्य जनजीवन से रस ग्रहण करते हैं, तो 'दादी का जन्मदिन' जैसी महत्त्वपूर्ण कविता को रचते हैं। बच्चों के कौतुक से भरी यह कविता सचमुच जादू करती है। 'चकई के चकदुम' में खेलों की दुनिया खुलती है, तो बच्चों का मन भी खुलता दिखाई देता है। सचमुच रमेश आजाद एक ऐसे बालकवि हैं, जिनकी कविताएँ तितली की उड़ानवाली हैं।

रमेशचंद्र पंत के यहाँ लय और आनंद का अद्भुत समन्वय है, उनकी कविताएँ संबोधन से लेकर अपनी संपूर्णता के साथ बच्चों से जुड़ती हैं। गाँव में रहनेवाली नानी की कविता हो या फिर 'चिड़िया आओ' सबके रंग अनूटे!

राजा चौरसिया भी लंबे समय से लिख रहे हैं। उनके यहाँ गजल के फॉर्मेट में लिखी गई ज्यादातर कविताएँ हैं। मगर इनसे हटकर कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं, जो सचमुच राजा चौरसिया को

बच्चों का कवि बनाती हैं और उनके बाल-मनोविज्ञान के सहारे कविता में बिल्कुल बच्चा हो जाने की पुख्ता गवाही देती हैं।

राजनारायण चौधरी, गोपीचंद श्रीनागर और भगवतीप्रसाद द्विवेदी की बाल-कविताएँ कुछ अलग किस्म के रंग लिए होती हैं। इन कवियों ने खूब बाल-कविताएँ लिखी हैं। इनमें अधिक लिखते हुए भी अछूती कल्पनाओं के साथ बच्चों से जुड़ जानेवाले कवि हैं राजनारायण चौधरी! राजनारायण छंद के धनी हैं, कथ्य की नव्यता/शिल्प का कसाव और लय का प्रवाह इनकी कविताओं में प्राण फूँकता है। 'मने जन्मदिन', 'होते जो बिस्कुट के पेड़' और 'परी मेरे घर आना' इनकी दिलचस्प कविताएँ हैं। इसी क्रम में गोपीचंद श्रीनागर और भगवतीप्रसाद द्विवेदी भी अपनी अभिव्यक्ति के कारण अलग से बाल-कविता को रचते दिखाई देते हैं। इनमें श्री नागर के यहाँ पारिवारिक छवियों के अच्छे चित्र मिलते हैं। 'दीदी की शादी' और 'खटपट-खटपट' इनकी दिलचस्प कविताएँ हैं। दीदी की शादी में बच्चे का उल्लास और तैयारियों का कैसा ताना-बाना है। मसलन 'दीदी दिल्ली जाएगी/छोटू ढोल बजाएगा/दीदी जी को शादी में डोली में बिठलाएगा।' और फिर कौन-कौन किस-किस काम को कैसे करेंगे। भगवतीप्रसाद द्विवेदी के यहाँ खिलदंडी कविताएँ हालाँकि कम ही हैं, पर स्वाद के मजे से हटकर उनकी कविताओं में समय और विचार के साथ आज की मुश्किलों से जुड़ने की खूबी है, जो 'मौत का कुआँ' में प्रदूषण को लेकर आज की चिंता को दर्शाता है।

रामानुज त्रिपाठी की 'छोटे परदे पर' और गौरैया जैसी कल्पनाशील कविताएँ अपने रंग-रूप से मोहित करती हैं। सुरेंद्र विक्रम मूलतः आलोचना और पत्रकारिता के हस्ताक्षर हैं, मगर उन्होंने कविताएँ भी लिखी हैं। उनकी इधर लिखी कुछ कविताएँ मजेदार भी हैं और उनमें समय की चिंता और परिवर्तन के उभरते स्वर हैं।

लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, नवीन सागर, रमेशचंद्र शाह, राजेश जोशी, सफदर हाशमी, विनय दुबे ने भी इस दौर की बाल-कविता को समृद्ध किया है। दूसरी ओर विनोदचंद्र पांडेय की बाल-कविताएँ भी कवि की दृष्टि का पता देती हैं। राष्ट्रीय भावभूमि की कविता के साथ इनकी तमाम कविताओं के बीच 'जामुन' और 'चाटवाला' बेहद दिलचस्प कविताएँ हैं, जो मन को छूती हैं। अजय प्रसून, विनयकुमार मालवीय, श्याम बेबस, अखिलेश श्रीवास्तव 'चमन', कलीम आनंद ने भी सक्रियता से कविताएँ लिखी हैं।

नवें दशक में अहद प्रकाश का प्रवेश भी बाल-कविता में वृद्धि करता है। उनमें भाषा की सुघटता और बिंबों का अभिनव प्रयोग अच्छा हुआ है—'छुपन छुपैया' कविता की लय और दृश्य बिंब देखें—'ताकधना धिन मारे मैया जाड़े में/सिकुड़ी बैठी सोन चिरैया जाड़े' में और सूरज का चाय माँगना भी कमाल का है। प्रकाश मनु और योगेंद्रदत्त शर्मा की बाल-कविताएँ भी आठवें दशक में अपने अनूठेपन से मन मोहती हैं।

प्रकाश मनु हिंदी बाल-कविता के जबरदस्त और बेहद ऊर्जावान कवि हैं। वे जबरदस्ती कविताएँ नहीं लिखते। एक उत्फुलता लिए बेहद सीधी-सादी भावमुद्राएँ लिए। मनु की कविताएँ बच्चों के बीच से उठती उभरती हैं और एक सधी हुई लय के सहारे विस्तार लेते हुए बिल्कुल सीधे-सादे ढंग से बातचीत के लहजे में मटकती दिखाई देती हैं। अब देखिए, पापा से भैया की शिकायतें कैसे कविता में उतरती हैं—'पापा तंग करता है भैया' में 'कार तोड़ दी इसने मेरी फेंक

दिए दो पहिए दूर/हार्न टूटकर अलग पड़ा है/बत्ती भी है चकनाचूर!’ और शिकायत न करने के लिए पेशकश यह भी—‘कहता पापा से मत कहना/ले लो मुझसे एक रुपैया!’ मनु की कविताएँ अलग-अलग रंग और अंदाज की कविताएँ हैं! यहाँ यह कहना वाजिब लगता है कि मनु एक तरह की कविताओं से बचने के लिए हर बार अपनी कविता के बाद उसका साँचा तोड़कर बाद के लिए नया साँचा तैयार करते हैं। ‘खुशबू जरा उड़ा ले’, ‘आओ चाँद’, ‘आज सवेरे’, ‘दही बड़े’, ‘एक मटर का दाना’ और ‘चिड़िया रानी’ भी ऐसी कविताएँ हैं, जो खुद बयान करती हैं कि बाल-कविता को कैसी कविताओं की दरकार है।

योगेंद्रदत्त शर्मा की बाल-कविताएँ पुरानी लीक को छोड़कर प्रत्येक दृष्टि से विस्तार लेती हुई दिखाई देती हैं। लय और बिंबों की जादूगरी उनकी कविता की विशिष्टता है। कदाचित इसका एक कारण यह भी है कि योगेंद्र पूरी तरह से सामर्थ्यवान कवि हैं। गीत विधा को उन्होंने पूरी तरह से जिया है। नवगीत की नव्यता से उनकी बाल-कविता में बहुत कुछ समाविष्ट हुआ है, जिसके कारण कविता सचमुच कविता हो जाती है। ‘हवा’, ‘नदी’, ‘पानवाले’, ‘आम आए’ योगेंद्र दत्त की कुछ ऐसी ही यादगार कविताएँ हैं, जिनका शुमार हिंदी बाल-कविता की श्रेष्ठतम कविताओं में किया जाना चाहिए। भाषा का सुगढ़ व्यवहार, लय की चुस्ती और छंद के निर्वाह के कारण उनकी कविता का प्रवाह मुग्ध करता है। हवा की प्रवृत्ति को कैसे स्वर दिया है—छ्छअभी यहाँ अभी वहाँ/रुकी कहाँ, गई कहाँ/नगर डगर, गली गली/हवा चली हवा चली/आगे ‘इसे उठा उसे पटक/यहाँ अटक, वहाँ झटक!’ है न अद्भुत चालवाली लय भरी कविता। लय शब्द की अपनी ध्वन्यात्मकता के बीच में होती ही है, पर परस्पर शब्दों की क्रमबद्धता के बीच भी जन्मती है।

इसी दौर में हरिश्चंद्र ने भी बाल-कविताएँ लिखी हैं, जिनके विषय बच्चों के हैं ‘चीनी कटोरा’ चीनी के गट्टे से खिलौने बनानेवाले का अद्भुत केरीकेचर है, जिसमें मिठाईवाले का बच्चों को सहज निमंत्रण—‘एक बार जो चखे मिठाई, कभी न भूले औना-पौना।’ इसी क्रम में यहाँ यह कहना गैरमुनासिब न होगा कि इस दौर के आठवें-नवें दशक में मैंने (कृष्ण शलभ) भी कुछ बाल-कविताएँ लिखी हैं, जिन पर कुछ कहना मेरे लिए कतई मुनासिब नहीं। गीतकार रमेश शंजक के गीत के टुकड़े के साथ इतना भर कहना काफी है कि ‘समय तलाशी लेगा...!’

इस दौर में बालकविता के परिदृश्य पर बालकविता लिखनेवाली कवयित्रियों की संख्या कुछ अधिक नहीं, मगर पद्मा चौगाँवकर, सरोजिनी कुलश्रेष्ठ, शीला गुजराल, कामिनी कौशल, आशारानी बोहरा, सुधा चौहान, कमला ओबेराय, सरोजिनी अग्रवाल, मधु भारतीय, शुभा वर्मा, उषा यादव, शांति अग्रवाल, लता पंत, निर्मला सिंह, नीलिमा सिन्हा, प्रतिमा पांडेय, सावित्री परमार, सरोजिनी प्रीतम, डॉ॰ विद्याबिंदु सिंह, मीरा हींगोरानी, इंदिरा परमार, नवीन जैन, पूनम भट्ट, शकुंतला कालरा, मधु पंत, रमा सिंह, रमा तिवारी, ममता कालिया, रेखा राजवंशी, सुमन बिस्सा, सरिता शर्मा, इंदिरा गौड़, सरला जैन, प्रभाकिरण जैन, रचना सिद्धा, संतोष कुँअर और अंशु शुक्ला के नाम फिलहाल स्मृति में हैं। इन्होंने निश्चय ही कुछ अच्छी बाल-कविताएँ लिखी हैं।

इनमें पद्मा चौगाँवकर ने बच्चों की शरारतों को समझकर उनमें डूबकर पूरी तल्लीनता के साथ अपनी बाल-कविता को रंग-रूप दिया है। उनकी कविता में स्टिल चित्र नहीं हैं। पूरी उछल-कूद के साथ गतिशील छवियाँ उनकी कविता का जीवंत हिस्सा हैं। उनकी एक चंचित कविता है ‘घी की मटकी’, जिसकी शुरुआत ऐसे होती है, ‘बिल्ली आई एक कलूटी/छींके ऊपर

देखी मटकी/कूदी, उछली, लपकी, लटकी/यहाँ चढ़ी वहाँ से अटकी!’ देखिए, कैसी गतिशीलता है एक-एक चित्र में। पद्मा चौगाँवकर की कविता ‘बजे नगाड़े बरसे मोती’ में लोकप्रतीकों का सफल प्रयोग करते हुए कविता को अनूठापन दिया है।

इसी धारा में सुधा चौहान की ‘ऊँट’ और केले पर लिखी कविताएँ, शीला गुजराल की ‘मेरे खिलौने’, सावित्री परमार की ‘बरगद बाबा’, मधु भारतीय की ‘सपने में ईश्वर’, सरोजिनी प्रीतम की ‘गुड़िया के गहने’, इंदिरा परमार की ‘नए नजारे’, लता पंत की ‘अजब नजारे’, सरल जैन की ‘सर्कस का शेर’, नीलिमा सिन्हा की ‘धुनक धुनक धुन’, प्रभाकिरण जैन की ‘अपना घर’, सुमन बिस्सा की ‘चिड़िया के पंख’, रचना सिद्धा की ‘पंख जो होते’ उल्लेखनीय कविताएँ हैं।

इन सबके बीच विशेषतः जिन कवयित्रियों ने पूरी तरह नई अनुभूतियों और तेवर के साथ बाल-कविता का सृजन किया है, उनमें एक चर्चित नाम है उषा यादव का। उन्हें कविता रक्त में मिली है। जाहिर है, कविता का संस्कार उनके पास है। कविता को कविता की तरह साधकर लिखने और लिखने की अपनी निजता भी। ‘गुस्सा हैं हम जाओ जी’ कविता में बच्चे के गुस्सा होने के मूड़ और कारणों को वह पूरी तरह कविता में लाई हैं। बच्चे से चिड़ियाघर जाने का वायदा कर काम के बहाने बनाने से पापा पर बच्चे को गुस्सा तो आएगा ही—‘हर इतवार हमें चिड़िया घर चलने का लालच देंगे/और उसी दिन दुनिया भर के कामों को फैला लेंगे और फिर दो हाथ आगे जाकर गुस्से का तीव्र स्वर ‘बुद्धू हमें समझ रख्खा है!’ इसी तरह बस्ते के बोझ से परेशान बच्चे को कविता में कैसे ले आती हैं उषा यादव ‘उफ बस्ता कितना भारी है।’ यहाँ ‘उफ’ का प्रयोग कविता में शब्द के मूड़ और स्थिति की अर्थवत्ता को व्यक्त करता है।

इंदिरा गौड़ गीत की सिद्ध कवयित्री हैं, जो एक लंबे समय से सृजन में हैं। देर से ही सही, उन्होंने अपनी सृजनशीलता में बच्चों की चिंता की है। उनका बीसवीं सदी के अंतिम दशक में बाल-कविता में आना और अच्छी बाल-कविताएँ लिखना एक शुभ संकेत है। इंदिरा गौड़ की बाल-कविताएँ अपनी सरलता में बच्चे की दुनिया से दो-चार होते हुए असाधारण कविता की शक्ल लेती है। हर बार उनकी कविता में एक आर्द्रता उपस्थित हो जाती है। देखें ‘बादल’ कविता में बच्चा बादल से कैसा अनुरोध करता है—‘बंद करो पानी बरसाना/चिड़िया कहाँ चुगेगी दाना।’ ‘अरी घुमक्कड़ चिड़िया सुन’ की शुरुआत कुछ ऐसे होती है—‘अरी घुमक्कड़ चिड़िया सुन/उड़ती फिरे कहाँ दिन भर/कुछ तो आखिर पता चले/कब जाती है अपने घर?’ कविता का आखिरी हिस्सा बेजोड़ है, जो सचमुच इस कविता को एक मुकम्मल बाल-कविता बनाता है।

ममता कालिया की बाल-कविताएँ अपने कलेवर में चकित करती हैं। ‘प्यारी मुन्नी’ में रसोईघर में पराँठों की किस्मों को लेकर उनका बखान करना जिसमें कविता की लय झूमते हुए साथ चलती है, गजब की है। देखें—‘एक पराँठा आलू वाला/एक पराँठा पिट्ठी का/दही मँगा लो कुल्हड़ भरकर/बने नाश्ता छुट्टी का!’ यह शिशु कविता गजब की चुस्ती और बनावट से चमत्कृत करती है।

शकुंतला कालरा बच्चों की कविता में उतरती हैं, तो उनकी कविता का संवेग एक जादुई सम्मोहन से बाँधता है, हालाँकि उनकी कविताएँ लंबी हो जाती हैं। ‘भूरी बिल्ली आई दिल्ली’ और ‘मुर्गे राजा’ उनकी अच्छी और दिलचस्प कविताएँ हैं। भूरी बिल्ली का दिल्ली आकर कैसा

हाल होता है—‘भूरी बिल्ली आई दिल्ली/लोग उड़ाएँ उसकी खिल्ली!’ यहाँ यह कहना भी वाजिब है कि परंपरागत ढाँचे को तोड़कर कविता में कुछ नया जोड़ने की उन्हें जरूरत है।

इस दौर की एक खासियत यह भी है कि इस दौर में कवियों की एक लंबी कतार ऐसी भी है, जो पहले भी कविता लिखते रहे हैं। इन कवियों ने भी बच्चों के लिए कविताएँ लिखीं और जमकर लिखीं। ऐसे कवियों में उल्लेखनीय हैं—हरिवंशराय ‘बच्चन’, रघुवीर सहाय, फणीश्वरनाथ ‘रेणु’, अरविंदकुमार, विनोद शर्मा, विजयकिशोर ‘मानव’, अमरनाथ श्रीवास्तव, केवल गोस्वामी, राजेंद्र ‘मिलन’, रामगोपाल शर्मा ‘दिनेश’, श्याम विमल, प्रतीक मिश्र, विश्वंभर अरुण, जयनारायण कौशिक, अशोक चक्रधर, इलाशंकर गुहा, प्रबोधकुमार गोविल, डॉ० जयनाथ नलिन, डॉ० कुँअर ‘बेचैन’, रमेश आजाद, पवन करण, लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, संजीव ठाकुर, श्याम सुशील सहित नवगीत के चर्चित कवि अश्वघोष, शैलेश पंडित, ओम प्रभाकर, रमेश रंजक, माहेश्वर तिवारी हैं। इन कवियों में नईम की ‘किस्से में किस्सा’, ‘रंजक’ की ‘चंदामामा दूर के’ ओम प्रभाकर की ‘दौड़’ दिलचस्प कविताएँ हैं, जो पुरानी जमीन को तोड़कर लिखी गई हैं। अश्वघोष की बाल-कविताएँ सपनों और शरारतों से भरी हैं, जिनमें खिलंदड़ापन है। उनकी बाल-कविताएँ एक जीवंत बच्चे की तरह हैं। इसीलिए उनके बीच से बच्चे की जिज्ञासा, उसकी समस्याएँ, समय-सापेक्ष होने की अर्ज से फूटती दिखाई देती हैं। इस लिहाज से ‘समय नहीं है’, ‘पहाड़’, ‘भारी बस्ता’, ‘मणियों का जूता’, ‘तीन तिलंगे’, ‘बादल भइया’, ‘ताक धिनाधिन’ इनकी बेहतरीन कविताएँ हैं। ‘समय नहीं है’ में बच्चे के मन को कैसे खोला है कवि ने, देखें—‘नानी नानी/कहो कहानी/समय नहीं है बोली नानी।’ फिर बच्चा एक के बाद एक परिवार के हर सदस्य के पास जाता है, पर सबका एक ही बहाना कि समय नहीं है। अंत में बच्चे का कहना—‘मेरी समझ नहीं आता है/इनका समय कहाँ जाता है।’ कविता का यह बेजोड़ हिस्सा साफ तौर पर यह कहता है कि आज के दौर में बच्चों से न बतियाना, उनकी दुनिया में बड़ों का शामिल न होना, उनके बारे में न सोचना कितना चिंतनीय है। ‘पहाड़’ भी अश्वघोष की एक चर्चित कविता है। बकौल प्रकाश मनु, ‘यह कविता शताब्दी के आखिरी दौर की हिंदी बाल-कविता की एक प्रमुख उपलब्धि है।’

माहेश्वर तिवारी का नव-स्वर ‘पत्ते झरने लगे डाल से’ शैलेश पंडित की ‘बादल के पंख’ का रचना-विधान, प्रतीक-योजना और बिंबों का सौंदर्य मुग्ध करनेवाला है।

इस युग में हरिवंशराय ‘बच्चन’, श्यामसिंह ‘शशि’, सरस्वतीकुमार दीपक, भवानीप्रसाद मिश्र, हरिकृष्ण देवसरे, चंद्रसेन ‘विराट’, जयप्रकाश भारती का रचना-अवदान बाल-कविता को मिला। इस अवदान पर गर्व किया जा सकता है। हरिवंशराय ‘बच्चन’ का नाम महत्त्वपूर्ण नाम है। बच्चों ने इन्हें काफी पसंद किया है। उनकी कविताओं में गेयता है। कल्पनाओं का नयापन उन्हें रूप देता है और एक ताजगी भी। ‘नीली चिड़िया’, ‘काला कौआ’, ‘चिड़िया का घर’ जैसी कविताएँ बेहद खूबसूरत हैं और बच्चों का ध्यान अपनी ओर खींचती हैं।

सरस्वतीकुमार दीपक की बाल-कविताएँ उपदेश से हटी हैं और अनुभूति से सटी हैं, वे सचमुच बाल-मन के चितरे कवि हैं। ‘गुड़िया घर’, ‘मिट्टू का बाजा’, ‘हाथ उठा नाची तरकारी’ उनकी अद्भुत कविताएँ हैं। भवानीप्रसाद मिश्र की ‘फागुन का गीत’, चंद्रसेन विराट की ‘मुन्ना सीख रहा है चलना’, जयप्रकाश भारती की ‘पगलो मौसी’, ‘रॉकेट’ और श्यामसिंह शशि की ‘कबूतर’ और ‘बालवर्ष’ जैसी कविताएँ इसी दौर में बाल-कविता में अपने रूप-रंग के साथ

शामिल हुई।

इस दौर के कुछ अन्य उल्लेखनीय बाल कवि हैं—निकष परमार, बाबूलाल शर्मा 'प्रेम', प्रेमकिशोर पटारखा, भगवानस्वरूप सक्सेना, 'मुसाफिर', देवव्रत, ओम उपाध्याय, लक्ष्मीनारायण 'पयोधि', छविनाथ तिवारी, अशोक अंजन, सुंदरलाल 'अरुणेश', उद्भ्रांत, विश्वबंधु, चंद्रेश, प्रमोद जोशी, राकेश अचल, अशोक आंद्रे, ज्ञानेंद्र साज, श्यामकुमार दास, रूपसिंह चंदेल, नवीन रश्मि, सुनीता कुट्टी, मदनगोपाल शर्मा, हरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय, कृष्ण सोबती, स्नेहलता प्रसाद, वीरकुमार अधीर, ओमप्रकाश सिंहल, कपिल, प्रबोधकुमार गोविल, विष्णु खन्ना, पुष्पारानी मिश्र, रामावतार त्यागी, श्यामदत्त पराग, श्याम निगम, तारादत्त 'निर्विरोध', धीरेंद्रकुमार यादव, सुधीर सक्सेना 'सुधि', गोपालकृष्ण कौल, रामप्रसाद मिश्र, अजय जनमेजय, पूरन सरमा, रमेशचंद्र शाह, सत्यदेव आजाद, शिव मृदुल, नवीन जैन, बानो सरताज काजी, प्रत्यूष गुलेरी, परशुराम शुक्ल, प्रभाष मिश्र 'प्रियभाष', मुनीलाल उपाध्याय 'सरस', रतनसिंह किरमोलिया, योगेंद्रसिंह भाटी, ओमप्रकाश चतुर्वेदी 'पराग', अनवार-ए-इस्लाम, रामनारायण त्रिपाठी, 'पर्यटक', प्रेमचंद गोस्वामी, प्रमोद लायट्टू, शंभुलाल शर्मा 'बसंत', दर्शनसिंह आशट, राजीव सक्सेना, गजेंद्र 'बटोही', संतोषकुमार सिंह, वेदप्रकाश सिंह 'प्रकाश', मधुसूदन साहा, केदारनाथ 'कोमल'। इनमें हरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय की अद्भुत लय और नाटकीयता भरी 'नानी की नाव चली' जैसी अविस्मरणीय कविता है, तो दूसरी तरफ ऐसे कवि भी हैं, जिनकी कविताएँ सिर्फ खुद को बार-बार दोहराने की कवायद सी हैं।

इसी तरह बीसवीं सदी के अंतिम दशक और नई सदी में दाखिल होते तेजी से उभरे समर्थ बाल-कवियों की एक लंबी सूची है, जिसे मुकम्मल तो नहीं कहा जा सकता, पर जो याद आ रहे हैं और जिन्होंने अच्छी बाल-कविताएँ लिखी हैं, इनमें हैं—मो० फहीम, साजिद खान, शंभुनाथ तिवारी, शिवदेव मन्हास, ओमप्रकाश कश्यप, किशोरकुमार कौशल, सूरजपाल चौहान, डोमन साहू 'समीर', लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, विपुलकुमार, शिवचरण चौहान, पीयूष वर्मा, अरविंद बख्शी, अंजलि रस्तोगी, शिवनारायण, बलराम गुमाश्ता, जगदीश तोमर, जयपालसिंह 'तरंग', श्याम सुशील, कृष्णवल्लभ 'पौराणिक', शिशुपाल सिंह 'निर्धन', भालचंद्र सेठिया, योगेंद्रपाल दत्त, चंद्रमोहन दिनेश, अनंतप्रसाद 'रामभरोसे', सुरेश 'सपन', विनोद 'भुंग', सफदर हाशमी, लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, रमेश राज, शिव गौड़, सुशील सिद्धार्थ, रमाशंकर चंचल, कमलेश भट्ट 'कमल', नरेंद्र 'मस्ताना', त्रिलोक महावर, हरीश दुबे, जगदीश 'व्योम', दिनेश पाठक 'शशि', निशेष जार, सुशीला 'शील', हरि 'मृदुल', अरविंद राज, नागेश पांडेय 'संजय', रामदुलारा 'पराया', अभिरंजन कुमार, आसिम पीरजादा, विज्ञानव्रत, अरशद खान, जाकिर अली 'रजनीश', राजेंद्र मिलन, धनंजय सिंह, आजाद रामपुरी, शिवअवतार रस्तोगी 'सरस', महेश सक्सेना, सतीश भगत, सूरज 'मृदुल', हूंदराज बलवाणी, डॉ० पद्मा सिंह, कृष्णा खंडेलवाल 'कनक', 'मालती वसंत', निरुपमा अग्रवाल, महेंद्रपाल कांबोज, जीवन शुक्ला, कमलेश द्विवेदी, दयानंद अटल, कमल मुसद्दी, प्रदीप भटनागर, डनलप, राजकिशोर सक्सेना, शेषपालसिंह शेष, परशुराम शुक्ल, शिवांक और मोक्ष गौड़।

श्याम सुशील (ज० 1957) की कविता एक अनूठापन लिए बच्चों से बच्चे की बातें करती है। 'होती मैं भी चंचल तितली', 'घाऊँ-माऊँ', 'धूप जनवरी की', 'इतना भारी बस्ता', 'रंग हवा का' और 'पापा की चिट्ठी' कुछ ऐसी ही कविताएँ हैं, जिनसे उनके अंदाज को देखा

जा सकता है। ऐसी ही कविताएँ अपने दौर की उपलब्धियों में गिनी जाती हैं, जिनसे बाल-कविता के विस्तार और सामर्थ्य का पता चलता है। 'पापा की चिट्ठी' कविता प्रतीक्षा के बाद पापा की चिट्ठी आने की उत्फुल्लता के बीच के दृश्यों और अनुभूतियों से भरी है। जरा देखें—'दिल्ली से चल करके आई/जाने कहाँ-कहाँ से होकर/आज हमारे घर तक आई, और सुख यह भी कि—बहुत दिनों के बाद याद/पापा को उनकी बिट्टी आई।' सचमुच वास्तव में बाल-कविताओं को ऐसी ही जमीन की जरूरत है।

इस दौर में डॉ॰ जयपाल 'तरंग' की 'ता ता-थैया' अपनी कथात्मक कहन के कारण लुभाती है, तो शिशुपाल सिंह 'निर्धन' की 'तोता-मैना' तथा 'ऊँट और हाथी' के कथ्य चकित करते हैं। भालचंद्र 'सेठिया' की 'हम तो हैं हैरान' एक ऐसी पृष्ठभूमि को कविता में लाती है, जिस पर कम ही कवियों का ध्यान गया है। शिव 'मृदुल' के यहाँ 'पतंग का मौसम' ऐसा है कि अब तक की पढ़ी गई कविताओं में सबसे अलग और चटकीला रंग। अपनी लय और उड़ान के कारण एक मस्त कविता। पतंग के खेल में जाहिर है कि बच्चों को सुख मिलता है। देखें, 'मौसम आज पतंगों का है/नभ में राज पतंगों का है।' और 'बच्चे निकलें सब ले डोर पतंगों/सुंदर सी चौकोर पतंगों।' किसे भली नहीं लगेगी यह कविता!

अनंतप्रसाद रामभरोसे की कविता चुहिया को खटर-पटर करने से रोकती है, क्योंकि मम्मी का तंग होना बच्चे को पसंद नहीं—'खटर-पटर मत कर री चुहिया, खटर-पटर मत कर!' कैसा स्वर कि ताज्जुब होता है। सर्कस पर लिखी बाल-कविताओं में 'जोकर' पर भी लिखा गया है, पर ऐसी नहीं जो विनोद 'भृंग' की कविता—'सर्कस का जोकर' में उभरा है। बच्चे की चाह यह कि 'मेरा भी जी करता मम्मी, मैं जोकर बन जाऊँ/न चिड़िया न कुछ बस इतना कि भर्ती हो जाऊँ सर्कस में अभी बड़ा होकर!' हालाँकि विनोद 'भृंग' ने आठवें दशक में बाल-कविता लिखना शुरू किया, मगर उनकी कविताओं ने अंतिम दशक में ही ज्यादा विस्तार लिया।

सफदर हाशमी नुक्कड़ नाटकों के लिए खासे चर्चित रहे, पर उनकी कविताएँ अपने कथ्य की विशेषता के कारण ध्यान खींचती हैं। नाटकीयता और किस्सागोई सफदर की कविताओं में खूब मिलती है। 'किताबें', 'पिल्ला', 'मच्छर पहलवान', 'राजू और काजू' उनकी बेहद दिलचस्प कविताएँ हैं। लक्ष्मीशंकर वाजपेयी की 'भोलू हाथी' गजब की कविता है। चींटी का बच्चा हाथी से यह कहे—'चींटी का बच्चा बोला तुम तनिक नहीं घबराना/मम्मी के आते ही बस, मेरे पीछे छुप जाना!' यही है बच्चों का भाव-संसार। उनके यहाँ कुछ और अच्छी कविताएँ मिल जाती हैं, जो आगे की आश्वस्ति देती हैं।

अजय जनमेजय ने रूटीन की बहुतेरी कविताएँ लिखी हैं, मगर उनकी 'रेल चली छुक-छुक' सधी हुई लय के कारण मन मोहती है, जिसे बच्चे पढ़ेंगे ही नहीं, झूम-झूमकर गाएँगे भी। हरि मृदुल की कविता 'लाल टमाटर-हरे टमाटर' एक सरस और अद्भुत शिशु कविता है। बीते दिनों में नरेंद्र 'मस्ताना' की कविता 'चिड़िया आनेवाली है' ने अपनी ओर ध्यान खींचा, जिसके कथ्य बेहद सरल और बाल मन के करीब हैं—'माँ चावल के दाने दे दो, चिड़िया आनेवाली है!' ऐसे ही नागेश पांडेय की कविता 'धूप न निकली, आज कहीं बीमार तो नहीं!' बच्चे के सदय होने और उसके भोलेपन को खोलती है।

हिंदी बाल-कविता के इस दौर में एक साथ लिखने वालों में मो॰ साजिद खान, अरशद

खान, मो० फहीम के नाम भी हैं। इनमें मो० फहीम की 'मेरी अलमारी' अच्छी कविता है। हालाँकि इसकी पृष्ठभूमि 'नानी का संदूक' जैसी है, मगर मोबाइल गेम जैसे प्रयोग से यह कविता अपने समय से जुड़ते हुए प्रभावित करती है। इसी क्रम में मो० साजिद खान की कविता 'नानी का बिस्तर' की भी चर्चा की जा सकती है। इसी त्रयी के मो० अरशद खान की 'पवन झकोरा' के दृश्य तेज हवा के प्रभाव से बननेवाले चित्रों को अपनी कविता में लाते हैं। इसी दौर में सुरेश 'सपन' ने भी बाल-कविता में अपनी दस्तक दी। इनकी कविताएँ सधी हुई बोल-चाल की भाषा में होने के कारण बच्चों को आकर्षित करती हैं। 'मेरी गुड़िया रानी' कविता में गुड़िया का केरीकेचर खूब बना है। शिव गौड़ की 'पापा मेरे प्यारे हैं' और आसिम पीरजादा की 'मौसम की चिड़िया' भी अपनी सधी लय और नव्यता के कारण ही ध्यान खींचती हैं।

अभिरंजन कुमार की बाल-कविता ने भी बीच-बीच में कुछ अच्छी कविताएँ दी हैं। इधर एक साथ अभी भी कई पीढ़ियों का बाल-कविता में तल्लीन होना और साथ ही शिवांक और मौक्ष गौड़ जैसे बालकों का बाल-कविता के बारे में सोचना और लिखना यह तो तय करता ही है कि हिंदी बाल-कविता की यह प्रगति-धारा अपने आगे के दौर और समय के साथ निःसंदेह अच्छी बाल-कविताएँ जोड़ती चलेगी। अच्छी बाल-कविता की यह धारा निरंतर प्रवाहमान रहेगी।

संदर्भ

1. फजल इमाम मलिक, काव्यम्, सितंबर-अक्टूबर, 2004, पृ० 25
2. बालगीत साहित्य, हिंदी बालगीत साहित्य के इतिहास की भूमिका, निरंकारदेव सेवक, प्रकाशक, उ०प्र० हिंदी संस्थान, लखनऊ, उ०प्र०, 1983, पृ० 117
3. बालगीत साहित्य : हिंदी बालगीत साहित्य के इतिहास की भूमिका, पृ० 119
4. द्विवेदीयुगीन बालकाव्य चेतना, डॉ० रत्नाकर पांडेय, भाषा, मई-जून 2007, पृ० 4
5. हिंदी बाल-कविता का इतिहास, प्रकाश मनु, मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा दिल्ली, 2003, पृ० 20
6. भारत मित्र, हिंदी शिक्षावली की समालोचना का परिणाम, 29 जनवरी 1900
7. बालगीत साहित्य, इतिहास एवं समीक्षा, निरंकारदेव सेवक, पृ० 133
8. बालगीत साहित्य, निरंकारदेव सेवक, पृ० 130
9. मनोविनोद, स्फुट कविता-संग्रह, बालविलास खंड, श्रीधर पाठक, नवलकिशोर प्रेस, पृ० 16 से 23
10. बाल सखा, जून 1917, 71, जुलाई 1918, पृ० 199
11. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मुक्तक रचनाएँ, डॉ० कन्हैयासिंह, पृ० 85
12. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मुक्तक रचनाएँ, डॉ० कन्हैयासिंह, पृ० 82
13. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मुक्तक रचनाएँ, डॉ० कन्हैयासिंह, परिशिष्ट एक, क्र०सं० 10-11
14. सरस्वती और राष्ट्रीय जागरण, परिशिष्ट, सरस्वती में प्रकाशित सामग्री, 1900-1920 (कविता) पृ० 155, 157, 163, 164
15. हरिऔध शती स्मारक ग्रंथ, संपादक विश्वनाथ लाल शैदा, डॉ० किशोरीलाल, प्रकाशक हरिऔध शोध संस्थान, हरिऔध कला भवन, आजमगढ़, 1996, पृ० 131-143

सूरदास की कृष्ण-भक्ति रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'

हिंदी साहित्य जगत् में कृष्णभक्ति पर केंद्रित सूर की काव्यधारा उत्कृष्ट है; इसे पुनः-पुनः पढ़ते हुए समझने की आवश्यकता है; चूँकि वर्तमान में काव्य अपनी आत्मा अर्थात् मूल सौंदर्य (रस, छंद एवं अलंकार) से भटकाव की स्थिति में है। प्रस्तुत शोध आलेख में सूर के मूलग्रंथ सूरसागर के गहन अध्ययन के आधार उनके काव्य की विशिष्टताओं को विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे; किंतु इससे पूर्व इस भक्तिधारा का अति संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय आवश्यक है।

इस संबंध में उल्लेखनीय है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने दास्य, सख्य, वात्सल्य व दांपत्य सभी प्रकार के भावों से श्रीकृष्ण की उपासना का विधान किया, परंतु उनका झुकाव मुख्यतः वात्सल्य भाव की ओर ही रहा। वात्सल्य भाव के साथ भक्त अलौकिक सुख का अनुभव करता है। विट्ठलनाथ ने अपने ग्रंथ 'शृंगाररस मंडन' में मधुर रस की स्थापना की। लेख में जो शृंगाररस है, भक्ति में वह मधुर रस कहलाता है। सूर ने गुरु वल्लभाचार्य की प्रेरणा से अनुप्राणित होकर बालरूप से तादात्म्य स्थापित करके अपनी भावानुभूति व्यक्त की, तो दूसरी ओर अपने साहित्य में माधुर्य का भी अधिष्ठान किया। इसे समझने हेतु हमें भारतीय साहित्य में निहित भक्ति-परंपरा को संक्षेप में समझना होगा।

भारतीय साहित्य में भक्ति परंपरा—परंपरा के अनुसार ईश्वर के दिव्य रूप के तीन गुण हैं— अनंत शक्ति, अनंतशील और अनंत सौंदर्य। सूर की वृत्ति अनंत सौंदर्य में अधिक रमती है। यह सौंदर्य सख्य, वात्सल्य और दांपत्य तीनों भावों का आधार है। भक्ति के लिए सौंदर्य एक अति आवश्यक तत्त्व है। सौंदर्य से ही आकर्षण की उत्पत्ति होती है; इस पर श्रद्धा आधृत होती है और श्रद्धा पर भक्ति। इसप्रकार सौंदर्य एवं भक्ति का अन्योन्याश्रित संबंध है। उल्लेखनीय है कि कृष्ण का सौंदर्य अद्वितीय और अलौकिक है—सोभा-सिंधु न अंत रही री।

अब हम सूर के भक्तिभाव पर प्रकाश डालेंगे। सूरदास भक्त थे। भक्त के लिए साहित्य केवल साधन होता है। सूर ने पुष्टिमार्ग के अनुयायी होते हुए भी अपनी शक्ति का अपव्यय सिद्धि विवेचन से नहीं किया। तन्मयता में उनकी वाणी ने जो शब्दविधान किया वह उनके भक्तहृदय की सहज अभिव्यक्ति थी। जहाँ पुष्टिमार्ग की विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे सायास नहीं, अनायास हैं।

इस प्रपंचात्मक संसार से हरि-भक्ति ही मुक्ति दिला सकती है। हरिनाम के बिना प्राणी संसार-सागर से पार नहीं हो सकता। नवधा भक्ति को साधन रूप में सूर ने स्वीकारा, किंतु साध्य प्रेमलक्षणा भक्ति ही है। यही आत्मा-परमात्मा के ऐकांतिक मिलन में सहायक है। प्रेम में यदि

कामुकता की झलक मिलती है तो वह लौकिकता के लिए है। सगुण-उपासना के लिए यह लौकिक आधार नितांत आवश्यक है। सूर, कृष्णभक्ति को ही अपना प्राप्य मानते हैं। भक्तिविहीन सारे सुख तुच्छ हैं—

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।

छूटि गएँ कैसे जन जीवन ज्यों पानी बिनु पान।

सच्चे भक्त को प्राण और भक्ति में अंतर नहीं दिखाई देता। भक्तिभाव उसके लिए मानसिक वृत्ति या आलंबन बन जाता है। ईश्वर के प्रति उसका पूर्ण समर्पण हो जाता है—‘हमें नंद-नंदन मोल लियो।’ अपनत्व की भावना भक्त के सब दोषों का परिहार कर देती है। भक्त कह उठता है—‘जो हम भले-बुरे तो तेरे’—भक्त और हरि दो नहीं होते। वे तो अभेद और अभिन्न होते हैं। सूरदास जी ने यही बात कृष्ण जी से कहलवाई—‘हम भक्तनि के, भक्त हमारे।’—भक्त और भगवान की निकटता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है—‘जो भक्तनि को बैर करत है, सो बैरी मिल मेरौ।’ आत्मा व परमात्मा भक्त व भगवान की एकात्मकता बिरले लोग जानते हैं—

हरि हरि-भक्त एक, नहीं दोई
पै यह बिरला जानत कोई।

इस एकात्मकता में एक पल का वियोग भी असह्य हो जाता है। सूर ने अपने हृदय की विकलता यशोदा के शब्दों में प्रकट की है—‘पलक ओट भाव तनहिं मोकों कहा कहौं तेहिं बाता।’ कृष्ण राधा से हाथ छुड़ाकर भाग जाते हैं। यह अलगाव शारीरिक है; मानसिक अथवा आत्मिक नहीं। तभी तो राधा ने कहा—‘तौ जानौं जौ अब एकौ छन सकौ हृदय तैं जाइ।’ भक्त के हृदय से भला कैसे निकलकर भागा जा सकता है? कृष्ण निर्बंध एवं मुक्त हैं; परंतु वे भी भक्तों के वश में हो जाते हैं। भक्तों को रिझाने के लिए उन्हें निर्गुण निराकार से सगुण साकार बनना पड़ता है—

भक्ति के बस स्याम सुंदर देह धरे आवै।

कृष्ण ब्रह्म से लेकर कीट तक सबके राजा हैं। भक्तों के कारण उन्हें प्रकट होना पड़ता है। धन्य है कृष्ण की यह परवशता—

भक्त हेत अवतार धरौं।

कर्म-धर्म के बस मैं नहीं, जोग जज्ञ मन मैं न करौं।

सूरदास जी ने कृष्ण की भक्ति के लिए भाव को अधिक महत्त्व दिया है। जिस भाव से कोई उनका भजन करता है, वे उसी भाव से अपने भक्तों को दर्शन देते हैं। उनके मन को भाने वाली क्रीड़ाएँ एवं लीलाएँ करते हैं। भक्त इनकी लीलाओं के सहचर हैं। सूर की भक्ति-पद्धति को न जानने के कारण इन पर शृंगारिकता और विलासिता की उद्दाम चेतना का आरोप लगता रहा है। भक्ति वस्तुतः भावाश्रित है। सौंदर्य में शृंगारिक चेष्टाएँ अनिवार्य होने के साथ-साथ सहज और लौकिक हैं। लोकधर्म की उपेक्षा उसमें नहीं। कृष्ण के यहाँ—‘जाति-पाँति कोउ पूछत नाहीं, श्रीपति के दरबार’ की स्थिति है। पुरुष और नारी का भेद भी उनके लिए नहीं है—

हरि-हरि-हरि सुमरौं सब कोई
नारी-पुरुष हरि गनत न कोई।

वे पूर्णकाम होते हुए भी भक्त की कामनाएँ पूर्ण करने के लिए कामातुर रहते हैं। इसीलिए सूरदास, कृष्ण के साथ उन्हीं जैसा आचरण करना चाहते हैं। यही तादात्म्य की स्थिति है। वृंदावन

उनसे छोड़ते नहीं बनता—

अब तो यह बात मन मानी

छाड़ौं नाहिं स्याम, स्याम की वृंदावन रजधानी।

सूर के कृष्ण किसी भेद को मानते ही नहीं; इसीलिए वे सूर को प्रिय हैं—‘भजै जिहिं भाव जो, मिलै हरि ताहि त्यों, भेद भेदा नहीं पुरुष नारी।’ प्रमुखता भाव की है, पुरुष या नारी होने का भेद नहीं। जिस भाव से कोई कृष्ण को चाहता है, वे उसे उसी भाव से मिलते हैं। गोपियों ने काम-भाव से कृष्ण का ध्यान किया तो कृष्ण ने—‘अधर सुधारस चाखी।’ परंतु यह लीला है। सूर के कृष्ण को भक्तों के कारण ही ऐसा करना पड़ता है—

यह लीला सब स्याम करत हैं, ब्रज जुवतिनि के हेत

सूर भजै जिहिं भाव कृष्ण को, ताकौं सोइ फल देत।

यद्यपि सूरदासजी ने बार-बार भक्ति-भाव पर बल दिया है; तथापि वे कृष्ण के प्रति अन्यान्य सभी भावों से समर्पित हैं। राधा के माध्यम से उनकी मधुरा भक्ति उमड़ पड़ती है। राधा कहती है—‘हे कृष्ण, तुममें तरुणाई प्रकट होने लगी है।’ कुछ गोपियाँ तो यहाँ तक कह देती हैं कि तुम हो तो दस बरस के पर बातें बहुत गढ़-गढ़कर कहते हो। दस बरस के कृष्ण का यौवन-दान माँगना लौकिक होते हुए भी अलौकिक है। राधा तथा अन्य गोपियों से श्रीकृष्ण कहते हैं—

जो मौकौं जैसे कि भजै री, ताकौं तैसे ही मानौ

तुम तप कियौ मोहिं को मन दै, मैं हौं अंतरजामी

जोगी को जोगी हवै दरसौं, कामी को हवै कामी।

कामी और योगी दोनों समान हैं। लीलाधारी कृष्ण योगी के लिए योगेश्वर हैं, तो कामी के लिए अति कामातुर हैं। गोपियाँ कृष्ण को अनन्य भाव से प्रेम करती हैं। अनन्यता में ही भक्ति की एकाग्रता और समर्पण है। इसीलिए तीनों लोकों को वशीभूत करनेवाले कृष्ण उनके वश में हैं—

सुनहु सूर त्रिभुवन बस जाकें, सो प्रभु भए जुवतिनि बस आई।

ये युवतियाँ सौंदर्य और प्रेम की माधुरियाँ हैं। मधुराभक्ति में ही पूर्ण समर्पण की संभावना है।

वल्लभाचार्य के संपर्क में आने से पूर्व सूरदास की भक्ति में निर्गुण-निराकार, अगम-अगोचर ईश का ही स्मरण मिलता है। विनय की यह भावना अंतर्धारा के रूप में उनके भक्तिकाव्य में प्रवाहित होती है। अवतारों में सम्यक् श्रद्धा-भाव होते हुए भी उन्हें सौंदर्यपूर्ण लीलामय कृष्ण ही भाते हैं। यही कारण है कि उनका शक्ति और शील वाला रूप सूर को अधिक नहीं भाता। लोकरक्षक के रूप में कृष्ण की लीलाओं और शौर्य-कथाओं को सूर संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए आगे बढ़ जाते हैं।

सामान्यतः भक्ति दो प्रकार से की जाती है—सगुण तथा निर्गुण। सूर ने सगुण भक्ति को प्रधानता देते हुए भी निर्गुण का नितांत विरोध नहीं किया। निर्गुण और निराकार स्वरूप जनसाधारण की पहुँच से परे है। अतः प्रश्न उठता है कि जो पहुँच से परे है, उसके साथ तन्मयता कैसे स्थापित हो सकती है? इसे दृष्टिगत रखते हुए जनसामान्य हेतु सरल एवं सहज सगुण भक्ति ही स्वीकार्य है। उदाहरणार्थ भ्रमरगीत में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

काहे कौं रोकत मारग सूधो

सुनहु मधुप निर्गुन कंटक तैं राजपंथ क्यो रूँधौं।

उद्धव को भी सगुण के आगे नतमस्तक होना पड़ता है। वे कृष्ण से अपने वैचारिक परिवर्तन की बात स्पष्टतया कह देते हैं—

अब अति पंगु भयो मन मेरो

गयो तहाँ निर्गुन कहिबे को भयो सगुन को चरो।

उपर्युक्त के साथ ही उल्लेखनीय है की सगुण भक्ति का महत्त्व रेखांकित करते हुए भी सूर अंततः निर्गुण भक्ति के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। सूर ने इस बात को ध्यान में रखा कि कहीं ऐसा न हो कि उन्हें साधारण गोपबंधु या राधा-गोपियों का प्रेमी मान लिया जाए; इसीलिए लीलागान में सूर, कृष्ण के उस निराकार रूप की याद दिलाना नहीं भूलते।

सूर के अनुसार गोलोक गोकुल के रूप में अवतरित हुआ। जीव गुपाल (परमात्मा) का ही अंश है। कृष्णमय हो जाना ही जीवन की सार्थकता है। कृष्ण के समान और कोई नहीं है—

हरि सौं ठाकुर और न जन को

जिहिं-जिहिं विधि सेवक सुख पावै, तिहिं विधि राखत मन को।

वे अनाथों के संगी हैं, नाथ हैं। दीनदयाल और परम करुणामय हैं। इनकी माया को कोई नहीं जान पाता। वे सगुणरूप में देह धारण करते हैं—

जाकी माया लखै न कोई, निर्गुन सगुन धरै बपु सोई।

बलराम कृष्ण के सर्वव्यापी स्वरूप को जानते हैं। कृष्ण का आदि-अंत नहीं है। वे अक्षर, अच्युत, निर्विकार और निराकार हैं। वे ही सृष्टि का उपादान एवं निमित्त हैं अर्थात् मूल कारण और कार्य (अंतिम) दोनों हैं। ब्रह्म कारण, जगत् कार्य। ब्रह्म सत्य है, तो उसका कार्य भी सत्य है। वेदों की प्रार्थना पर ईश्वर ने अपने त्रिगुणातीत रूप का रहस्य समझाया, जो मन और वाणी की पहुँच से परे है। वेदों ने गोपियाँ बनकर क्रीड़ा करने का वरदान माँगा। सौ कल्प बाद जब हरि ने कृष्ण का अवतार लिया, तो वेद की ऋचाओं ने गोपियाँ बनकर हरि के साथ विहार किया—

भार भयो जब पृथी पर, तब हरि लियौ अवतार।

बेद ऋचा हवै गोपिका, हरि संग कियौ बिहार।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वात्सल्य, सख्य और दांपत्य तीनों प्रकार के भावों का पर्यवसान दैन्य में ही होता है। बल्लभाचार्य से दीक्षित होने के पश्चात् भी इन्होंने विनय के पद रचे, जो और परिष्कृत रूप में हैं। इन पदों में एक भक्त की विह्वलता द्रष्टव्य है। सूर ने भक्ति-भावना को विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया। बालवर्णन में वात्सल्य-भाव यशोदा माता के हृदय से एकाकार हो जाता है। बाल-लीलाओं की मनोमुग्धकारी छटाओं में उनका मन रम जाता है। बालकृष्ण की क्रीड़ाएँ, उनका सौंदर्य, सूर के लिए दुर्निवार आकर्षण है। वात्सल्य-भाव में विरक्ति, इंद्रिय सुख की कामना का अभाव होता है। लोकधर्म का उल्लंघन भी नहीं हो पाता। अतः वात्सल्य को भक्ति का सर्वशुद्ध भाव कहा जाएगा—

सुत-मुख देखि यशोदा फूली

हर्षित देखि दूध की दतियाँ, प्रेम मगन तन की सुधि भूली।

बालक्रीड़ाएँ देखने के लिए सूर स्वयं ब्रजभूमि पर उतर आए। 'कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।' शिशु कृष्ण जैसे ही मुँह में अपने पैर का अँगुठा दबाकर चूसने लगते हैं, जगत् में प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। कृष्ण जब किलकते हैं, तो अपना मुख खोलकर तीनों लोक दिखला

देते हैं। यशोदा चकित रह जाती हैं। सूर ने वात्सल्य भक्ति में कृष्ण की बाल्यावस्था का क्रमिक विकास दिखाया है।

कृष्ण को यशोदा राम की कहानी सुनाती हैं। सीता-हरण प्रसंग सुनते ही कृष्ण अचानक बोल उठे—‘लछिमन धनुष देहुकहि उठे हरि’। अपना पूर्व अवतार उन्हें अचानक याद आ जाता है। पूतना कृष्ण को मारने आई, तो स्तनपान करके उसे स्वर्गलोक पहुँचा दिया। स्तनपान करने के कारण उसे मातृ-पद प्रदान किया। इसके बाद कृष्ण की बालसुलभ मनोवृत्तियाँ यशोदा को परेशान कर देती हैं। कृष्ण में कौतूहल, जिज्ञासा, उच्छृंखलता, चातुर्य का सहज विकास दिखाई पड़ता है। मक्खन चुराने के लिए दूसरे के घर में घुस जाते हैं; पकड़े जाने पर भोलेपन से उत्तर देते हैं—

मैं जान्यों यह घर अपनों है, ता धोखें मैं आयो

देखत हौं गोरस मैं चींटी, काढ़न कौ कर नायो।

सूर का हृदय इस भोलेपन में सराबोर हो जाता है। केवल चींटी निकालने के लिए मक्खन में हाथ डाला है। बालकृष्ण का यह चातुर्य मुग्ध कर लेता है। चोरी करने पर उलाहने आते हैं। यशोदा तंग होकर उन्हें ओखल से बाँध देती हैं और गुस्से में कहती हैं—

सुनहु बात मेरी बलराम

कर देहु इनकी मोहिं पूजा, चोरी प्रगटत नाम।

‘पूजा’ करने में यशोदा का क्रोध जैसे उफन पड़ा हो। लेकिन क्रोध शांत हो जाने पर उसी यशोदा के हृदय से तादात्म्य करके सूर द्रवित हो जाते हैं—‘बरै जेवरी जिहिं तुम बाधै, परै हाथ भहराइ’ ऊखल से बाँधनेवाली रस्सी जल जाए, हाथ टूटकर गिर जाएँ। इन पंक्तियों में वात्सल्य का उदात्त रूप प्रकट होता है। कुबेर के पुत्रों—नल कुबेर और मणिग्रीव का उद्धार करने के लिए कृष्ण जान-बूझकर स्वयं को ऊखल से बाँधवाते हैं। वह माता धन्य है, जो सर्वेश्वर को भी बाँध लेती है—

अखिल ब्रह्मांड जीवन के दाता, माखन कौं बाँधति है माता।

कृष्ण बड़े हुए तो गाय चराने के लिए जाने लगे। सब ग्वाले उन्हें चिढ़ाते हैं, गाएँ भी उन्हीं से घिरवाते हैं। कृष्ण घर आकर यशोदा से शिकायत करते हैं। यशोदा का हृदय पिघल जाता है। वह ग्वालों के प्रति अपना रोष प्रकट करती है—

मैं पठवति अपने लरिका कौं आवै मन बहराइ

सूर स्याम मेरौ अति बालक मारत ताहि रिंगाई।

कृष्ण को रिंगा-रिंगाकर मारने से यशोदा झल्ला उठती हैं। ग्वालों के साथ कृष्ण तरह-तरह की क्रीड़ाएँ करते हैं। पराक्रम के कार्यों को भी सखा सहज रूप में लेते हैं और उनकी अलौकिकता को भूले रहते हैं। रासलीला में सखाओं से भी परामर्श होता है। गोपनीय लीलाओं से भी सखा अनभिज्ञ नहीं हैं। सूर तो भक्ति-भाव में मग्न होकर अभिन्न मित्र की तरह कह उठते हैं—

छबीले मुरली नैकु बजाउ।

बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर-सुधारस प्याउ।

सखाओं से तादात्म्य स्थापित करके सूर कृष्ण के निकट ही बने रहना चाहते हैं। ग्वाल-बालों की क्रीड़ा आध्यात्मिकता से समन्वित है—‘गोपी, ग्वाल स्याम द्वै नाहीं, ये कहूँ नैक न न्यारे।’ गोप-बालक विभिन्न आत्माओं के प्रतीक हैं, जिन्हें आनंदमयी क्रीड़ा करने का अवसर प्राप्त हुआ है। शुरू-शुरू में गोपबालक कृष्ण से चिढ़ते हैं। खेल-खेल में विवाद भी होता है। कृष्ण भी कम नहीं हैं, तभी उन्हें सुनना पड़ता है—

जाति-पाँति हम तैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैंया।

अति अधिकार जनावत यातैं, जातैं अधिक तुम्हारै गैया।

बाद में गोप-बालक इनके अनन्य भक्त बन जाते हैं। मुरली ‘शब्दब्रह्म’ की प्रतीक है। उसका आनंद लोकोत्तर व्यापी है। त्रिगुणातीत श्यामसुंदर ने रीझकर तीनों को—ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय को एक कर दिया है।

माधुर्यभाव में सूर ने प्रेम की महत्ता स्थापित की। यह सौंदर्य दुर्निवार है, रोम-रोम में बस जानेवाला है—

निकसति नहीं बहुत पचि हारी, रोम-रोम अरुझानी।

अब कैसे निरवारि जाति है, मिली दूध ज्यों पानी।

इसी सौंदर्य से प्रेम का आधार परिपुष्ट होता है। कृष्ण प्रेम के वश में रहते हैं। सूर ने स्वकीया और परकीया रति में से स्वकीया रति को ही वरीयता दी है। राधा, श्याम की परिणीता थी। परिणय बिना परमात्मा से मिलन कैसा?

ता परि पानि ग्रहन बिधि कीन्ही, तब मंडप भ्रमि भाँवरि दीन्हीं।

सूर ने माधुर्य-भाव का जो चित्राण किया है, उससे वासना की गंध आ सकती है, परंतु गहनता से देखने पर पता चलता है कि वहाँ वासना का शमन हो गया। स्पर्श-मात्र से ही तन की तृष्णा बुझ गई। चीरहरण के समय कृष्ण की अवस्था आठ-नौ वर्ष की थी; अतः कामुकता का प्रश्न नहीं उठता। श्रीकृष्ण आत्मा, गोपियाँ वृत्तियाँ। वृत्तियों का अनावृत्त होकर आत्मा के समक्ष आना ही चीरहरण है और आत्मा में रम जाना ही रास है। निरावरण और अभेदता से ही साधना को पूर्णता प्राप्त होती है। रासलीला में यह अभेदता गहनतर हो जाती है।

जिससे रस की अभिव्यक्ति हो, उसे ही रास कहते हैं। रासक्रीड़ा में मानसिक रस का उद्रेक होता है। देहजन्य अनुभव से उस रस की उत्पत्ति नहीं होती। रस की उत्पत्ति हेतु उसमें नृत्य का समावेश अनिवार्य है। इसप्रकार रास निरर्तित अलौकिक एवं मानसिक क्रिया है। रासलीला में ‘कियौ स्याम सबको मन भायौ निसि रति रंग जगी।’ सबके मन के अनुसार आचरण किया—जितनी नारियाँ थीं, कृष्ण ने भी उतने ही वेश बना लिए। उन्होंने किसी से भेदभाव नहीं किया।

कृष्ण की छेड़छाड़ की शिकायत जब यशोदा से होती है तो उसे कैसे विश्वास होगा—‘मेरौ हरि कहँ दसहि बरस को, तुमरी जोबन मद उमदानी।’ इस पर गोपियाँ हरि का लीलाधारी रूप बनाती है—

‘बन में तरुन कन्हाइ, घरहिं आवत हवै छौना।’

लीला-वर्णन सूर के हृदय से ओझल नहीं होता है। कृष्ण परब्रह्म हैं, तो राधा उनकी आदि शक्ति है।

सूर का वियोग-वर्णन भी वात्सल्य से ही प्रारंभ हुआ है। विरह ही प्रेम की कसौटी है।

भ्रमरगीत में गोपी-विरह को सूर ने मुखर रूप दिया है। परमात्मा से विमुक्त होने पर आत्मा की व्याकुलता स्वाभाविक है। लरिकार्ई का प्रेम विप्रलंभ में पहुँचकर परिपक्व और पुष्ट हुआ है। यह तन्मयता विरह में ही संभव है। कृष्ण मथुरा चले गए, विरहानुभूति सघन हो गई। गोपियाँ नेत्रों को उपालंभ देती हैं—‘अब काहे जल मोचत-सोचत, सभौ गए तै सूल गई।’

जो कृष्ण सर्वस्व थे, वे चले गए। अब तुम्हारा कष्ट भी हट गया। कृष्ण-दर्शन से तुम्हें कष्ट होता था न? अब नहीं होगा। इस पंक्ति में बहुत गहरा उपालंभ है। आँखों पर ही सारा क्रोध उतर रहा है।

सूर का विरह एकपक्षीय नहीं है। कृष्ण भी व्याकुलता में कह उठते हैं—‘ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।’ ब्रज में मानव एवं प्रकृति सभी का समावेश है। भगवान भक्तों को भूल भी कैसे सकते हैं। एक घड़ी के लिए भी भूलना संभव नहीं—‘जो जन ऊधौ मोहि न बिसारत, तिहिं न बिसारों एक घरी।’ राधा स्वयं माधुर्य भाव की प्रतीक हैं। संयोग की मुखरा राधा वियोग में शांत हो जाती है।

सूर स्वयं को कृष्ण के चरणों में समर्पित कर देते हैं। वात्सल्य, सख्य और माधुर्यभाव के अतिरिक्त इन्होंने नम्रतापूर्वक अपनी अनन्यता की भावना प्रकट की है—‘हरि बिनु मीत नहिं कोउ तेरे’ अनन्यता का यह भाव विविध रूपों में विविध पदों में बिखरा है—‘आन देव सपनेहुँ न जानौ, दंपति को सिर नाऊँ।’ सूर ने प्रेम-भक्ति की याचना की है; क्योंकि राधा-कृष्ण प्रेम के प्रतीक हैं। सूर का यह प्रेमभाव और सख्यभाव सीधे कृष्ण से है। राधा से उन्होंने इस भाव को सीधे नहीं जोड़ा है—‘प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न रोई, नाथ कृपा कर दीजै सोई।’

प्रेम से ही ऐहिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध होते हैं। प्रेम, प्रेम से ही होता है।

सूर का कृष्ण के प्रति दास्य, वात्सल्य, सख्य, माधुर्य कोई भी भाव क्यों न रहा हो; लेकिन प्रत्येक भाव में वे कृष्ण से बँधे हैं। लोकातीत अति प्राकृत रूप के वर्णन का लोभ संवरण नहीं कर पाने पर भी सूर ने कृष्ण के सहज मानवीय रूप की ही स्थापना की। चाहे कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा कर रहे हों, चाहे मक्खन चुरा रहे हों, उनका अलौकिक रूप भी सूर के हृदय-पटल पर रहा है। भक्ति, सूर का अस्तित्व है, भक्ति ही उनका प्राण है। शास्त्रीय विवेचन की जड़ता से हटकर सूर ने भक्ति को सरस सर्वग्राही रूप प्रदान किया। कृष्ण-भक्ति की यह पुण्यसलिला जनमानस को अनवरत आप्लावित करती रहेगी।

सी-1702, जे एम अरोमा, सेक्टर-75,
नोएडा 201301 (उ०प्र०)
मो० 09313727493

समकालीन लघुकथा : शिल्प और भाषा

डॉ० अशोक भाटिया

किसी भी साहित्य-विधा में कथ्य, शिल्प और भाषा परस्पर जुड़े होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही इन पर अलग-अलग विचार किया जाता है।

हिंदी लघुकथा ने, जो 1901 ई० से प्रारंभ मानी जाती है, विशेष रूप से 1972 के बाद बड़ी तीव्र गति से यात्रा तय की है। आठवें दशक में लघुकथा का जा उफान आया, उसमें अनेक अगंभीर लेखक भी निहित स्वार्थों के कारण आ मिले थे। धीरे-धीरे छँटनी होती गई और सामाजिक सरोकारों को सर्वोच्च प्राथमिकता देनेवाली धारा अब दिखाई देने लगी है। उसी धारा के लेखकों की लघुकथाओं के आधार पर समकालीन हिंदी लघुकथा के शिल्प और भाषा की चर्चा की जा सकती है।

शीर्षक में प्रयोग

कहानी हो या उपन्यास, उससे शीर्षक प्रायः रचना के मूल कथ्य, पात्र या स्थान को लेकर रखे जाते हैं। लघुकथाओं को लेकर इसके लेखकों-समीक्षकों ने शीर्षक के महत्त्व पर बहुत बल दिया है। कारण स्पष्ट है, लघुकथा की आकारगत व एकायामी होने की सीमाओं के कारण शीर्षक पर अतिरिक्त दबाव।

लेखक अपनी रचना की प्रकृति के अनुसार ही लघुकथाओं के शीर्षक रखता है। हरिशंकर परसाई की सभी लघुकथाएँ अपनी प्रकृति व प्रवृत्ति में व्यंग्यात्मक हैं। अतः कई बार इनकी लघुकथाओं के शीर्षक भी व्यंग्यात्मक हो गए हैं, जैसे-संसद और मंत्री की पूँछ, अयोध्या में खाता-बही, आजादी की घास, भगवान और ट्रैक्टर, ऑफ्टर ऑल आदमी, समाजवादी चाय, बाप-बदल आदि।

कुछ लघुकथाओं के रचनात्मक, काव्यात्मक व्यवहार वाले या अलग से ध्यान खींचनेवाले शीर्षकों का उल्लेख करना यहाँ उपेक्षित है। 'काँच पर छाप की तरह स्थिर', 'अनंत में अम्मा हँसती है', 'आखिरी दीवार से पीठ टिकाकर' (तीनों के लेखक मुकेश वर्मा), 'धापू घाचण सोचती है' (भगीरथ), 'अकेला कब तक लड़ेगा जटायु' (बलराम अग्रवाल), 'बिन शीशों का चश्मा' (रामकुमार आत्रेय), 'नदी के बारे में' (रघुनंदन त्रिवेदी), 'मुख्यमंत्री और डेमोक्रेरिस्स्या' (असगर वजाहत), 'ध्वस्त कॉटेज की खिड़की' (युगल), 'मछली-मछली कितना पानी? (सुकेश साहनी), 'ईश्वर का चेहरा' (विष्णु प्रभाकर), 'ईश्वर और चुनाव', पैसा खानेवाली गाय', 'मानवता और रसगुल्ले' (तीनों के लेखक विष्णु नागर), 'खरीदी हुई मौत' (श्यामसुंदर

अग्रवाल), 'कैसर की छोरी का दसेरा' (सूर्यकांत नागर), 'रो मांस', 'कपों की कहानी', 'चौथा चित्र' (तीनों के लेखक अशोक भाटिया), 'भगवान का मामा', 'अ हमाम द हमाम', 'डस्ट-बिनो का हँसीयोग' (तीनों के लेखक जसबीर चावला), 'शेर का शरीक होना आपके गम में' (विष्णु नागर), चूहास्कोप (आनंद बहादुर) आदि।

कथा-प्रस्तुति के प्रयोग

इस नए समय में, जब उपभोक्तावाद सिर पर चढ़कर बोल रहा है, लघुकथा की संरचना में क्या बदलाव आए हैं? क्या वह सर्वथा ज्ञात मुहावरे से आगे बढ़ पाई है? ये प्रयोग मात्र प्रयोग के लिए हैं या रचना की माँग से पैदा हुए हैं? लघुकथा का फलक भले ही कहानी की अपेक्षा छोटा होता है, किंतु समर्थ रचनाकार अपने कौशल से उसमें नई संभावनाओं को खोज लेता है। ऐसा वह विभिन्न प्रयोगों, विभिन्न शैलियों के माध्यम से करता है। हिंदी लघुकथाओं में ऐसी भिन्न-भिन्न संरचनाएँ खोजी जा सकती हैं।

हरिशंकर परसाई की 'जाति' लघुकथा देखने में वर्णनात्मक प्रस्तुति की रचना लगती है। किंतु रचनाकार ने उत्तरार्द्ध को अधिक प्रभावी बनाने के लिए पूर्वार्द्ध में उसकी आधारभूमि बना दी है। देखिए—

'कारखाना खुला, कर्मचारियों के लिए बस्ती बन गई।

ठाकुरपुरा से ठाकुर साहब और ब्राह्मणपुरा से पंडितजी कारखाने में काम करने लगे और पास-पास के ब्लॉक में रहने लगे।

ठाकुर साहब का लड़का और पंडितजी की लड़की दोनों जवान थे। उनमें पहचान हुई। पहचान इतनी बढ़ी कि वे शादी करने को तैयार हो गए।'¹

इस उदाहरण में कई घटनाओं को तीव्र गति से समेटकर उत्तरार्द्ध में इत्मीनान से कथ्य को उभारा गया है।

हिंदी साहित्य में एक समय में गद्य-काव्य में रचना की जाती थी। उस शैली को नए रूप में ढालकर असगर वजाहत ने 'कवि' सिरीज में लघुकथाएँ लिखी हैं। 'कवि का ऐलान', 'कवि और लोटा', 'कवि के दिन फिरे' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। 'कवि का ऐलान' लघुकथा से एक उदाहरण देखिए—

'कवि की चर्चा बंद थी बिलकुल। कवि की उम्र ढली जाती थी। कवि की छवि धुली जाती थी। कवि ने तब ऐलान किया-नदी समझती है कविता।'²

ऐसे प्रयोग लघुकथा में कम हुए हैं।

मुकेश वर्मा की लघुकथाओं में कविता लगातार बोलती है। उनकी लघुकथाओं के पाँव कविता की लय पर थिरकते नजर आते हैं। भाषा के साथ काव्यात्मक व्यवहार रचना की प्रस्तुति को भी नई शक्ति प्रदान करता है। इनकी लघुकथा 'अनंत में अम्मा हँसती है' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

'धरती तथा आकाश के तमाम प्रकोप सिर्फ एक दहलीज के बाहर ठिठक जाते हैं यदि घर में कोई हँस रहा हो। ऐसा उसका घर जिसमें कोई हँसता था, अब कहाँ है? वह घर जिसकी छत पर सारा आकाश। आकाश में सारी हवा। हवा में सारे परिंदे। परिंदों में सारी आवाजें। आवाजों में

सारी छत।¹³

एक माँ, जिसके तीन बेटे और चार बेटियाँ हैं, अपने पति की मृत्यु के बाद भटकती है। उसकी स्थिति को ही मुकेश वर्मा ने वर्णन और कविता के ताने-बाने में बुना है। इस लघुकथा की दो-तीन निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

‘कोई ऐसा घर नहीं, जिसके भीतर कोई हँस रहा हो। टीन का बदरंग बक्सा बार-बार उठाया गया। हर कही गई और न कही गई आवाजों की सनसनाहट कानों में हरदम गूँजती रहती। आसपास मक्खियों की भिन-भिन और धूल धूप धुआँ पसीना और थकान और बेचैनी और घबराहट...।¹⁴

समकालीन हिंदी लघुकथाओं का एक बड़ा भाग प्रस्तुति के नाम पर अपरिष्कृत (कूड) वर्णनों की भरमार के बीच दम तोड़ देता है। इसलिए जिन लघुकथाओं में ‘कहन’ की आवश्यकतानुसार भिन्न शैलियाँ अपनाई गई हैं, उनमें ताजगी भी है और असर भी। विष्णु नागर की लघुकथाएँ इसी कारण निष्प्राण-से हो चुके शब्दों के नूतन प्रयोग करके रचना को नई शक्ति प्रदान करती हैं। उनकी ‘ईश्वर की कहानियाँ’ सिरीज की सभी लघुकथाएँ इसका प्रमाण हैं। रचनात्मक निर्वाह की यह नई शैली है, जिसमें वर्णन कम है और विचार, कल्पना, व्यंग्य और काव्यात्मक व्यवहार का मिश्रण अधिक है। यथार्थ का हू-ब-हू वर्णन, वह भी पाठकीय चेतना को उपेक्षित करके, किसी भी स्तर पर बेहतर रचनात्मकता को प्रमाणित नहीं करता।

विष्णु नागर की ही भाँति चैतन्य त्रिवेदी और जसबीर चावला की लघुकथाएँ भी अपनी प्रस्तुति में कमोबेश इन्हीं तत्त्वों का सलीके से प्रयोग करती हैं। चैतन्य त्रिवेदी की ‘खुलता बंद घर’ में कोई परंपरागत कथा या घटना नहीं है। इस रचना की बुनावट संवेदना और कल्पना के मिश्रण से हुई है। घर का ताला खोलते हुए चाबी नीचे गिर जाती है। अँधेरे में ढूँढते हुए उसे एक-दो-तीन वस्तुएँ मिलती हैं, जिनसे परिवार के जरूरी संदर्भ स्मरण हो आते हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

‘चाबी तो नहीं मिली, टूटी हुई चूड़ी का एक टुकड़ा मिल गया, जिससे मुझे पत्नी के हाथों की तब की खनखनाहट याद आ गई, जब वह नई-नई आई थी। अब वह यदाकदा ही चूड़ियाँ पहनती है। स्मृति-पटल के एक गवाक्ष का ताला खुला।¹⁵

इसी प्रकार कागज का टुकड़ा और रिबन की एक चिंदी मिलती है, जिससे जुड़े संदर्भ का उल्लेख कर लेखक अंत में लिखता है—

‘घर, जो घर के भीतर नहीं पाया मैंने, वही घर दरवाजे के आस-पास बिखरा पड़ा था। चाबी मिल नहीं रही थी, लेकिन घर खुलता जा रहा था।¹⁶

प्रस्तुति की एक शैली जसबीर चावला की लघुकथाओं में मिलती है। उनके लिए भाषा मानो समंदर है, जिसमें उतरकर वे मस्ती करते हुए लघुकथाएँ रचते हैं। उनकी ‘लस्से’ लघुकथा में पहले बहेलिए द्वारा केल (विलुप्तप्राय चिड़िया) मुनियाँ को लस्से डालकर खेप लूटने और बाजार में बेचने का बड़ा कसावट-भरा उल्लेख है। इसी के क्रम में आदिवासी स्त्रियों, जो महुआ बीनने आई हैं, की खेप लूटने और मंत्रियों, अमीरों तक पहुँचाने का सूक्ष्म चित्रण पाठक को हैरत में डाल देता है। जो स्त्रियाँ कहीं नहीं बैठीं, उनके साथ फिर वही प्रक्रिया दोहराई जाती है। लेकिन यह प्रक्रिया अनवरत चलती है, जो इस संदर्भ में नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता ‘अकाल और उसके बाद’ का स्मरण कराती है। ‘लस्से’ की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

‘बाकी लस्सों पर उतरीं। उतरीं तो पंख चिपक गए और उड़ना नहीं हो पाया। लस्से वालों ने

खेप लूट टोकरी भर ली। खेपों की बोली लगी। कई ऊँचे कैबरे-घरों-चकलों में रुकीं। कई गिरिजाघरों में रुकीं। वहाँ से आम घरों में पहुँचीं। कई महानगरों में इमारतें बनाने लगीं। कई औद्योगिक शहरों में सड़कें बनाने लगीं। कई दफ्तरों, उद्योग-धंधों में बँट गईं। ठेके पर कई कोठे चढ़ गईं। उतरती तो पंख चिपक गए और उड़ना नहीं हो पाया।⁷

लघुकथा-प्रस्तुति की नाटकीय शैली देखनी हो, तो असगर वजाहत ने इसका बेहतरीन उपयोग किया है। संवाद और प्रश्नोत्तर शैली में चुभती हुई बातें कहने का तरीका 'हरिराम और गुरु-संवाद' तथा 'गुरु-चेला संवाद' सिरिज की लघुकथाओं में ईजाद किया गया है।

रावी की लघुकथा-पुस्तक 'मेरे कथा-गुरु का कहना है' (दो भाग) की रचनाओं में अंत में कथा-गुरु द्वारा नाटकीय ढंग से एक टिप्पणी दी जाती थी। वह टिप्पणी रचना से संबद्ध होकर भी रचनात्मकता का हिस्सा नहीं होती थी। बोध-कथाओं में लेखक इसी प्रकार सूत्र अपने हाथ में रखते हैं तथा जब चाहें, रचना में हस्तक्षेप कर लेते हैं। इसका एक नया रूप अमृतलाल मदान ने 'मेरा जमूरा मेरी जमीर' सिरिज की दस लघुकथाओं में प्रयुक्त किया है। लेखक के शब्दों में, 'वह मेरी अंतरात्मा है, मेरा निंदक भी, परामर्शदाता तथा प्रतिरोधी भी। मेरा जमूरा मेरी जमीर है।'⁸

इन लघुकथाओं में जमूरा पात्र-विशेष को संचालित करता है, अंत में टिप्पणी नहीं करता। इस प्रयोग द्वारा कथाकार अमृतलाल मदान ने जमूरे के माध्यम से कई छिपे हुए सच उगलवा लिए हैं।

अशोक भाटिया ने समानांतर कथा-शिल्प का प्रयोग कर कहीं दो वर्गों को आमने-सामने रखकर सामाजिक विषमता को उजागर किया है, तो कहीं धर्म के नाम पर हो रहे पाखंड की पर्त उघाड़ी है। एक उदाहरण देखिए—

'वह एक विवाह-समारोह में था। उसने चारों तरफ नजर दौड़ाई, फिर अपने साथी से कहा—बड़ी महँगाई है।'

उसने रोज की तुलना में कई गुना खाना अपनी प्लेट में डाला और एक तिहाई न खा सकने के कारण डस्ट-बिन में डाल दिया।

यह वह समय था, जब देश की एक तिहाई जनता गरीबी के मारे भूखी रहती थी।⁹

अशोक भाटिया की ही 'तीसरा चित्र' और 'चौथा चित्र' लघुकथाएँ भी प्रयोगधर्मिता के कारण उल्लेखनीय हैं। 'तीसरा चित्र' में एक वृद्ध पिता अपने कलाकार पुत्र को तीन चित्र बनाकर दिखाने को कहता है। पुत्र उच्च, मध्य व निम्नवर्ग पर एक-एक चित्र बनाकर ले जाता है। तीसरे अर्थात् निम्नवर्ग का चित्र देखकर पिता का प्रश्न है—'पहले दोनों चित्र तो तुमने गीले रंगों से बनाए हैं, लेकिन इस चित्र को काली पेंसिल से क्यों बनाया?' पुत्र का उत्तर है—'पिताजी, इस चित्र की बारी आई तो सब रंग खत्म हो चुके थे।'¹⁰

निम्नवर्ग के साथ चौतरफा भेदभाव व उपेक्षा का व्यवहार होता रहा है—यह सत्य इस प्रयोग से शक्तिशाली रूप में सामने आता है।

अशोक भाटिया की ही 'चौथा चित्र' पारिवारिक धरातल की प्रयोगधर्मी लघुकथा है। इसमें बहुत मितव्ययिता से माँ, पिता और पुत्र द्वारा पहले तीन चित्रों में राजनीति खेलने की झलक है और इसके चौथे चित्र में परिणाम यह है—'माँ, पिता और बेटा, तीनों चुप बैठे हैं और चोरी-चोरी एक-दूसरे का चेहरा देख रहे हैं।'¹¹

समकालीन लघुकथा में फेंटेसी शैली का प्रयोग असगर वजाहत, विष्णु नागर, सुकेश साहनी आदि लघुकथा-लेखकों ने बड़े संतुलित रूप में किया है। फेंटेसी एक धरातल पर प्रतीक को साथ लेकर चलती है। सुकेश साहनी की 'गोशत की गंध' लघुकथा में दामाद के समक्ष परोसी गई सब्जी की प्लेटों में 'खून के बीच आदमी के गोशत के बिलकुल ताजा टुकड़े तैर रहे थे।'¹² फेंटेसी का प्रयोग किसी विशिष्ट रचनात्मक उद्देश्य के लिए होता है। यहाँ सुकेश साहनी ने फेंटेसी के जरिए समाज के बिगड़ैल, परंपरागत दामादों की चेतना को झकझोरने का कार्य किया है।

पौराणिक और ऐतिहासिक संदर्भ लेकर समकाल में उसका संवर्धन या नवीनीकरण कर साहित्य की रचना सदैव होती रही है। इस दृष्टि से रामायण और महाभारत हमारे स्रोत ग्रंथ रहे हैं। वाल्मीकि की रामायण से संदर्भ लेकर विभिन्न भारतीय भाषाओं में आज तक सैकड़ों महाकाव्य, उपन्यास, नाटक आदि लिखे गए हैं। संस्कृत में ही भवभूति का 'उत्तररामचरित', हिंदी में तुलसीदास का 'रामचरितमानस', मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' सुप्रसिद्ध महाकाव्य हैं, तो महाभारत के संदर्भ लेकर धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' जैसा नाट्य-काव्य रचा। मराठी में शिवराम कारंत का 'मृत्युंजय' उपन्यास भी महाभारत पर आधारित है।

समकालीन लघुकथा में पौराणिक व ऐतिहासिक संदर्भों को लेकर अनेक लेखकों ने कलम चलाई है। शरद जोशी की 'मैं वही भगीरथ हूँ' और 'कुत्ता' लघुकथाएँ यहाँ उल्लेखनीय हैं। 'मैं वही भगीरथ हूँ' में एक ठेकेदार हरिद्वार जाकर देखता है कि एक दिव्य पुरुष एकटक गंगा को निहार रहा है। पूछने पर बताता है—'मैं वही भगीरथ हूँ, जो वर्षों पूर्व गंगा को यहाँ लाया था। उसे लाने के बाद ही मेरे पुरखे तर सके।'

किंतु ठेकेदार इसे दूसरे संदर्भ में ग्रहण कर कहता है—'वाह वो कितना बड़ा प्रोजेक्ट रहा होगा। अगर ऐसा प्रोजेक्ट मिल जाए तो पुरखे क्या, पीढ़ियाँ तर जाएँ।'¹³

शरद जोशी की ही 'कुत्ता' लघुकथा भी व्यंग्यात्मक पुट लिए हुए है। महाभारत-विजय के बाद पाँचों पांडव अंतिम समय में हिमालय जा रहे थे, तो एक कुत्ता भी पीछे आ जाता है। वह बताता है कि एक महाभारत उन कुत्तों में भी हुआ था। बाकी सब कुत्ते मर गए। द्रोपदी ने पूछा कि 'तुम्हारे साथ कुतिया नहीं आई।' कुत्ते का जवाब है—'उसी की वजह से तो सारा महाभारत हुआ था।'¹⁴ इन्हीं की लघुकथा 'चौथा बंदर' गांधी और उनके बंदरों के माध्यम से आज के राजनेताओं पर व्यंग्य है।

'विक्रम और बेताल' के पौराणिक संदर्भ का आधुनिक संदर्भों में कथाकार संजीव, बलराम अग्रवाल, अशोक भाटिया आदि कई लेखकों ने प्रयोग किया है। ऐसे संदर्भों से 'कहन' को विस्तार मिलता है तथा नई संभावनाएँ उदित होती हैं।

आकारगत प्रयोगों की दृष्टि से लघुकथा ने आवश्यकतानुसार अपनी सीमाओं को थोड़ा-बहुत तोड़ा है। हरिशंकर परसाई की ही 'कबीर की बकरी' लघुकथा मात्र छह पंक्तियों की है, जबकि 'सर्वे और सुंदरी' रचना डिमाई आकार के दो से अधिक पृष्ठों (78 पंक्तियों) की रचना है। रचना की आवश्यकतानुसार रचना का आकार-प्रकार छोटा-बड़ा होना बड़ा सहज-स्वाभाविक है। सबसे छोटी लघुकथा रमेश बतरा की 'कहूँ कहानी' है, जो मात्र एक वाक्य की है—

'ऐ रफीक भाई! सुनो, उत्पादन के सुख से भरपूर थकान की खुमारी लिए रात मैं कारखाने

से घर पहुँचा तो मेरी बेटी ने एक कहानी कही—एक लाजा है वो बोत गलीब है।¹⁵

हिंदी में ही नहीं, देशी-विदेशी भाषाओं में भी मात्र दो संवादों में स्वयं में पूर्ण और असरदार लघुकथाएँ लिखी गई हैं। हिंदी में सुरेश जाँगिड़ उदय की 'मानसिकता' लघुकथा लघ्वाकार में पूर्ण रचना है—

‘अब देश आजाद है। मैं अपने बेटे को पढ़ाता हूँ—ए फॉर एप्पल, बी फॉर बैट।’¹⁶

लघुकथा एक-आयामी होती है, किंतु इस एक आयाम को भी कई बार कथ्य की दृष्टि से विस्तार देना अनिवार्य हो जाता है। काशीनाथसिंह की 'पानी' तथा कुमार शर्मा अनिल की 'मुजरिम' नामक लघुकथाएँ इसी प्रकार की हैं। उपरिलिखित दोनों लघुकथाएँ 80-85 पंक्तियों तक जाती हैं।

विजय ने लघुकथा और कहानी के संदर्भ में नया प्रयोग किया है। 'समग्र दृष्टि' के दिसंबर 2008 अंक में 'एक कहानी पर चार लघुकथाएँ' प्रस्तुत कर रचना को दोनों दृष्टियों से संपन्न बनाया है। अँग्रेजी साहित्य में ऐसे प्रयोग मिलते हैं। बी०एस० जॉनसन के एक उपन्यास के चार या छह खंड हैं, जिन्हें आप ताश के पत्तों की तरह फेंटकर कोई भी भाग पहले या बाद में पढ़ सकते हैं।

भाषा

भाषा ही भाव-विचार को व्यक्त करने का माध्यम है। कथ्य किसी भी रचना का प्राण होता है, किंतु शरीर के बिना प्राण भी कहाँ होंगे! समाजिक परिवर्तन के साथ ही भाषा-प्रयोग को लेकर भी नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है। असगर वजाहत के शब्दों में, 'हम पतनशीलता के एक ऐसे दौर में आ गए हैं, इतने क्रोधी, इतने लालची हो गए हैं कि हमारे लिए बड़े से बड़ा अपराध या हत्या कर देना कोई बड़ी बात नहीं, बल्कि मजाक है। इस स्थिति में शब्द कहाँ तक साथ देंगे? अभिधा से तो काम चल ही नहीं सकता है। सब शब्द बौने हो गए हैं और छोटे पड़ गए हैं।'¹⁷

नागेंद्रप्रसादसिंह के शब्दों में, 'भाषा रचनाकार का व्यक्तित्व होती है, जो एक-दूसरे को अलग करती है। यदि कोई लघुकथाकार अपनी भाषा के कारण अपनी पहचान बना ले, तो निश्चित ही वह श्रेष्ठ लघुकथाकारों में गण्य हो सकता है।'^{17 (क)}

एक बोलचाल की भाषा होती है। उसे रचनात्मक अथवा साहित्यिक भाषा में इसप्रकार ढाला-तराशा जाता है कि भाषा में मूल संवेदना, स्वाभाविकता, जिंदगी की धड़कन सुरक्षित रहे। यह सरल कार्य नहीं है। इस प्रक्रिया के तार लघुकथा की रचना-प्रक्रिया से जुड़ते हैं।

साहित्यकार एक संवेदनशील ग्रहणकर्ता होता है। हरिशंकर परसाई की 'बदचलन' लघुकथा में मुहल्ले के लोग अलग-अलग दिनों में एक ही बात को पाँच बार कहते हैं। पाँचों बार उनकी शब्दावली में कुछ हेर-फेर है, जो बड़ा स्वाभाविक है। देखिए—

1. शरीफों के मुहल्ले में यह बदचलन आ बसा है।
2. शरीफों के मुहल्ले में यह बदचलन आ गया है।
3. शरीफों के मुहल्ले में कैसा बदचलन आदमी आ बसा।
4. शरीफों के मुहल्ले में यह कहाँ का बदचलन आ गया।

5. शरीफों के मुहल्ले में यह बदचलन कहाँ से आ गया।¹⁸

लघुकथा में शब्द-प्रयोग की सजगता का परसाई की रचना में से ही एक अन्य प्रमाण उनकी 'बात' लघुकथा में से ले सकते हैं। एक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न लोग कहते हैं कि वर्माजी लंबी छुट्टी पर गए हैं, इसलिए वह उनकी जगह के लिए अर्जी दे दें। पाँच व्यक्तियों द्वारा कही गई इसी बात की शब्दावली अलग-अलग है—

1. तुम उनकी जगह के लिए दरखास्त दे दो।
2. तुम उस जगह के लिए फौरन अर्जी दे दो।
3. तुम फौरन उस जगह के लिए कोशिश करो।
4. वर्मा वाली जगह के लिए कोशिश क्यों नहीं करते?
5. वर्मा वाली जगह के लिए दरखास्त दी कि नहीं?¹⁹

अमर गोस्वामी की लघुकथा 'हाय मालिक' में एक व्यक्ति ने जीवनभर जो कुछ किया, उसका वर्णन अपनी ही शैली में किया है। जीवन की दैनंदिन बातों को लेखक ने अपनी रचनात्मक भाषा से सजीव और रोचक बना दिया है। इसके दो उदाहरण देखें—

1. उस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन अपनी महत्वाकांक्षाओं और स्वार्थ में लगा दिया। उसने दूसरों की राह में काँटे बोए और खुद आगे बढ़ा। उसने दूसरों की गर्दन काटकर अपनी गर्दन ऊँची की। उसने सफेदपोशों के साथ कालाबाजारी की और काले धन से काले बादलों को छूनेवाले भवन बनाए। हर देश की करेंसी उससे अठखेलियाँ करती थी। उसने नोट कमाया, डॉलर कमाया, पौंड कमाया, रूबल कमाया, बदनामी कमाई और प्रतिष्ठित हुआ। बैंक में रुपया जमा करने के लिए लगातार स्विट्जरलैंड की यात्राएँ कीं। इस तरह उसने स्वार्थ के रंग में दुनिया का हर रंग देखा।²⁰

2. उसने लाइसेंस पाने के लिए, विदेशी पूँजी के लिए कारोबार में नंगे क्षितिज ढूँढ़ निकालने के लिए, नेताओं, अफसरों और माफिया-नरेशों के आगे पलक-पाँवड़े बिछाए, ईमान बिछाया, यहाँ तक कि खुद के साथ बीवी को भी! जब बीवी ने साथ नहीं दिया तो उसने बाकायदा हरम बनाया, जो हराम के काम आया।²¹

उपर्युक्त उदाहरण रचनाकार अमर गोस्वामी के समृद्ध अनुभव, सजग संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति के घनत्व का प्रमाण हैं। वीरेंद्र जैन की लघुकथा 'गणित' में भी 'कहन' का एक टटका लहजा दिखाई देता है। देखिए—

'शादी के दूसरे ही वर्ष में उनके एक बिटिया हुई, फिर तीसरे वर्ष, फिर चौथे फिर पाँचवें, फिर छठे, फिर सातवें, फिर आठवें, फिर नवें, फिर दसवें वर्ष भी बिटिया हुई। फिर ग्यारहवें वर्ष एक बेटा हुआ और फिर बारहवें वर्ष दूसरा और तब वे चिंतित से नजर आने लगे।'²²

इस लघुकथा की अंतिम पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

'फिर तेइसवें वर्ष उनकी पहली बिटिया घर से भाग गई। मोहल्ले का एक नवयुवक भी उसी दिन से लापता है। फिर चौबीसवें वर्ष दूसरी, फिर पच्चीसवें वर्ष तीसरी और चौथी.. अब वे निश्चिंत थे। उन्हें उम्मीद है कि शादी के तीसवें वर्ष वे जरूर वैवाहिक दायित्वों से मुक्त हो जाएँगे...'²³

भगीरथ की लघुकथा 'आत्मकथ्य' में कारखाने में काम करनेवाले श्रमिक की तकलीफों

तथा उसकी सोच और उसके कार्यों को सघनता के साथ दिखाया जाना अनिवार्य था, अन्यथा रचना का असर जाता रहता। उदाहरण देखिए कि अपने को कीचड़ में सानने, रक्तदान देकर दूसरों को जीवन देने, फिर चक्कर चिमनी से गिर पड़ने के बावजूद वह उत्पादन बढ़ाने में इसलिए लगा था, क्योंकि वह समझता था कि—

‘यह निर्माण मेरे दिल हैं। ये मिलें मेरे लिए कपड़ा बना रही हैं। इन स्कूलों में मेरे बच्चे पढ़ने वाले हैं। इन अस्पतालों में मेरा इलाज होगा। ये कारखाने, दफ्तर, न्यायालय और बैंक मेरे बेहतर भविष्य के लिए आकाश की ओर उठकर विस्तार कर रहे हैं।’²⁴

उपर्युक्त उदाहरण से एक तो पता चलता है कि इस संसार की नींव श्रमिकवर्ग ही अपने परिश्रम से रखता है। दूसरे, श्रमिक लोग इन इमारतों को लेकर जो सपने पालते हैं, वे कभी सच नहीं होते। तीसरे, इन इमारतों को वे एक अपनत्व-भाव के साथ बनाते हैं।

वर्णन की यह सजग तीव्र-गतिकता रचना को ताजगी और रवानगी से भर देती है। इन्हीं गुणों से युक्त अर्चना वर्मा की लघुकथा ‘वैज्ञानिक दृष्टिकोण’ की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

‘इतना सब कुछ उन्हें याद कैसे रहता था, पता नहीं। कोई एक झंझट था? हरवाहे-चरवाहे, गाय-गोरू, रसोई-भंडारा, अतिथि-अभ्यागत और आए-दिन के तीज-त्योहार, व्रत-उपवास, काज-परोजन। इस दिन बहुएँ भाग-सुहाग मनाएँगी, उस दिन बेटों की माँएँ निर्जल रहेंगी। किसी और दिन खानदान-भर के हर बेटे के नाम सात तरह के भुने हुए अनाजों के सात-सात कुल्हड़ चढ़ेंगे, फिर किसी और दिन काले गुड़ की ढेरी। कभी दीवार तो कभी फर्श पर गेरू लीपकर ऐपन से भीत या चौक आँकी जा रही, इस दिन की पूजा के लिए निर्दिष्ट फूलों या पत्तियों से पूजा जा रही है। कभी किसी व्रत-शृंखला का उद्यापन या किसी पूजा का विसर्जन। घर, आँगन, दालान, खपरैल पर कद्दू की बेल। सब-कुछ धुला-पुँछा चमकता रहता था।’²⁵

हिंदी लघुकथाओं में सूक्तियों का भी पर्याप्त और सटीक प्रयोग मिलता है। कुछ उदाहरण देखिए—

‘यह दुनिया समर्थ लोगों के डरावनेपन से बनी है।’²⁶

‘उम्र लेखक से वैसे ही डरती है, जैसे रेबीज का मरीज पानी से डरता है।’²⁷

लघुकथाओं में काव्यात्मक व्यवहार उन्हें अतिरिक्त अभिव्यक्ति-सामर्थ्य प्रदान करता है। विष्णु नागर, सुरेश यादव मूलतः कवि होने के कारण अपनी लघुकथाओं में सहज ही काव्यात्मक व्यवहार का आश्रय लेते हैं। मुकेश वर्मा मूलतः कहानीकार हैं, इसके बावजूद वे अपनी भाषा को काव्यात्मक थपकियाँ देते चलते हैं। जैसे—

‘अभी उसकी आँखों में सख्ती और नजर में उस चोट का निशान है, जो जिस्म पर नहीं दिखती, लेकिन भीतर कहीं गहरे अटी होती है।’²⁸ और—

‘उन्होंने बेभाव चेहरा तनिक उठाया। बेआवाज देखा।’²⁹ तथा ‘लौटते हुए मेरे पिता जा रहे हैं। मेरी कमीज में से उनके हाथ निकले हुए हैं, वही पहचाने, ठंडे और पस्त हाथ।’³⁰

उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग भाषा के सूक्ष्म प्रसाधनों के अंतर्गत आता है। गद्य में उपमानों का प्रयोग वास्तव में काव्यात्मक व्यवहार का ही एक रूप है। समर्थ कथाकार इसका सटीक प्रयोग करते रहे हैं। प्रेमचंद की दो प्रसिद्ध कहानियों ‘पंच परमेश्वर’ और ‘दो बैलों की कथा’ से एक-एक उपमा देखिए—

‘देहात का रास्ता बच्चों की आँख की तरह साँझ होते ही बंद हो जाता है।’ (पंच परमेश्वर)
‘दोनों उन्मत्त होकर बछड़ों की भाँति कुलेलें करते हुए घर की ओर दौड़े।’ (दो बैलों की कथा)

समकालीन हिंदी लघुकथा-साहित्य उपमानों और प्रतीकों की दृष्टि से बड़ा समृद्ध है। कुछ लेखकों ने उपमानों की झड़ी लगाकर कथा-सूत्र को आगे बढ़ाया है, जैसे—

1. घर लुटने के बाद जैसे कोई परिवार, धन लुटने के बाद जैसे कोई व्यापारी और प्रपंच में फँसकर हारने के बाद जैसे कोई लड़ाकू सैनिक-दस्ता खीझ और गुस्से में होता है, मधुमक्खियाँ बेचैन थीं।³¹ (सुरेश यादव, मेहनत)

2. जिंदगी किसी मजदूर के हाथों-सी कठोर होती है, भूखे बच्चे के पेट-सी खाली, माँ की आँखों-सी सूनी, कपड़ों-सी फटी-मैली, दिख रहे बदन-सी नंगी और बेबस होती है, जिसे ठेले की तरह खींचा जाता है।³² (अशोक भाटिया, जिंदगी)

3. मकान की ऊँची फाइव स्टाराना मुंडेर। भूख से पीड़ित कमजोर विकासशील राष्ट्रों की भाँति कौवा। जनतानुमा चूहा। तटस्थ राष्ट्रों की भाँति कुछ कौए उड़कर। कभी योगी की भाँति आत्मलीन, तो कभी लोभी की भाँति वस्तुलीन, कभी अद्वैतवादी दार्शनिक की भाँति दत्तचित्त, तो कभी चार्वाकी दार्शनिकों की भाँति चंचल। मंत्रिमंडल में शामिल किए जानेवाले नए मंत्री की भाँति उस कौए को (चील ने) अपनी दावत में शामिल कर लिया।³³ (कमल गुप्त, दावत)

4. अपनी जिंदगी में पिता वह सब हो सकते थे, जो वे खुद या हम चाहते। घर में सबसे छोटा मैं था। मेरी इच्छा थी कि उन्हें घोड़ा बनाकर खूब तेज भागते रहना चाहिए। भाई मुझसे बड़े थे। वे चाहते थे कि पिता नाव बनें ताकि बारिश के दिनों में हम चाहें तो नदी पार कर सकें। माँ और बहन का खयाल था कि उन्हें छाते में बदल जाना चाहिए, जो धूप में भी उतना जरूरी होता है, जितना बारिश में।³⁴ (रघुनंदन त्रिवेदी, स्मृतियों में पिता)

5. वह जैसे दूध के ऊपर जमी हुई मलाई थी। वह जैसे मुँह में घुल गई मिठाई थी। वह जैसे सितारों को थामनेवाली आकाश-गंगा थी। वह जैसे खजाने से लदा एक समुद्री जहाज थी, जिसकी चाहत में समुद्री डाकू पागल हो जाते थे।³⁵ (सुशांत सुप्रिय, सबके लिए)

लघुकथाओं में से कुछ उपमाएँ यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हैं—

‘पत्नी नई बछिया की तरह उचककर अलग हो गई।’³⁶ (दिनेश पालीवाल, डबल बैड)

‘मैं चोटी पर नाच उठा, जैसे बच्चे को नई गेंद मिल गई हो।’³⁷ (रवींद्र वर्मा, पर्वतारोही)

‘मंडी में उसने बैलगाड़ी रोकी तो उसे महसूस हुआ मानो किसी श्मशान में आ रुका है, जहाँ छोटे-बड़े गिद्ध पहले से उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अपनी टूटी बैलगाड़ी की तरह भीतर-बाहर से टूटा हुआ था।’³⁸ (कमलेश भारतीय, किसान)

‘पत्नी डायनिंग टेबल और किचन के बीच किसी नन्ही चिड़िया-सी फुदक रही थी।’³⁹ (सुकेश साहनी, फॉल्ट)

‘सरकारी दफ्तरी कार्यवाही से पार पाना अभी भी हिंदी महासागर को तैरकर पार करने के बराबर है।’⁴⁰ (राजेंद्र साहिल, घिसाई)

‘वह आदमी मुस्कराता हुआ लड़की को इस तरह देखता रहा, मानो पर निकले चीटें को देख रहा है।’⁴¹ (युगल, लड़की और जामुन का पेड़)

‘देव-प्रतिमाओं के खिले माथे-सी धूप। देवियों के अधरों से निरंतर निःसृत मंद-मंद स्मितियों-सी सुवासित समीर।’⁴² (अमरीकसिंह दीप, देश-प्रेमी)

‘क्यारी के बाहर एक तरफ घायल पड़ी घास को माली इस समय जल्लाद जैसा लग रहा था।’⁴³ (कस्तूरीलाल तागरा, गुलाब के लिए)

‘उनके अड़ियल आतंकित चेहरों पर बल्लम-सी कोंचती नजर डालकर ठाकुर रिछपालसिंह ने उठाकर एक भयानक ठहाका भरा।’⁴⁴ (चित्रा मुद्गल, नाम)

‘सुनकर उषा को बड़ा गुदगुदा लगा, जैसे हवा से नदी लहरा जाए।’⁴⁵ (अशोक भाटिया, अमिया)

‘सभी समस्त सूखे पत्ते-से काँप रहे थे।’⁴⁶ (भगीरथ, युद्ध)

‘कानून उनकी रखेल है। राजनीति उस रखेल के रखे गुंडे हैं।’⁴⁷ (भगीरथ, औरत)

‘बाबू रामसहाय के मुखारविंद पर जैसे भारी-भरकम-सा अलीगढ़ी ताला लटक गया हो।’⁴⁸ (मोहन राजेश, अछूत)

‘उज्वल भविष्य-से पसरते हवा में डॉलरों के सफेद बंडल। ढाकाई मलमल-से कोमल, धुले कपड़ों में ही निकल रहे हैं मानवता के पक्षधर।’⁴⁹ (जसबीर चावला, अ हमाम द हमाम)

‘मंत्रीजी और उनके बगुले-से बग-बग सफेद परिधान।’⁵⁰ (रत्नकुमार सांभरिया, देशद्रोही)

पवन शर्मा की ‘कुंदन’ लघुकथा के निराशाजनक प्रारंभ और उत्साहवर्धक अंत के संदर्भ में दो उपमाएँ द्रष्टव्य हैं—

प्रारंभ—‘कमरे में लाल रंग का जीरो वाट का बल्ब जल रहा था। ऐसा लग रहा था, जैसे पूरे कमरे में सुर्ख लाल खून बिखरा हुआ हो।’⁵¹

अंत—‘लाल रंग के जीरो वाट के बल्ब में उसे अपनी पत्नी का चेहरा कुंदन की भाँति चमकता दिखाई दिया।’⁵²

वरिष्ठ कथाकार युगल की लघुकथाओं में स्थानीय शब्दावली, रचनात्मकता का प्रभाव भाषा में एक ताजगी भर देता है। उनके ‘किरचें’ लघुकथा-संग्रह से कुछ उदाहरण देखें—

बाप सामने उत्कट खड़ा था। (पृ० 81)

मुन्नू थकथकाया हुआ खड़ा रहा। (पृ० 81)

मसमस जवानी। गोरा दप्प रंग। उल्लंग धार-पकड़।

सुगढ़ पानीदार आकर्षक चेहरा। (पृ० 85)

मर्द के भीतर कनकनाहट भर रही थी। (पृ० 88)

ऐसी जीवंत शब्दावली से युगल की लघुकथाएँ भरी पड़ी हैं। रत्नकुमार सांभरिया की भाषा भी कृत्रिम आवरण को तोड़ती नजर आती है। जैसे, उनकी ‘प्रतिनिधि लघुकथा शतक’ से दो उदाहरण देखें—

‘मूँछों के बाल हूँचक रहे थे।’ (पृ० 107)

‘पस्त चिड़ा आईने से रिसता-रिसता नीचे आ गिरा था।’ (पृ० 26)

समकालीन लघुकथा की भाषा में आंचलिक शब्दावली के प्रयोग ने भी स्वाभाविकता और जीवंतता में वृद्धि की है। बिहार, राजस्थान, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश की विभिन्न स्थानीय बोलियों के शब्द और वाक्य अनेक लघुकथाओं में मिल जाते हैं। जसबीर चावला ने पंजाबी के

शब्दों का उन लघुकथाओं में निःसंकोच प्रयोग किया है, जिसमें इनसे बात कहने का ढंग ज्यादा असरदार बनता है। उनकी पुस्तक 'शरीफ जसबीर' में, विशेष रूप से, पंजाबी भाषा के शब्द बहुतायत में मिलते हैं। 'निमाणे' (पृ० 20), त्रभका (पृ० 24), हरामड़ (पृ० 25), हेठां (नीचे), (पृ० 37), मोयो (दुष्टो) पृ० 37, मुकता नहीं (खत्म नहीं होता) पृ० 76, थां-थां (जगह-जगह) पृ० 76 आदि पर्याप्त उदाहरण मिल जाएँगे।

भगीरथ की लघुकथा 'फूली' में राजस्थानी में संवाद देखिए—'सुबह पैली काम के टैम कोई भांडडो है। हें वीरजी! मैं थारा हाथ जोड़ूँ, क्यों म्हारे पीछे लागों हों।' (पृ० 53)

चाँद मुंगेरी की लघुकथा 'ठाकुर-हँसुआ-भात' में आंचलिक संवाद इसे अधिक शक्तिशाली बनाते हैं, जैसे—

'थोड़ा बखत और रुक बबुआ.. बाप गेल हौ माडुआ पिसाबै खातिर मिल... हूनका औवते ही तोहका रोटी बना देवौ।'⁵⁴

लघुकथाओं में प्रतीकों का महत्त्व निर्विवाद है। प्रतीक भी कविता का उपादान है। कविता के तत्त्वों का गद्य में उपयोग गद्य को अधिक अर्थगर्भी बनाता है। उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग चमत्कृति के लिए नहीं होना चाहिए, अन्यथा रचना की सामाजिक उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लग जाएगा।

समकालीन हिंदी लघुकथा में रचनाओं के शीर्षक और निर्वाह—दोनों स्तरों पर प्रतीकों का सटीक प्रयोग मिलता है। एक तीसरा स्तर भी है, जहाँ उपमाओं का प्रयोग प्रतीकात्मक अर्थ भी देता है। इस संदर्भ में यहाँ कुछ प्रतीकों पर विचार करना अपेक्षित है।

रिजवान जहीर उस्मान की लघुकथा 'संन्यासी' में अंधत्व का प्रतीक संन्यासी के ठीक विपरीत प्रयुक्त हुआ है। एक संन्यासी एक अंधे राजा की आँखें ठीक कर देता है। शर्त के अनुसार राजा संन्यासी को इसके एवज में राज-पाट सौंप देता है। रचना की अंतिम पंक्ति है—संन्यासी सिंहासन पर बैठा। संन्यासी अंधा हो गया।⁵⁵

भारतीय संविधान में प्रत्येक नागरिक को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है, किंतु 1975 में आंतरिक आपातकाल लगाया गया, जिसमें यह अधिकार भी छीन लिया गया। इस हालत में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मनुष्य के इस अधिकार को एक आधार देती है। इमरजेंसी को लेकर असगर वजाहत की 'कुत्ते', 'शेर' और 'डंडा' लघुकथाएँ तथा भगीरथ की 'युद्ध' लघुकथा उल्लेखनीय हैं। 'शेर' रचना में 'शेर' (56) सब-कुछ हड़प लेनेवाली सत्ता का प्रतीक है, जबकि गधा, लोमड़ी, उल्लू, कुत्ता आदि विभिन्न स्वभावों के लोगों के प्रतीक हैं। इस रचना पर पंचतंत्र की शैली का प्रभाव आ जाना स्वाभाविक ही था।

भगीरथ की 'युद्ध' लघुकथा आपातकाल लगने पर धर-पकड़ और जोर-जबर्दस्ती की प्रतीकात्मक दास्तान प्रस्तुत करती है। रचना के निर्वाह में भी प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जैसे—'विभीषणों ने अपने विरोधियों के पक्ष में बयान दिए।'⁵⁷

रमेश बतरा की 'सूअर' लघुकथा में सूअर राजनीतिक संकीर्णता और स्वार्थ तथा मानवीयता के विरोध का प्रतीक है। विक्रम सोनी की 'बनैले सूअर' लघुकथा में सूअर सवर्णों की विकृत और संकीर्ण मानसिकता का प्रतीक है। जगदीश कश्यप की लघुकथा 'ब्लैक हॉर्स' भौतिकता की होड़ में मूल्यहीन हो जाने का प्रतीक है। बलराम अग्रवाल की 'अकेला कब तक लड़ेगा जटायु'

में जटायु के ऐतिहासिक प्रतीक की व्यंजना रचना का अर्थ-विस्तार करती है। बलराम की 'मृगजल' पूरी न होने वाली इच्छा का प्रतीक है। रचना में जब बिंब और प्रतीक घुल-मिल जाते हैं, तब रचना की शक्ति बढ़ जाती है। अशोक भाटिया की 'रोमांस' में काजल का प्रतीक अंत में घटना में ही घुल-मिल जाता है। इस संदर्भ में सुरेश यादव का मत है—'इस लघुकथा में 'रो' तथा 'मांस' को संधि-विच्छेद कर प्रस्तुत करना ही इच्छाओं के कत्ल का संदेश है। लघुकथा का अंत प्रतीकों के माध्यम से संवेदना को वैचारिक ऊँचाई प्रदान करता है।' अशोक भाटिया की ही 'कपो की कहानी' लघुकथा में क्रेक कप शोषितवर्ग के प्रतीक हैं।

सुकेश साहनी की लघुकथा 'ठंडी रजाई' में भी वास्तविक घटना और प्रतीक घुल-मिल गए हैं, जिस कारण रचना की प्राणवत्ता द्विगुणित हो गई है। 'ठंडी रजाई' मानवीय संबंधों की उपेक्षा का प्रतीक है। सुकेश साहनी की ही 'कुआँ खोदने वाला' नामक संपूर्ण लघुकथा प्रतीकात्मक है। इसमें 'झोपड़ी', 'महल' और 'कुआँ' क्रमशः निम्नवर्ग, उच्चवर्ग और संसाधनों के प्रतीक हैं।

रामकुमार आत्रेय की 'बिन शीशों का चश्मा' में शीशे और चश्मा दोनों ही प्रतीक रूप में आरंभ से अंत तक बने रहते हैं। 'चश्मा' तो सामाजिक मर्यादा का प्रतीक है, जबकि 'शीशा विहीन' होना इस अंधा व्यवस्था को न देख-सह पाने का प्रतीक है।

सतीशराज पुष्करणा की 'मन के साँप' में साँप व्यक्ति की दमित इच्छाओं का प्रतीक है, जो लघुकथा में रह-रहकर फन उठाती है। यह प्रतीक रचना में प्रारंभ से अंत तक सटीक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

रत्नेशकुमार की 'अखबार' पंचतंत्र शैली में लिखी गयी आद्यंत प्रतीक-कथा है। सारी लघुकथा प्रतीकों से भरी हुई है। पशु-समाज अपना अखबार निकालना चाहता है। स्वभावानुसार पशुओं का विभिन्न पदों पर चयन किया जाता है। एक उदाहरण देखें—'भेड़िये और सियार ने बैलों की नियुक्ति उपसंपादक के पद पर की और कुत्तों को मुख्य/विशेष संवाददाता बनाया। चूँकि कुत्तों में सूँघने की शक्ति अधिक होती है। समाचार सूँघना कुत्तों के ही वश का है। कौओं को भी कार्यालय संवाददाता स्टिगर बनाया गया, जिससे आने-जानेवाले, उद्घाटन-समापन करनेवालों की सूचना-ऊचना, खबर-उबर मिल सके।'⁵⁸

शिवनारायण की 'जहर के खिलाफ' लघुकथा में 'जहर' जीवन-विरोधी नकारात्मक व निराशाजनक सोच का प्रतीक है।

हिंदी लघुकथा में भाषा से व्यंग्यात्मक व्यवहार करनेवाले लेखकों में हरिशंकर परसाई, भाषा से खिलंदड़े स्वभाव से काम लेनेवालों में विष्णु नागर, असगर वजाहत और जसबीर चावला, काव्यात्मक व्यवहार में चैतन्य त्रिवेदी और मुकेश वर्मा, पच्चीकारी में अमर गोस्वामी और सजग-सहज भाषा में भगीरथ से लेकर अनेक लघुकथा लेखकों के नाम लिए जा सकते हैं।

इसप्रकार शिल्प और भाषा-दोनों दृष्टियों से समकालीन हिंदी लघुकथा में समृद्धि के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।

संदर्भ

1. परसाई रचनावाली, भाग 2, पृ० 333
2. असगर वजाहत, मुश्किल काम, पृ० 35

3. मुकेश वर्मा, इस्तगासा, पृ० 50
4. वही, पृ० 51
5. चैतन्य त्रिवेदी, उल्लास, पृ० 16
6. वही, पृ० 16
7. जसबीर चावला, सच के सिवा, पृ० 51-52
8. अमृतलाल मदान, बूढ़ा सूरज तथा अन्य लघुकथाएँ, पृ० 7
9. अशोक भाटिया, अँधेरे में आँख, पृ० 108
10. वही, पृ० 36
11. वही, पृ० 53
12. सुकेश साहनी, डरे हुए लोग, पृ० 90
13. सं० बलराम, बीसवीं सदी की लघुकथाएँ (भाग 1), पृ० 109
14. वही, पृ० 108
15. महावीरप्रसाद जैन, सं० 'समग्र' (लघुकथा विशेषांक), पृ० 52-53
16. 'कथा समय' (जून 2013), प्रधान संपादक डॉ० मुक्ता, पृ० 39
17. असगर वजाहत, मुश्किल काम, पृ० 8 (भूमिका)
17. (क) लघुकथा का सौंदर्यशास्त्र, सं० सतीशराज पुष्करणा, कृष्णानंद कृष्ण आदि, पृ० 78
18. परसाई, रचनावली (भाग 2), पृ० 312
19. वही, पृ० 376-77
20. अशोक भाटिया, सं० निर्वाचित लघुकथाएँ, पृ० 183
21. वही, पृ० 183
22. वही, पृ० 156
23. वही, पृ० 156
24. भगीरथ, पेट सबके हैं, पृ० 37
25. अशोक भाटिया, सं० निर्वाचित लघुकथाएँ, पृ० 200
26. वही, पृ० 182
27. वही, पृ० 189
28. मुकेश वर्मा, इस्तगासा, पृ० 61
29. वही, पृ० 31
30. वही, पृ० 12
31. 'हरिगंधा' (लघुकथांक 2010-11), अतिथि सं० अशोक भाटिया, प्रधान सं० डॉ० मुक्ता, पृ० 122
32. अशोक भाटिया, अँधेरे में आँख, पृ० 78
33. अशोक भाटिया, सं० निर्वाचित लघुकथाएँ, पृ० 69-70
34. वही, पृ० 194
35. कमल चोपड़ा, सं० संरचना-2010, पृ० 203
36. अशोक भाटिया, सं० निर्वाचित लघुकथाएँ, पृ० 210
37. वही, पृ० 128
38. कमलेश भारतीय, ऐसे थे तुम, पृ० 46-47

39. सुकेश साहनी, ठंडी रजाई, पृ० 110
40. कमल चोपड़ा, सं० संरचना-2010, पृ० 162
41. वही, पृ० 143
42. वही, पृ० 62
43. वही, संरचना-2012, पृ० 84
44. वही, संरचना-2008, पृ० 95
45. अशोक भाटिया, अँधेरे में आँख, पृ० 62
46. भगीरथ, पेट सबके हैं, पृ० 61
47. वही, पृ० 39
48. रामकुमार घोटड़, सं० दलित समाज की लघुकथाएँ, पृ० 86
49. जसबीर चावला, शरीफ जसबीर, पृ० 21, 22
50. रत्नकुमार सांभरिया, प्रतिनिधि लघुकथा शतक, पृ० 68
51. सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु', सं० लघुकथा : देश-देशांतर, पृ० 94-95
52. वही, पृ० 94-95
53. भगीरथ, पेट सबके हैं, पृ० 30
54. सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु', सं० लघुकथाएँ : मेरी पसंद, पृ० 77
55. अशोक भाटिया, सं० निर्वाचित लघुकथाएँ, पृ० 167
56. असगर वजाहत, मुश्किल काम, पृ० 15-17
57. भगीरथ, पेट सबके हैं, पृ० 61
58. कमल चोपड़ा, सं० संरचना-2010, पृ० 150

बसेरा, 1882, सेक्टर-13,
करनाल-132001, हरियाणा
मो० 9416152100
Email:- ashokbhatiahes@gmail.com

ममता कालिया कृत 'दुःखम सुखम' में व्यक्त समाज

प्रो० शर्मिला सक्सेना

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

कला संकाय, डी०ई०आई०

दयालबाग, आगरा

हिंदी की महान विदुषी, चर्चित लेखिका ममता कालिया को उनके महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'दुःखम सुखम' के लिए व्यास सम्मान से सम्मानित किया गया है। प्रस्तुत कृति लेखिका के रचना-संसार का एक अनुपम रत्न है, जिसमें मथुरा जिले के एक निम्न मध्यमवर्गीय परिवार की तीन पीढ़ियों की गाथा के साथ कूदते-फँलागते वक्त की कथा भी कही गई है। दुःखम सुखम में अमृतलाल नागर के उपन्यासों-सी किस्सागोई, चुपचाप करवट लेते वक्त की आहट, स्थानीय रंगत से रची-बसी बोली भाषा और जीवन का जटिल यथार्थ संगुणित है। उपन्यास में कृष्णजन्म की पावन नगरी 'मथुरा' के परिवेश को आधार बनाया गया है। मथुरा के अलावा कथासूत्र आगरा दिल्ली और बंबई तक गए हैं। बीसवीं शताब्दी के मथुरा में बदलाव की आहट गांधीवादी विचारधारा के प्रभाव से आती दिखाई पड़ती है। विद्यावती अपनी तरह अलबेली स्वाधीनता सेनानी थीं, कभी देश की आजादी के लिए लड़ीं कभी अपनी। अपनी शिक्षा आप ग्रहण की। सारे बंधनों के बीच रास्ता निकाला। जैसी जिंदगी उन्हें मिली उससे बेहतर जिंदगी का सपना उन्होंने देखा। विद्यावती जिंदगी को सुख-दुःख का खेल समझती थीं। वे बच्चों के साथ गा उठती थीं- 'छक्कम, छकपक्कम, छक्कम, पकछक्कम' कहते हुए वे दौड़ते। उनके सुर में सुर मिलाकर विद्यावती गा उठतीं, 'कटी जिंदगानी कभी दुःखम, कभी सुखम, कभी दुःखम कभी सुखम।' उपन्यास 'दुःखम सुखम' में यशस्वी कथाकार ममता कालिया ने दादी विद्यावती और पौत्री मनीषा के मध्य व्यतीत हुए समय एवं समाज की अनूठी कथा कही है। इसमें तीन पीढ़ियों के बदलते विचार, मानस शंकाओं-आशंकाओं एवं परिवर्तित होते समाज का सांगोपांग चित्रण है। पहली पीढ़ी का आरंभ मथुरा में रहनेवाले लाला नत्थीमल और उनकी पत्नी विद्यावती से होता है। दूसरी पीढ़ी में लीला, भग्गो, कम्मो, कविमोहन और कवि की पत्नी इंदु आते हैं। कवि की दो बेटियाँ प्रतिभा और मनीषा तीसरी पीढ़ी का यथार्थ हैं। परंपराओं और रूढ़ियों में जकड़े इस मध्यवर्गीय परिवार की दादी विद्यावती ने अपने परिवार में बामशक्कत कैद, डंडाबेड़ी, तन्हाई और न जाने कौन-कौनसी सजा काट ली हैं। विद्यावती कहती हैं, 'औरत की तमाम उम्र ऐसे ही कट जाती है-कभी दुःखम, कभी सुखम। कहने की बात है कि मायके में सुख मिले, सासरे से दुख। माँ भी कम बैरी नहीं होती। बच्चों में दुभाँत करना बाप का नहीं, माँ का काम दिखता है। बेटों को प्यार, बेटियों को

दुत्कार। बेटे सारी जमा पूँजी, जमीन जायदाद ले जाएँ, तब भी प्यारे। बेटियाँ अचार की फाँक पर पलें, तब भी भारी।² विद्यावती गांधी बाबा की बड़ी भक्त हैं। कितना ही रोको, वह स्वराज्य के कार्य हेतु मथुरा भागी जाती रहती हैं। जीजी (विद्यावती) चरखा समिति में भी जाने लगी थीं। समिति की तरफ से उन्हें एक चरखा भेंट में मिला था। जीजी ने अपने घर के साथ-साथ मुहल्ले के सभी घरों में रसोई में एक कनस्तर रखवाया और बचा पलोथन उसमें डालने के लिए कहा। जब गांधीजी की विशाल सभा हुई तो यही आटा स्वयंसेवकों के काम आया। विद्यावती सुबह घर में अखबार पढ़ने लगीं। लालाजी को यह नहीं रुचता था, 'अखबार की खुली तह देखकर नत्थीमल का पारा सुबह ही चढ़ जाता। वे चिल्लाते किती बार कही है मैंने, मोय ताजा अखबार दिया कर, जे कुंजड़िन कल्लु समझै नाँय।'³ सुनकर विद्यावती पिनक जातीं और बोलती अखबार पढ़ने की चीज है खाने की नहीं। नत्थीमल विद्यावती में आनेवाले बदलाव को देख रहे थे। वह उनकी बातों का तार्किक जवाब देने लगी थीं। उन्हें महसूस हो गया था कि अब ये पहले वाली पत्नी नहीं, जिसे फैल मचाकर वे वश में कर लेते थे। सोचते कि सबसे पहले इनका चरखा समिति में जाना छूटना चाहिए। गृहस्थी के बोझ तले विद्यावती कई कहीनों से घर में चरखा नहीं चला सकीं और न संघ की किसी बैठक में जा पाई—'उसे लगा घर-गृहस्थी उसके लिए जाल भी है और जंजाल भी।'⁴ वह चौदह वर्ष की छोटी उम्र से घर का कामकाज सँभाल रही है। विद्यावती का पुनर्विवाह लाला नत्थीमल से 14 वर्ष की उम्र में हुआ था। बालविवाह का दूल्हा मुरारी बचपन में ही हैजे से मर गया था। पुनर्विवाह के पश्चात प्रथम जचगी में उनके पैर में खराबी आ गई। देखा जाए तो विद्यावती के माता-पिता ने उसका ब्याह करके जैसे जीते-जी उसका क्रियाकर्म कर दिया। वापस घूमकर भी नहीं देखा कि पुत्री किस हाल में है। बनिया समाज शायद यह सोचता है कि बेटे से ज्यादा प्यार दिखाया तो कहीं वह घर वापस ही न आ जाए—'उसका तो चलो दूसरा ब्याह था, जिनके पहले ब्याह थे उनकी भी कहानी यही थी। भाई-भाभी भी सुध नहीं लेते कि कहीं बहन आकर घर में डेरा न जमा ले।'⁵ पति फैल मचाकर उनसे मनचाहा काम करवा लेते थे। उन्हें लगता गांधीबाबा ने सबको अराजक बना दिया है किंतु विद्यावती पति व मायके के व्यवहार से दुःखी हो स्त्री-दुर्दशा, स्त्री-मुक्ति के विषय में चिंतन करने लगती हैं। वह कहती हैं, 'मोय नाँय मिलौ गांधीबाबा नहीं मैं बासै पूछती च्यों जो तुमने सिर्फ आदमियों को आजादी दिला दी, लुगाइयों को कब आजाद करोगे, वो तो आज भी गुलाम हैं।'⁶

हमारा समाज आज भी लैंगिक भेदभाव से युक्त है। पुत्र होने पर ही स्त्री का सम्मान होता है। पुत्री-जन्म पर उसे दुत्कारा जाता है। बेटे के चक्कर में विद्यावती को बेटियाँ पैदा होती गईं, इसमें भी नत्थीमल विद्यावती का ही दोष मानते थे—'उन्हें बड़े तीखेपन से अपनी तीनों बेटियों का ध्यान आया, जिनके रहते वे कभी चैन से बैठ नहीं सकीं। तीनों प्रसूतियों पर उनका दिल किस तरह टूटा, कैसी पराजित हुई थीं वे अपनी सृजनशीलता पर, कैसे उठते-बैठते ससुराल से लेकर पीहर तक सबने उन्हें ताने मारे थे।'⁷ पुत्र और पुत्री का भेद पीढ़ियों के आगे बढ़ने पर भी नहीं बदला। जिस दिन उसके पुत्र के घर द्वितीय बेटे ने जन्म लिया, घर में कोई उत्सव नहीं मना, लड्डू नहीं बँटे, बधावा नहीं बजा। उल्टे घर की मनहूसियत ही बढ़ी। दादी ने चूल्हा तक नहीं जलाया। लालटेन की मद्धम रोशनी में वे सिर पर हाथ रखे देर तक तख्त पर बैठी रहीं। बेटे की बेटे के लिए उनके मन में अस्वीकार का भाव था, किंतु जब बेटे के घर प्रथम संतान के रूप में बेटे ने

जन्म लिया तो दादी ने सबसे पहले रामो को कोसा, 'चलते-चलते टोक लगाई ही। चलो इससे क्या। मेरे बेटे का पहला फल है। अरी ओ भग्गो कहाँ है थरिया, ला नेक गाना-बजाना हो जाए। लच्छमी पधारी है।'⁸ मासूम बेबी की छठी पर इक्कीस कटोरदान बाँटे गए थे। बेटे के घर द्वितीय पुत्री का जन्म जब ऑपरेशन से हुआ तो, 'दादी का चेहरा पीला पड़ गया। ...उनकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया, हलक में आँसुओं का नमक महसूस हुआ।'⁹ धीरे-धीरे दादी की चेतना लौटी। वे अस्पताल के फाटक से बाहर आईं। वृंदावन से इतनी निराश वह पहली बार लौटी थीं। घर पहुँचते ही लालाजी का क्रोध फट पड़ा, 'तुमने का कम लाइन लगाई थी छोरियों की।'¹⁰ दादी भी क्रोध से बोलीं कि क्या मैं छोरियों को दहेज में लाई थी? वस्तुतः पुत्र और पुत्री का भेद तत्कालीन समाज में इतना अधिक था कि बेटियों को लोग दायम दर्जे का समझते थे। परिवार में बेटे को अच्छा खान-पान एवं अच्छी शिक्षा दी जाती थी, जबकि बेटे को पराया धन कहकर उसे उन सुविधाओं से वंचित रखा जाता था। समाज में व्याप्त यह असमानता आज भी चिंतनीय है। पुत्री-जन्म के उपरांत अपने ससुरालवालों के अमानवीय व्यवहार से इंदु इतनी तंग आ जाती है कि अपनी कोख से जन्मी नन्ही जान को मारने का विचार करती है। वह अपनी पुत्री के लिए कह उठती है, 'हाय यह लड़का होती तो मेरे कितने ही दुःख दूर हो जाते, इंदु के कलेजे में हूक-सी उठी और उसने बच्ची की ओर से मुँह फेर लिया, एक क्षण तो उसका मन हुआ कि वह बच्ची का गला घोट दे।'¹¹

पुत्र की इच्छा में पुत्री की भ्रूणहत्या आज बहुत प्रचलित है। जिस माँ के पूर्व में ही एक पुत्री जन्म ले चुकी हो, उस गर्भवती से उसकी सास निरंतर पूछती रहती है, उसे खाने में मीठा अच्छा लगता है या नमकीन- 'मोय सच्ची-सच्ची बता दे या दिना तेरा जो मीठा खाय को करे कि नोनो।'¹² इंदु सकुचाती हुई चीनी की ओर इशारा करती, यद्यपि उसकी तबियत हर समय खटमिट्टी और नमकीन चीजों पर मचलती। तमाम सीधेपन के बावजूद इंदु अपनी खैरियत पहचानती थी। यदि असली स्वाद वह बता देती (जो कि उसकी प्रथम संतान के जन्म के समय था) तो सास उसे सूखी रोटी के लिए भी तरसा देती। एकाध बार दादी ने इंदु का पेट उघाड़कर देखने की कोशिश की- 'दादी को यकीन था कि नाभि से निकली रोम-रेखा अगर सीधी ढलान उतरती जाए तो बेटा होता है अन्यथा बेटे।'¹³ विद्यावती को लगातार दो बेटियाँ पैदा हो चुकी थीं। जब तीसरी बार विद्यावती को दिन चढ़े तो किसी ने लाला नत्थीमल को सुझाया कि 'जब लड़कियाँ पैदा होती हैं तो तला ऊपर तीन तो जरूर ही होती हैं। उस दिन नत्थीलाल ने दुकान से लौटकर एक पुड़िया विद्यावती को दी। ...दिन में तीन बार फंकी लगाकर पानी पी ले। पेट की सफाई हो जाएगी। विद्यावती को बहुत बुरा लगा। ये बाप है या कंस।'¹⁴ इस बार उसे अपने लक्षण बदले हुए लगे। उसने यह दवा नहीं खाई। नाली में डाल दी। इससे विद्यावती का पेट तो नहीं, पर नाली सफाचट हो गई। वस्तुतः यह स्पष्ट है कि नरक से बचाने के लिए इस समाज का प्रत्येक परिवार पुत्रजन्म की इच्छा रखता है। पुत्रियों का जन्म परिवार में उल्लास नहीं लाता। दकियानूसी सोच ही पुत्र और पुत्री में भेद करती है। पुरुषवादी समाज की यह सोच आज भी समाज में व्याप्त है तभी तो अजन्मी पुत्री संतान को तथाकथित पढ़े-लिखे सभ्य व्यक्ति भी गर्भ में ही समाप्त करा देते हैं। अजन्मी संतान की हत्या के पश्चात् ये जनक किसी भी अपराधबोध से ग्रस्त नहीं होते।

परिवार की धुरी स्त्री को कहा जाता है। जिस घर में नारी का सम्मान होता है, उस घर में

देवताओं का निवास होता है... जैसे न जाने कितने जुमले समाज में प्रचलित हैं। यह वाक्य मात्र जुमले ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि परिवार में इसकी स्थिति दोगुना दर्जे की होती है। उसे सारा दिन काम में उलझाया जाता है, जब बच्चे रोते हैं तो बच्चों को ताना दिया जाता है। रोज उसे बचा हुआ टंडा बासी खाना दिया जाता है। बात-बात में उसके मायके वालों को ताना दिया जाता है। मेहनत, बचत और किफायत का कर्तव्य घर की स्त्री का माना जाता है। नत्थीमल ने आर्यसमाजी सुधारवाद की झोंक में पुनर्विवाह के लिए बाल-विधवा विद्यावती को चुना था, 'तो सिर्फ इसलिए कि उनसे दस साल छोटी लड़की भाग-दौड़कर घर-गृहस्थी के काम सँवारकर अपने को धन्य समझेगी। सभी वणिक पुत्रों की भाँति उनका गणित भी यही था, पैसा कमाने और खर्च करने का अधिकार उनका है, मेहनत, बचत और किफायत का कर्तव्य उनकी पत्नी का है।'¹⁵ गर्भवती विद्यावती दबी जबान में अपने पति से बर्तन माँजने के लिए 3 रुपए महीने पर महीने रखने के लिए निवेदन करती है। लाला नत्थीमल त्योंरी चढ़ाकर कहते हैं, 'फिर तुम क्या करोगी सारा दिन? ...चाहे जैसे बैठकर माँज, माँजने तो तुझे ही हैं, मायके की लाटसाहबी यहाँ नहीं चलेगी।'¹⁶ घर की स्त्री को बुखार आने पर घरेलू इलाज के तहत काढ़ा पिलाया जाता है। अस्पताल में निःशुल्क चिकित्सा व जचगी कराई जाती थी—'जनरल वार्ड के मरीजों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था, उल्टे उन्हें सुबह-शाम खिचड़ी भी बाँटी जाती।'¹⁷ इंदु अस्पताल से सुबह थोड़ी खिचड़ी खाकर घर वापस लौटी थी। धीरे-धीरे समय बीता गया, उसे किसी ने खाने के लिए नहीं पूछा। जब भूख असह्य हो गई, तब इंदु ने अपना सारा आत्मसम्मान दौंव पर लगाकर खाना खाती हुई सास ननद से पूछा, जीजी, मैं भी आ जाऊँ? तब सास ने उसे वहीं रोका और, 'कटोरदान में से सबसे नीचे रखे हुए दो बासी पराठे निकाले, उन पर एक करेला रखा और चौके के बाहर इंदु को देती हुई बोली—अब महीनाभर लीलने और हगने के सिवा और तुझे का काम है।'¹⁸

बनिया जाति अपने बेमेल विवाहों के लिए प्रसिद्ध थी। यह बेमेल आयु का ही नहीं, गुणों का भी होता था। अपनी जाति में ही विवाह करने के फेर में माता-पिता अपनी भोली मासूम लड़की का रिश्ता किसी काइयाँ लड़के से कर देते तो कोमलहृदया का कठोर वर से। कहीं लड़की दरियादिल होती तो लड़का कंजूस। कई बार संबंधों में अनपढ़ और पढ़े-लिखे का मेल करा दिया जाता। ऐसे दंपती मन मारकर लोकलाज निभाने की खातिर एक छत के नीचे रहते, पर उनके दांपत्य जीवन में दरार ही दरार होती। माता-पिता अपनी लड़कियों से उनकी मर्जी पूछे बिना कहीं भी बाँध देते थे।

विद्यावती की बीस वर्षीय पुत्री लीला की शादी छियालीस वर्षीय तिहाजू मन्नालाल से कर दी गई, जिसके दो बच्चे भी थे। दो पत्नियों की मौत से माता का दिल काँप गया, पर दादाजी ने उन्हें तसल्ली दी थी, 'वे दोनों होंगी कलमुँही। हमारी बेटा तो राजरानी रहेगी। दो-दो का गहना कपड़ा भी सब उसी को मिलेगा।'¹⁹ विवाह के उपरांत लीला को वाकई रुपए-पैसे, कपड़े-जेवर की कोई कमी नहीं थी। बक्से भरे रखे थे। इस पर भी मन्नालाल जब लौटते, उसके लिए नई काट के लहंगे, ओढ़नी, जंपर जरूर लाते। विवाह के तीसरे वर्ष जब लीला गर्भवती हुई, तब वह पति का सान्निध्य चाहती थी। वह चाहती थी कि उसका पति उसके पेट पर हाथ रखकर बच्चे की हरकत महसूस करे पर, 'पति अक्सर 'भागवत' ग्रंथ में डूबे रहते। वे रात-रात इस एक पुस्तक के सहारे बिताते।'²⁰ मन्नालाल में तुनकमिजाजी भी थी। वे कहते, 'देख भागवान किच-किच मत

किया कर, नहीं तो मैं तंग आकर किसी दिन अपनी भागवत उठाकर चला जाऊँगा। और वह कुछ दिनों पश्चात लीला और उसके छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर चले जाते, कभी महीनों को और कभी वर्षों को। गुस्सा उतरने पर बीच-बीच में वापस आ जाते। ऐसे में लीला बहुत व्यथित होती। इस बार मन्नालाल बहुत लंबे चले गए, 'अपनी तीन बच्चों से भरी गृहस्थी को वे कच्ची डोर से लटकता छोड़ जाने कहाँ धूनी रमा रहे थे। गुस्सा होता तो उतरता भी। यह तो सीधे-सीधे वैराग्य दिखाई दे रहा परिवार विमुखता जिसमें दायित्वबोध का नकार था।'²¹ वस्तुतः कहा जा सकता है कि अनमेल विवाह ही इन विषम परिस्थितियों का जनक है।

विद्यावती एवं लाला नत्थीलाल का एकमात्र पुत्र 'कविमोहन' उच्च शिक्षित हो प्रोफेसरि करना चाहता था। बचपन से ही उसकी पढ़ाई-लिखाई में विशेष रुचि थी। वह एक कुशाग्र और प्रतिभाशाली छात्र था। हाईस्कूल पास करने के उपरांत उसके पिता उसे अपने साथ दुकान पर बिठाना चाहते थे, किंतु वह इसके लिए तैयार नहीं था—'दादाजी, मैंने बुरा तोलने के लिए हाईस्कूल नहीं किया। मुझे आगे पढ़ना है।'²² इसके पश्चात् कवि आगे पढ़ने के लिए घर छोड़कर आगरा शहर चला आता है। बी०ए० में उसके सर्वाधिक नंबर आए थे। पिता ने उसका विवाह छोटी अवस्था में ही निश्चित कर दिया था। माता के समझाने पर पुत्र विवाह के लिए तैयार हो जाता है। पत्नी घर आती है। वह बाथरूम जाने के लिए अपनी ननदों से पूछती है, किंतु घर में बाथरूम है ही नहीं। वहाँ सभी लोग धोती लपेटकर, मुँहअँधेरे खुले में नहाते हैं। वह इस प्रकार स्नान के लिए तैयार नहीं होती। दो खाटों के बिस्तर हटाकर, उन्हें खड़ा कर, पुरानी चादरों से ढक अस्थाई स्थानघर बनाया गया। कई दिनों तक इसके पश्चात् लाला नत्थीमल ने अंदर के कमरे के कोने में टीन का टपरा लगावाकर नहाने की छोटी-सी जगह बनवा दी। आस-पास की स्त्रियाँ कई दिन तक बाथरूम के दर्शन करने आती रहीं। कवि को मथुरा के 'चंपा अग्रवाल कॉलेज' में बच्चों को पढ़ाने के लिए कच्ची नौकरी मिली। लालाजी की इज्जत अपने समाज में बढ़ गई—'कॉलेज लेक्चरर की सिर्फ एक सौ बीस रुपए तनखा थी, लेकिन उसका ओहदा समाज में बहुत ऊँचा था। विद्यार्थी अपने अध्यापक की इज्जत करने के लिए लेक्चरर को भी प्रोफेसर साब कहते।'²³ इसके पश्चात् कवि को दिल्ली में नौकरी मिल गई। वह अकेले ही वहाँ चला आया। काम के बाद उसे अकेलापन खलता। तब वह कभी-कभार सिगरेट पी लेता और कॉफी हाउस चला जाता—'काम के बाद वह कॉफी हाउस चला जाता है। वहाँ शोर का एक अंश बनना उसे अच्छा लगता है, सिगरेट पीना भी और कभी-कभार कॉफी। इन तीनों चीजों की तासीर ऐसी है कि इनके रहते भूख महसूस नहीं होती, न अकेलापन, न उदासी।'²⁴ धीरे-धीरे वह छात्रों का प्रिय शिक्षक बन गया। पति के बिना इंदु ससुराल में कठिन जीवन व्यतीत करती—'फिर भी वह यहाँ ससुराल में उपेक्षित का जीवन जी रही थी। कभी-कभी उसका जी एकदम विरक्त हो जाता। सास-ससुर आवाज लगाते रहते, ननदें टहोके मारतीं, वह एकदम जड़, निस्पंद, चौके के पटरे पर बैठी चूल्हे की लपट देखती रहती। वह न बोलती, न डोलती।'²⁵ मुन्नी को चेचक निकल आती है उसमें उसकी दशा बहुत खराब हो जाती है। पति के बिना ससुराल में रहना इंदु को परेशान करता है। पति कभी-कभी तीज त्यौहार या छुट्टियों में ही घर आता। 'गिले-शिकवों से गले-गले भरी इंदु के पास धीरज की जमा पूँजी निःशेष हो चुकी थी। इस वक्त उसे यही लग रहा था, पति ने उसे गुलामी के गहरे गड्ढे में धँसाकर अपनी आजादी कमाई है। छठे-छमासे आकर डाँट-डपट करने के सिवा और

कौनसी जिम्मेदारी निभाते हैं ये।²⁶ ससुराल में जान खपाई के सिवा कुछ नहीं था। वह सोचती क्या स्त्री के लिए तीसरी कोई जगह नहीं होती, जहाँ जाकर अपना मन हलका कर ले। इसके पश्चात् यू०पी०एस०सी० की चयन तालिका में कवि को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है और उसे ऑल इंडिया रेडियो के लिए कार्यक्रम निष्पादक का पद प्राप्त होता है। इसप्रकार नौकरी बदलकर पूना में घर लेकर अपनी पत्नी व बच्चों के साथ रहने लगता है। इस एक दशक में उसकी पुत्री प्रतिभा षोडशी हो गई है और मनीषा किशोरी। प्रतिभा बहुमुखी है, वहीं मनीषा अंतर्मुखी। कवि अपनी बेटियों को कला निपुण बनाना चाहता है, पर छोटी बेटी को यह सब पसंद नहीं है। बड़ी बेटी प्रतिभा शास्त्रीय नृत्य, गायन व अभिनय की शिक्षा लेती है और अनेक पुरस्कार जीतकर अपने पिता का नाम ऊँचा करती है—‘प्रतिभा ने सचमुच बेहतरीन अदाकारी की। ...उसका सौंदर्य, संवेदनशील अभिनय, कंठ माधुर्य और चपल नृत्य देखकर दर्शक विभोर हो गए। कर्टेन काल में सर्वाधिक तालियाँ उसके हिस्से आईं।’²⁷ कवि को आज अपना कद कई फुट ऊँचा लगने लगा। एक बेहतरीन कलाकार एवं अनुपम सौंदर्य की धनी प्रतिभा को मॉडलिंग का चस्का लग जाता है। वह तबला कलाकार निसार की दिखाई नवीन दुनिया के ख्वाब देखने लगी थी। निसार उससे कहता था, ‘एक बार बंबई चलकर देखो आप, मैं आपको मॉडलिंग की दुनिया की मल्लिका बनाकर दिखाऊँगा।’²⁸ वह अपने पिता से बंबई जाने की आज्ञा चाहती है। कवि कहता है कि जब उसका स्थानांतरण बंबई होगा, तब वह सभी चलेंगे, तब यह सब देखा जाएगा। कवि बच्चों को पढ़ाई का महत्त्व बताता और कहता कि किताब एक लालटेन की तरह होती है, जोकि हमारी राह आलोकित करती है। सभी को किताबें पढ़नी चाहिए—‘तुम लोग अपना लक्ष्य तय कर लो सालभर में कम-से-कम सौ किताबें तुम्हें पढ़नी हैं। कोर्स की नहीं, कोर्स की किताबें तो तोते पढ़ते हैं, साहित्य पढ़ो, दर्शन पढ़ो।’²⁹ किंतु प्रतिभा को बंबई आकर्षित कर रहा है। वह एक दिन पत्र रखकर, बंबई अपनी सहेलियों बैजू और सुनयना के पास गोरेगाँव अपना मॉडलिंग का कैरियर बनाने चली जाती है। घर में सभी बहुत परेशान होते हैं। माँ इंदु को बेहोशी आ गई। संतोष इसी बात का था, ‘कि शहर में किसी ने प्रतिभा की अनुपस्थिति को चरित्रहीनता से जोड़कर अपवाद पैदा नहीं किया। कवि के दुश्मनों ने भी सिर्फ इतना कहा अग्रवाल साब ने नसीहतें दे देकर बच्ची को इतना सताया होगा कि वह भाग खड़ी हुई।’³⁰ प्रतिभा बंबई जाकर संघर्षरत हो जाती है। धीरे-धीरे उसे विज्ञापन मिलने लगते हैं।

वस्तुतः देखा जाए तो ममता कालिया का अधिकांश लेखन भारतीय स्त्री के परिवेश के चारों ओर घूमता है। वह अपने साहित्य में स्त्री की उभरती छवि को चित्रित करती हैं। समय का बदलता प्रभाव समाज को किस प्रकार प्रभावित करता है, समाज की सोच में किस प्रकार परिवर्तन आता है, नई बयार किस प्रकार जीवन में नया रस घोलती है आदि सच्चाइयों से ममता कालिया ‘दुःखम-सुखम’ में हमें रूबरू कराती हैं। समय और परिस्थिति को आधार बनाकर लिखा गया यह उपन्यास अपनी रोचकता से बहुत कुछ कह जाता है। जीवन के जटिल यथार्थ से संगुणित यह उपन्यास उस मध्यवर्गीय परिवार की गाथा कहता है, जो परंपरागत रूढ़ियों में जकड़ा हुआ है, जहाँ भीतरी व बाहरी बेड़ियों में जकड़ी नारी अपनी मुक्ति के लिए स्वयंसिद्धा बन प्रयत्नरत है। वह कभी देश की आजादी के लिए लड़ती है तो कभी अपनी। वह सारे बंधनों के बीच अपना रास्ता स्वयं बनाती है निश्चित रूप से स्वयंसिद्धा का अनुपम आदर्श ‘दुःखम-सुखम’

में प्रस्तुत किया गया है।

संदर्भ

1. ममता कालिया, दुःखम सुखम, भारतीय ज्ञापनीठ-2015, पृ० 140
2. वही, पृ० 167
3. वही, पृ० 65
4. वही, पृ० 97
5. वही, पृ० 167
6. वही, पृ० 175
7. वही, पृ० 7
8. वही, पृ० 7
9. वही, पृ० 9
10. वही, पृ० 9
11. वही, पृ० 11
12. वही, पृ० 8
13. वही, पृ० 8
14. वही, पृ० 100
15. वही, पृ० 99-100
16. वही, पृ० 100
17. वही, पृ० 10
18. वही, पृ० 16-17
19. वही, पृ० 46
20. वही, पृ० 47
21. वही, पृ० 134
22. वही, पृ० 23
23. वही, पृ० 72
24. वही, पृ० 103-104
25. वही, पृ० 147
26. वही, पृ० 151
27. वही, पृ० 199
28. वही, पृ० 202
29. वही, पृ० 248
30. वही, पृ० 257

मो० 9410005843

उच्च शिक्षा में सांस्कृतिक मूल्यों की अनिवार्यता

डॉ० वीरेंद्रसिंह बर्वाल

असिस्टेंट प्रोफेसर-हिंदी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
श्रीरघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)

भारत के उच्च शिक्षण संस्थानों में नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यपरक शिक्षा का अभाव नजर आता है। लगता है, हजारों की संख्या में विश्वविद्यालय और महाविद्यालय केवल डिग्रियाँ उत्पन्न करने के कारखाने बन गए हैं। उनका उद्देश्य केवल युवकों को रोजगार के योग्य बनाना रह गया है, परंतु इसमें भी वे सफल नहीं हो पा रहे हैं। महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में बढ़ती आपराधिक घटनाएँ और राजनीतिक प्रदूषण बताता है कि हम उच्च शिक्षा के नाम पर वह नहीं कर रहे, जिसकी देश को आवश्यकता और समाज को अपेक्षा है। हमने अपने प्राचीन भारतीय मूल्यों को तिलांजलि दे पश्चिम की देखादेखी की और अपनी पहचान खो बैठे। आज नितांत आवश्यकता है कि हम उच्चशिक्षा के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के तत्त्वों का अभिसिंचन करें।

महान दार्शनिक रूसो ने कहा था—‘मेरे लिए इसका कोई महत्त्व नहीं कि मेरा विद्यार्थी सैन्य सेवा में जाएगा, या चर्च या कानून के क्षेत्र में। इससे पहले कि उसके माता-पिता उसके लिए कार्यक्षेत्र तय करें, प्रकृति ने उसे पहले मनुष्य होने के लिए कहा है। अतः जब वह मुझसे शिक्षा प्राप्त करके जाएगा तो वह न मजिस्ट्रेट होगा, न सिपाही, न पादरी; वह एक मनुष्य होगा।’

स्वामी विवेकानंद ने कहा था—‘पाश्चात्य सभ्यता की बुराइयों में से एक यह भी है कि वहाँ हृदय की परवाह न करते हुए केवल बौद्धिक शिक्षा दी जाती है। ऐसी शिक्षा मनुष्य को दस गुना स्वार्थी बना देती है।’

हिंदी के प्रसिद्ध कवि सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय ने लिखा है—‘हमारे हाथ मुक्त हों, हमारा हृदय मुक्त हो, हमारी बुद्धि मुक्त हो। इससे बड़ी सफलता न हमारी शिक्षा हमें दे सकती है न हम अपनी शिक्षा को दे सकते हैं।’

भारत के संदर्भ में उच्चशिक्षा की वर्तमान दशा-दिशा को देखते हुए उपर्युक्त सिद्धांतों का पूर्ण रूप से पालन किए जाने की आवश्यकता है, परंतु स्थिति इसके विपरीत है। हम ग्रेजुएट, पोस्ट ग्रेजुएट, पीएच०डी०, डीलिट् तो हो रहे हैं, परंतु हम केवल बौद्धिक रूप से विकसित हो रहे हैं, आत्मिक रूप से नहीं, चारित्रिक रूप से नहीं, नैतिक रूप से नहीं, सांस्कृतिक रूप से नहीं। हम समाज में शैक्षिक नेतृत्व करने की मंशा पाले हुए हैं, लेकिन उन गुणों को स्वयं पर लागू नहीं करते, जो एक सुसंस्कृत समाज के लिए आवश्यक हैं।

भारतीय परंपरा में ‘शिक्षा’ शब्द ‘शक’ अथवा ‘शिक्ष’ धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ

मानव अथवा किसी भी प्राणी को आधुनिक धरातल पर समर्थ (सक्षम) बनाना है। वास्तव में शिक्षा अथवा विद्या विशेषतः मानव का इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति अथवा परमोत्कृष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मानसिक एवं बौद्धिक विकास करती है।

शिक्षा, संस्कृति और सभ्यता का आपस में घनिष्ठतम तारतम्य है। संस्कृति से संस्कार निष्पन्न होते हैं। बिना संस्कार (संस्कृति) की शिक्षा आत्मारहित व्यक्ति की तरह है।

संस्कृति से तात्पर्य सभ्यता के उस स्वरूप से है, जो आध्यात्मिक एवं मानसिक वैशिष्ट्य का द्योतक है।¹

‘संस्कृति’ शब्द संस्कृत ‘कृ’ (करना) धातु में ‘सम’ (सम्यक्) उपसर्ग और ‘क्तिन’ प्रत्यय के योग से निर्मित है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—सम्यक् रूप से किया जानेवाला आचार-व्यवहार। सामान्य बोलचाल में ‘संस्कृति’ का अर्थ सुंदर, रुचिकर, कल्याणकारी और परिष्कृत व्यवहार से लिया जाता है।²

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर सारांशतः कहा जा सकता है कि संस्कृति किसी जाति, समुदाय और देश के लोगों की वह परिष्कृत जीवन-पद्धति है, जिसे समाज ने स्वीकार कर लिया है।

देश के पढ़े-लिखे, विशेषतः उच्च शिक्षित-वर्ग से अपेक्षा की जाती है कि उसमें इन गुणों का बाहुल्य हो, परंतु वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय संस्कृति के तत्त्व आज उच्चशिक्षा में विलुप्त हो गए हैं। गुरु और शिष्य के मध्य केवल व्यावसायिक संबंध रह गए हैं।

भारतीय संस्कृति को वैदिक एवं आदि संस्कृति भी कहा गया है। अध्यात्म, सहिष्णुता जैसे तत्त्वों से संपृक्त इस संस्कृति को भारत की आत्मा कहा जाता है। वेद भारतीय संस्कृति के स्रोत हैं। वेदों में सर्वप्रथम संस्कृति शब्द का प्रयोग हुआ है। ‘सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा सः प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः।’³

भारतीय संस्कृति नैतिकता, चारित्रिक श्रेष्ठता एवं कर्म करने पर बल देती है। यह संस्कृति मानव-जीवन में उन अवस्थाओं एवं नैतिक नियमों पर बल देती है, जो मानव को कर्तव्य, अकर्तव्य के समझने की अंतर्दृष्टि देने में सक्षम होते हैं। धर्म का पालन करना भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है। ये अंग मानवधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, राष्ट्रधर्म और स्वधर्म हैं।⁴

संस्कृति में निहित इन धर्मों के आज उच्चशिक्षा में नाममात्र के ही दर्शन होते हैं। पहले हमारी शिक्षा गुरुकुल-पद्धति पर आधारित थी। गुरुकुल एक प्रकार की संस्कारशालाएँ थीं। वहाँ बालक गुरु के सानिध्य में रहकर संपूर्ण शिक्षा और संस्कार प्राप्त करता था। आज के परिप्रेक्ष्य में यद्यपि यह पद्धति व्यावहारिक नहीं है, लेकिन उस पद्धति का कुछ सीमा तक अनुसरण तो किया ही जा सकता है। भारत में उच्चशिक्षा का संचालन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग करता है, लेकिन इस आयोग को ही शायद यह पता नहीं कि उसके अधीन चल रहे संस्थानों में शिक्षा की गुणवत्ता और उनमें संस्कारों के समावेश की क्या स्थिति है। आज उच्च शिक्षण-संस्थानों का जिम्मा केवल रोजगार के लिए युवाओं को तैयार करना भर रह गया है, लेकिन इसमें भी वे कहाँ तक सफल हो रहे हैं, देश में बढ़ती उच्च शिक्षित बेरोजगारों की फौज इसकी तस्दीक करती है। कहने का आशय यह कि केवल डिग्रियाँ बाँटने-भर से देश में बेरोजगारी दूर नहीं हो जाती है और आदमी शिक्षित नहीं हो जाता।

जनसत्ता अखबार में श्री शंकरशरण लिखते हैं—डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता वाले विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948) की रिपोर्ट को आधार मानें तो हमारी चिंताओं में यह बात खो गई है कि विश्वविद्यालय का अर्थ क्या है? उसे किसलिए बनाया गया था? यह वही आयोग था, जिसकी अनुशंसाओं पर स्वतंत्र भारत के विश्वविद्यालयों की आधारशिक्षा रखी गई और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग बना।⁵

उच्च शिक्षण संस्थानों में शिक्षण की गुणवत्ता की बात किनारे रख दीजिए। वहाँ केवल चारित्रिक श्रेष्ठता, नैतिकता और शुचिता की वास्तविकता देखते हैं। कतिपय उदाहरण देखिए—

2016 में प्रकाश में आए एक प्रोफेसर और उसकी शिष्या के प्रेम-प्रकरण से उच्चशिक्षा जगत शर्मसार हुआ था। सन् 2004 में पटना यूनिवर्सिटी के बी०एन० कॉलेज के प्रोफेसर मटुकनाथ अपने से 30 साल कम उम्र की शिष्या से प्यार कर बैठे। हालाँकि 15 जुलाई, 2006 को पटना यूनिवर्सिटी ने मटुकनाथ को बी०एन० कॉलेज के हिंदी विभाग के रीडर पद से सस्पेंड कर दिया था। बाद में 20 जुलाई, 2009 को उन्हें सेवा से बर्खास्त कर दिया था।⁶

19 जून 2017 में लखनऊ स्थित शकुंतलादेवी यूनिवर्सिटी का एक एसोसिएट प्रोफेसर अरविंद शर्मा एक छात्रा के साथ फरार हो गया था।⁷

एक कॉलेज में एम०बी०, बी०एस० का विद्यार्थी अफजल गुरु आतंकवादी बन जाता है। वह 13 दिसंबर, 2001 को भारतीय संसद पर हुए हमले के आरोपियों में एक था। उसे 9 फरवरी, 2013 को फाँसी दी गई।

9 फरवरी, 2016 की रात को जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली के कुछ छात्रों ने अफजल गुरु की फाँसी के विरोध में एक कार्यक्रम किया, जिसमें देशविरोधी नारे लगाए गए। इसमें कन्हैयाकुमार और उमर खालिद गिरफ्तार किए गए।

सितंबर, 2017 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में आंदोलनरत छात्राओं पर लाठी चार्ज के बाद पूरा विश्वविद्यालय राजनीति का केंद्र बन गया था।

उत्तराखंड का जी०बी० पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय कुछ सालों से भ्रष्टाचार और अनियमितताओं के लिए कुख्यात हो चुका है। यहाँ योग्यता और एन०ओ०सी० आदि मामलों में अनियमितता बरती गई। वहाँ सहायक प्राध्यापकों की भर्ती में घपला किया गया। चहेतों को लाभ पहुँचाने के लिए अंकों में हेरफेर किया गया।⁸

वर्तमान में भारत में 789 विश्वविद्यालय हैं। इनमें 43 केंद्रीय विश्वविद्यालय हैं। देश में 23 आईआईआईटी, 23 आईआईटी हैं। इनके अतिरिक्त 37204 महाविद्यालय हैं। इन उच्चशिक्षण संस्थानों में शिक्षकों की संख्या करीब साढ़े तीन करोड़ है। उत्तराखंड के परिप्रेक्ष्य में कहें तो यहाँ एक केंद्रीय विश्वविद्यालय, 10 राज्य विश्वविद्यालय, 3 मानित विश्वविद्यालय, 11 निजी विश्वविद्यालय, 99 सरकारी महाविद्यालय, 16 अशासकीय महाविद्यालय तथा एक स्वायत्त विश्वविद्यालय है।⁹

यद्यपि देश की जनसंख्या के हिसाब से ये संस्थान अपर्याप्त हैं, किंतु ज्वलंत प्रश्न यह है कि इतने संस्थानों में भी कितने हैं, जो संस्कारपरक और गुणवत्तायुक्त शिक्षा दे रहे हैं। उच्चशिक्षा को संचालित करनेवाला यूजीसी कभी पीएचडी तो कभी एपीआई को लेकर नियम बनाता है, परंतु उनका कितना लाभ शिक्षकों, शिक्षा, शिक्षार्थियों और देश को मिलता है, यह शोध का विषय है।

हम कभी शिक्षक की योग्यता का आकलन उसके प्रकाशन कार्यों के आधार पर करते हैं तो

कभी केवल साक्षात्कार और अंकों के आधार पर। आखिर इसके लिए क्यों न एक स्थायी नियम बने। क्या एक योग्य शिक्षक के लिए यही बातें बुनियादी हैं? हमें उसके ज्ञान और संस्कारों के आकलन और अवलोकन के लिए और भी नियम खोजने होंगे। हमें उसके परीक्षण की नई तकनीक विकसित करनी होगी।

कालिदास ने वर्षों पहले एक शिक्षक की योग्यता इसप्रकार बताई थी—

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था एकातिरन्यस्य विशेषयुक्ता।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापचितव्य एव।¹⁰

अर्थात् उसे अपने शास्त्र (विषय) का संपूर्ण ज्ञान हो, उसमें श्रेष्ठ संप्रेषणीयता हो। इन दो गुणों वाला शिक्षक अपने वर्ग में अग्रगण्य है।

लब्धास्पदोस्भीति विवादभीरोस्तिक्षमाणस्थ परेण निंदाम्।

यस्यागमः केवलजीवकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वर्दति।¹¹

अर्थात् पद पर रहते हुए अपने विषय के विवाद से डरनेवाला, कमजोर विद्वत्ता को लेकर अपनी निंदा सहनेवाला शिक्षक अगर केवल अपनी जीविका के लिए शिक्षण करता है तो वह निरा ज्ञान का व्यापारी है।

सारांशतः वर्तमान दौर में उच्च शिक्षण-संस्थानों द्वारा प्रदत्त ज्ञान और वहाँ की राजनीतिक-अनैतिक घटनाओं से हमें भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाए जाने की अपरिहार्य आवश्यकता महसूस होने लगी है। भारतीय संस्कृति एवं परंपराएँ ऋषि-मुनियों के द्वारा सुचिंतित विचार हैं। ज्ञान की यह विपुल संपदा मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनाने में सक्षम है, लेकिन हमने शिक्षा-जगत में इसे उतारने का प्रयास नहीं किया है। आज जरूरत इस बात की है कि भारतीय उच्च शिक्षण-संस्थानों में भारतीय संस्कृति और नैतिक मूल्यों पर आधारित शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाए। योग को भी इसमें शामिल किया जाए। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'वसुधैव कुटुंबकम्' एवं 'सहनावतु सहनौ भुनक्तु' इत्यादि मंत्रों में निहित सिद्धांतों को आत्मसात् किया जाए।

तत्त्वतः आज हमें आवश्यकता है कि उच्चशिक्षा की कुंजिका के द्वारा वेद, वेदांग, षड्दर्शन, अष्टादश पुराण, अष्टादश स्मृतियों के निष्कर्षों अथवा सूत्रों का उपयोग करें, क्योंकि विद्या वह है, जो अज्ञान से मुक्ति देती है—सा विद्या या विमुक्तये। अर्थात् हमें केवल रोजगार के निमित्त ग्रहण की गई शिक्षा को ही ज्ञान नहीं मानना होगा, अपितु भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को उसमें प्राथमिकता देनी होगी। अंत में उच्चशिक्षा पर चिंता व्यक्त करते राष्ट्रीय सहारा के संपादकीय की कुछ पंक्तियाँ—'जहाँ सरकारी शिक्षा संस्थानों की स्थिति खराब हो, शिक्षा की समावेशी एवं कल्याणकारी प्रकृति के साथ समझौता किया जा रहा हो, ग्रामीण शिक्षा की अनदेखी की जा रही हो, सिर्फ पाठ्यक्रम सुधार के माध्यम से गुणवत्ता हासिल कर सकने की उम्मीद उच्चशिक्षा से नहीं की जा सकती है।'¹²

संदर्भ

1. वृहत् हिंदी कोश, कालिकाप्रसाद, राजबल्लभ सहाय, मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, पृ० 1178
2. देवसिंह पोखरिया, लोकसंस्कृति के विविध आयाम : मध्य हिमालय के संदर्भ में, पृ० 1
3. यजुर्वेद, अध्याय-7, मंत्र-4
4. डॉ० शिवानंद नौटियाल, गढ़वाल के लोकनृत्य-गीत, पृ० 30-31 (भूमिका भाग)

5. जनसत्ता, 01 दिसंबर, 2014
6. दैनिक भास्कर डॉटकॉम, 8 फरवरी, 2016
7. सिटी न्यूज़, लखनऊ, 26 जून 2017
8. दैनिक जागरण, 31 जनवरी, 2018
9. दैनिक जागरण, 5 अप्रैल, 2017
10. मालविकाग्निमित्रम्, 1-161
11. वही, 1-17
12. राष्ट्रीय सहारा (संपादकीय), 27 फरवरी, 2017

मकान नंबर-एच 301, नेहरू कॉलोनी,
धर्मपुर, देहरादून (उत्तराखंड) 248001
मो० 9411341443, 7535975381
ईमेल-veerendra.bartwal8@gmail.com

रीतिकाल के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की साहित्येतिहास दृष्टि

अमृतकुमार

पीएच०डी० (हिंदी) शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल (1643 ई०-1843 ई०) महत्वपूर्ण कालखंड रहा है। हिंदी साहित्येतिहास लेखन में रीतिकाल को लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिंदी साहित्य का इतिहास', विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'हिंदी साहित्य का अतीत-भाग 2', डॉ० नगेंद्र की 'रीतिकाव्य की भूमिका' और महेंद्रकुमार की 'हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल' ऐसे ग्रंथ हैं, जो रीतिकालीन साहित्य को एक व्यापक रूप में हमारे सामने उपस्थित करते हैं।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' का अपना अलग महत्व है। निःसंदेह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास-लेखन के प्रमुख क्षेत्र 'आदिकाल' और 'भक्तिकाल' रहे हैं, परंतु रीतिकाल के संदर्भ में उन्होंने जितना भी लिखा है, वह सारगर्भित और सार्थक लेखन है। वस्तुतः रीतिकालीन साहित्येतिहास-लेखन उनके परंपरावादी दृष्टि का ही परिणाम है, जो हिंदी साहित्य में रीतिकाल की नवीनता को उद्घाटित करता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल को लेकर सर्वप्रथम 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (1940 ई०) में 'रीतिकाव्य' शीर्षक से लिखा है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि रीतिकाल में लिखे जानेवाले शृंगारिक मुक्तकों का संबंध केवल संस्कृत के साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों से ही नहीं है, अपितु ईसवी सन् की पहली शताब्दी में लिखे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के मुक्तकों से भी है। इन मुक्तकों का उद्देश्य न तो किसी आश्रयदाता की संस्तुति था और न इनमें किसी प्रकार की पारलौकिक चिंता ही परिलक्षित होती है। द्विवेदीजी इस तरह के काव्य को ऐहिकतामूलक काव्य कहते हैं, जिसे अँग्रेजी में 'सेक्यूलर कविता' कहा जाता है। वह इनका आरंभ प्राकृत में 'हाल' की सतसई से मानते हैं। वह लिखते हैं, 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रंथ में अतिशय जीवंत रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेरणाएँ, ग्राम-वधूटियों की शृंगार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुंदरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवंत, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है।" वस्तुतः 'हाल' की इस परंपरा का विकास संस्कृत साहित्य और फिर रीतिकाल में होता है। इसके उपरांत द्विवेदी जी

भारतीय परंपरा के स्रोतों का सहारा लेते हैं और स्पष्ट करते हैं कि रामायण, महाभारत, बाण का चंडी शतक, मयूर का सूर्य-शतक आदि में अभिव्यक्त भगवतधर्म का मिलन जब लोकभाषा में गोप-गोपियों की प्रेम-लीलाओं से हुआ, (जैसे-हाल की सतसई), तब लोककाव्य प्रचुर मात्रा में शास्त्र-प्रभावित काव्य में अंतर्निहित होने लगा। द्विवेदीजी आगे कहते हैं, 'भारतीय स्रोतों के कवि भक्तिभाव से गद्गद् जब भी कविता करते थे तो शिव, दुर्गा, विष्णु आदि देवी-देवताओं की शृंगारलीला के वर्णन करने में कभी कुंठित नहीं होते थे।'²

द्विवेदीजी यह स्पष्ट करते हैं कि प्राकृत और अपभ्रंश में प्रेम की लीलाएँ जो दिखती हैं वह आगे चलकर विद्यापति, सूरदास की लोकभाषा में लिखित रचनाओं में संपूर्ण विकसित रूप में पाई जाती है और फिर बंगाल के रूपसनातन और जीवगोस्वामी ने सर्वप्रथम अलंकारों और नायिकाओं के विवेचन के लिए राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं को उदाहरण के रूप में सजाया। वह कहते हैं, 'इसप्रकार लोकभाषा का यह रूप, जो बहुत दिनों तक भीतर-ही-भीतर पक रहा था, शास्त्र की उँगली पकड़कर अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा। हिंदी में वह अपने गीत-रूप से स्वतंत्र होकर विकसित हो सका, अर्थात् अपने प्राचीन फुटकल पद्य-रूप में भी विकसित हुआ।'³ वस्तुतः द्विवेदीजी ने रीतिकाल को लोकभाषा के साहित्य का ही विकास माना है, फिर भी वह स्पष्ट करते हैं कि रीतिकालीन कविता लोकसाहित्य नहीं है, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष लोकजीवन से स्फूर्ति और प्रेरणा पाने की प्रक्रिया गौण है।

द्विवेदीजी की दृष्टि निश्चय ही परंपरावादी है, क्योंकि वह साहित्य के इतिहास में अतीत और वर्तमान के विकासशील संबंध को पहचानते हैं। परंतु इसके अतिरिक्त रीतिकालीन साहित्येतिहास-लेखन में उनकी लोकवादी दृष्टि निरंतर सक्रिय रही है और उन्होंने रीतिकालीन साहित्य की अवधारण को लोक से जोड़कर देखा है। वस्तुतः किसी भी युग का साहित्य का इतिहास केवल परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के इतिहास से पूरा नहीं होता, अपितु उस काल की संपूर्ण सामाजिक चेतना, भावना और विचारधारा को समझने के लिए लोकभाषा के साहित्य पर भी ध्यान जरूरी है, जो द्विवेदीजी के रीतिकालीन साहित्य में निरंतर विद्यमान है। इसी कारण से द्विवेदीजी रीतिकालीन साहित्य के उन बिंदुओं को पहचान सके, जिसके बिना रीतिकाल को समझना अधूरा प्रतीत होगा।

'हिंदी साहित्य की भूमिका' के उपरांत 1952 ई० में 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक महत्वपूर्ण साहित्येतिहास ग्रंथ सामना आता है। इस ग्रंथ में द्विवेदीजी ने रीतिकाल को 'रीतिकाव्य' के अंतर्गत रखते हुए चर्चा की है। इस ग्रंथ में द्विवेदीजी रीतिकालीन साहित्य का संबंध समाज से जोड़ते हैं और रीतिकालीन समाज के ढाँचे के बारे में लिखते हैं, 'इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में स्पष्ट रूप से दो श्रेणियाँ हो गईं—एक तो उत्पादक वर्ग, जिसमें प्रधान रूप से किसान और किसानों से संबंध रखनेवाली जातियाँ (बढ़ई, लोहार, कहार, जुलाहा इत्यादि थीं और दूसरा दल भोक्ता (राजा, रईस, नवाब आदि) या भोक्तृत्व का मददगार था। मुगल शासन के अंतिम दिनों में भारतीयों के ये ही दो आर्थिक वर्ग थे—राजा-सामंत, मनसबदार आदि भोक्तावर्ग (और कृषकों और श्रमिकों का उत्पादक वर्ग)।'⁴ वह आगे स्पष्ट करते हैं कि रीतिकाल इसी सामंती व्यवस्था का ही पतनशील रूप है और दोनों वर्गों का संबंध क्रमशः क्षीण होता गया, क्योंकि दोनों वर्गों की दुनिया एकदम अलग हो चुकी थी। वस्तुतः द्विवेदीजी की इतिहास-दृष्टि सामंतविरोधी तो है ही, परंतु यहाँ भी उन पर प्रगतिशील आंदोलन का

भी प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखता है। अपनी प्रगतिशील दृष्टि के चलते ही वह स्पष्ट करते हैं कि इन दो वर्गों के मध्य जो कवि और चित्रकार वर्ग था, जो आश्रयदाताओं के मनोरंजन करने हेतु जिस जीवन से परिचित होना था, वह उन्हें ज्ञात नहीं था और इसलिए उन्होंने पुस्तक-विद्या के रूप में भानुदत्त की 'रसमंजरी', जयदेव की 'चंद्रलोक', 'रति रहस्य', 'दशरूपक', दंडी का काव्यादर्श आदि कामशास्त्रीय, नायिकाभेद, अलंकारशास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया। मैनेजर पांडेय लिखते हैं, 'द्विवेदीजी ने रीतिकालीन कविता के वर्गीय आकार, सामंती जीवन व संस्कृति से उसके संबंध और उसमें प्राप्त स्त्री-पुरुष-संबंधों के किताबी रूप का विश्लेषण करके उसके असली स्वरूप का उद्घाटन किया है।'¹⁵

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास-लेखन में मानवतावादी दृष्टि निरंतर बनी रही है और यही दृष्टि रीतिकालीन इतिहास-लेखन के संदर्भ में भी स्पष्ट होती है। वह अलंकारग्रंथों को आधार बनाकर कहते हैं, 'इन ग्रंथों के पाठक के चित्त में न तो मनुष्य-जीवन के किसी बड़े लक्ष्य को प्राप्त करने की स्फूर्ति संचारित होती है और न काव्य के ही किसी व्यापक स्वरूप का परिचय मिलता है। यहाँ सब-कुछ उक्ति-चमत्कार में ही सीमाबद्ध हो गया है।'¹⁶ वस्तुतः द्विवेदीजी मानते हैं कि जो काव्यशास्त्रीय रूढ़ियों से जितना कम आबद्ध होगा, वह मनुष्य मुक्ति का उतना बड़ा संदेश देता है।

द्विवेदीजी रीतिकालीन साहित्येतिहासलेखन में रीतिकाव्य की मनोवृत्ति को भी जगह-जगह उद्घाटित करते हुए यह स्पष्ट किया है कि रीतिकालीन साहित्य में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है और जो काव्यलेखन हो रहा है, वह केवल नारी-देह की शोभाओं और चेष्टाओं के अवलोकन तक ही सीमाबद्ध है। वह लिखते हैं, 'रीतिकाल का कवि अपनी नायिकाओं को गरीबी के वातावरण में नहीं देख सकता। बिहारी से लेकर ग्वाल और पजनेस तक सभी कवियों के चित्त में नायिका की ऐसी ही ऐश्वर्यदीप्त शोभा का भाव था, जिनमें कटाक्ष-विक्षेप की क्षमता न हो, ऐसी गोबर पाथती हुई, खेत निराती हुई, गृहकर्म में उलझी हुई स्त्रियाँ उनके काव्य का विषय नहीं हो सकती थीं, क्योंकि उनमें वक्तव्य को मादक बनाने की क्षमता नहीं थी।'¹⁷

द्विवेदीजी मानते हैं कि रीतिकालीन काव्य में नारी के सामाजिक अस्तित्व की अभिव्यक्ति का अभाव है। वस्तुतः इसी कारण रीतिकाल की नायिका आभूषणों से लदी होकर भी निष्प्राण है। द्विवेदीजी की दृष्टि निश्चय ही रीतिकाल के नायिका-विवेचन में प्रगतिशील है, जो सौंदर्य की खोज ग्रामीण स्त्री के उसके दैनिक कार्यों में देखने को इच्छुक है।

द्विवेदीजी ने रीतिकाल के संदर्भ में मौलिकता को महत्त्व देते हैं। हालाँकि वह यहाँ पर आचार्य शुक्ल से प्रभावित दिखाई देते हैं। आचार्य शुक्ल अपने इतिहास-ग्रंथ में यह स्पष्ट करते हैं कि केशवदास, भूषण, देव आदि ने काव्य के वर्णन में सामग्री कहाँ-कहाँ से ली है। यहाँ पर द्विवेदीजी मूल रूप से शुक्ल और नगेंद्र की ही परंपरा को विकसित करते हुए उनका समर्थन करते हैं, 'कहने का मतलब यह है कि काव्यशास्त्र का सांगोपांग विवेचन करनेवाले इन कवियों ने कोई नई बात नहीं कही।'¹⁸

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल में जिस तरह बिहारी को स्थापित किया है और उनके एक-एक दोहे को हिंदी साहित्य का रत्न माना है, ठीक उसी तरह द्विवेदीजी ने 'मतिराम' को केंद्र में रखा है। वस्तुतः रीतिकवियों में चर्चा के केंद्र प्रायः केशव, बिहारी और देव ही रहे हैं, परंतु

मतिराम को सबसे ऊपर लाने का साहस द्विवेदीजी करते हैं। आचार्य शुक्ल मतिराम के काव्य में स्वाभाविकता और अनाडंबरपूर्ण भाषा के चलते उनकी प्रशंसा करते हैं, परंतु द्विवेदीजी उनकी कविता में गार्हस्थ्य-भावना की खोज करते हैं। वह लिखते हैं, 'प्रथा के अनुसार, मतिराम ने विभिन्न श्रेणी की नायिकाओं का लेखा प्रस्तुत किया अवश्य है, पर मूलतः वे गृहस्थी के कवि हैं। मध्यकाल की अनुरागवती गृहवधू का जैसा मार्मिक और वास्तविक चित्रण मतिराम ने किया है, वैसा अन्य कवियों ने नहीं किया।'⁹ यह द्विवेदीजी के सामंतविरोधी दृष्टिकोण का ही परिचय है।

द्विवेदीजी ने रीतिकाल के संदर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से भी कवियों का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है, मुख्यतः 'बिहारी' को लेकर। बिहारी की तुलना उन्होंने मतिराम, देव और पद्माकर से की है और मतिराम की भाषा की सहजता और काव्य-चित्रण में चकाचौंध की जगह वास्तविकता अपनाने के कारण उन्होंने मतिराम को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया है।

वस्तुतः वह 'मतिराम' के संदर्भ में रीतिकालीन भाषा की भी बात करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि भाषा वही होनी चाहिए, जो सहज हो और बिना तोड़-मरोड़ के अर्थ को स्पष्ट करती है और जो चित्त को बहा ले जाती हो। द्विवेदीजी यहाँ पर साहित्य की भाषा में 'भाषा की सामाजिकता' के साथ-साथ मतिराम की निजी सृजनशीलता को भी प्रकट करते हैं। वस्तुतः साहित्य की भाषा के उपर्युक्त दोनों पक्षों पर विचार करना प्रत्येक साहित्येतिहासकार के लिए अनिवार्य है।

इसके उपरांत वह पद्माकर को मतिराम की ही परंपरा को ठीक से निभानेवाले कवि मानते हैं। वे देव को आधारफलक और गार्हस्थ्य प्रेम के कारण बिहारी से श्रेष्ठ मानते हैं तो बिहारी को छंदों के चुनाव में देव से श्रेष्ठ मानते हैं। 'बिहारी' के मूल्यांकन के अंतर्गत द्विवेदीजी ने सतसई-परंपरा का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि उन पर हाल की 'गाथा सप्तशती', गोवर्धन की 'आर्या सप्तशती' और अमरूक के 'शतक' का प्रभाव ही नहीं पड़ा, अपितु बिहारी ने स्वयं भी इनका विस्तृत अध्ययन किया था। वह लिखते हैं, 'बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती सभी बड़े कवियों की रचनाओं का निपुण अध्ययन किया था और इस बात का पूरा प्रयत्न किया था कि उनके दोहे अधिक व्यंजक, अधिक मर्मस्पर्शी, अधिक भाववाहक और अधिक सुथरें हों। उन्होंने पुराने कवियों के भाव को ग्रहण किया था, उसे सँवारा था, उसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया था और उसे 'अपना' बना दिया था।'¹⁰ वस्तुतः द्विवेदीजी यहाँ परंपरा के साथ संबंध जोड़ते हुए उसकी विकासमान प्रक्रिया की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं, जो उनकी परंपरावादी इतिहास-दृष्टि का प्रमुख केंद्र है।

आचार्य शुक्ल के समान ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी रीतिकाल के रीति-निरूपक कवियों से भिन्न अन्य कृतिकारों के लिए एक स्वतंत्र खाता खोलते हैं। हालाँकि, शुक्लजी ने 'रीतिकाल के अन्य कवि' के अंतर्गत रीतिमुक्त कवि और भक्ति, नीति के कवि को स्थान दिया तो वहीं द्विवेदीजी 'रीतिमुक्त काव्यधारा' नाम से कवियों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं और संभवतः वे साहित्येतिहास में रीतिकाल को 'रीति-मुक्त' में विभाजित करनेवाले पहले साहित्येतिहासकार थे। उन्होंने रीतिमुक्त को 'फारसी साहित्य' से प्रभावित माना। वह लिखते हैं, 'फारसी कविता में बड़े मोहक रूप में वर्णन किया गया है, उसका थोड़ा-सा आभास ठाकुर और घनानंद जैसे स्वच्छंद प्रेमवादी कवियों की रचनाओं में मिल जाता है, पर यह परंपरागत रीतिकाव्य के बाहर की बात है।'¹¹ वस्तुतः द्विवेदीजी रीतिमुक्त काव्यधारा को फारसी के ऐकांतिक प्रेमवादी कवियों की

रचनाओं से प्रभावित मानते हैं।

द्विवेदीजी का रीतिकालीन साहित्येतिहास शुक्लजी और अन्य साहित्येतिहासकारों की तुलना में संक्षिप्त है और द्विवेदीजी ने केवल प्रमुख रीतिकालीन कवियों को ही आधार बनाया है, हालांकि वह घनानंद जैसे प्रभावशाली कवि का सिर्फ नामोल्लेख ही करते हैं, जबकि घनानंद जैसे समर्थ रचनाकार को किसी भी साहित्येतिहास से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता है। वस्तुतः द्विवेदीजी इस काल के साहित्य की एक परंपरा को हमारे सामने रखते हैं। वह रीतिकाल के स्रोतों को हमारे सामने स्पष्ट करते हुए तत्कालीन समाज में रह रहे वर्गों और कवियों की मनोवृत्ति को दर्शाते हैं। द्विवेदीजी 'रीतिकाल' का वृत्त-संग्रह नहीं तैयार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने 'रीतिकाल' का विवेचन उतना ही किया, जिससे उस काल से जुड़ी परंपरा, समाज, प्रवृत्तियाँ, आदि बातें सहज ढंग से प्रकट हों।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल के संदर्भ में संक्षिप्त, परंतु अत्यंत सार्थक इतिहास-लेखन किया है। उनके रीतिकालीन साहित्येतिहास-लेखन में एक लयात्मकता है, जो पूरे लेखन में सर्वत्र विद्यमान है। द्विवेदीजी की परंपरावादी दृष्टि 'रीतिकाल' के उन महत्वपूर्ण बिंदुओं से साक्षात्कार कराती है, जो इससे पूर्व के साहित्येतिहासकारों नहीं किया था, तो वहीं दूसरी तरफ उनकी सामंतविरोधी और प्रगतिशील दृष्टिकोण रीतिकालीन साहित्य और समाज के संबंध को विभिन्न स्तरों पर विवेचित करती है। रीतिकालीन इतिहास-लेखन में लोक की अवधारणा उनके सामने निरंतर बरकरार रही है और उन्होंने यह स्पष्ट किया कि दरबारी संस्कृति से जुड़ी रूढ़िबद्ध कविता से उस काल के लोकगीत बेहतर हैं। लोकवादी और मानवतावादी जीवन-दृष्टि के कारण ही वह रीतिकाल साहित्य में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव मानते हैं। वस्तुतः द्विवेदीजी रीतिकालीन साहित्य को भारतीय साहित्य के इतिहास के अंग के रूप में देखने हैं और यही उनकी इतिहास-दृष्टि की व्यापकता और विकासशीलता का प्रमाण है।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 106
2. वही, पृ० 112
3. वही, पृ० 113
4. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 161
5. साहित्य और इतिहास-दृष्टि, मैनेजर पांडेय, पृ० 158
6. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 166
7. वही, पृ० 182
8. वही, पृ० 166
9. वही, पृ० 180
10. वही, पृ० 177
11. वही, पृ० 181

117/1 मुनीरिका
नई दिल्ली 110067
मो० 9871511697

रेखाचित्र-साहित्य में प्रभाकर माचवे का योगदान

डॉ० गीतासिंह

दो शब्दों से मिलकर बना 'रेखाचित्र' अँग्रेजी शब्द 'स्केच' के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता है। गद्य की अपेक्षाकृत नवीन विधाओं में यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। रेखाचित्र से अभिप्राय है—रेखाओं द्वारा प्रस्तुत चित्र। साहित्य में तो रेखाओं द्वारा चित्र प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है, अतः रेखाचित्र का एक नाम शब्दचित्र भी प्रचलित है।¹ इसके अतिरिक्त 'शब्दचित्र, व्यक्तिचित्र, शब्दांकन, चरित्र-लेख आदि शब्दों का भी प्रचलन है।' इसमें शब्दों को सहारे व्यक्ति का भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया जाता है। रेखाचित्र के स्वरूप को समझने के लिए कुछ परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं—'हिंदी साहित्य कोश' के अनुसार 'रेखाचित्र में कम-से-कम शब्दों में कलात्मक ढंग से किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्य का अंकन किया जाता है। इसमें साधन शब्द है, रेखाएँ नहीं।'²

डॉ० नगेंद्र के अनुसार, 'जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य में आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावतः इसके साथ आई अर्थात् 'रेखाचित्र' एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा, जिसमें रेखाएँ हों, पर मूर्त रूप अर्थात् उतार-चढ़ाव। अर्थात् कथानक का उतार-चढ़ाव आदि न हो, तथ्य का उद्घाटन मात्र हो।'³ रेखाचित्र आज के क्रांतिकारी युग का साहित्यिक माध्यम है, जिसमें जीवन की हलचलों को सीधा स्तर प्रदान किया जा सकता है। रेखाचित्र कहानी और निबंध की मध्यवर्तिनी भूमि पर स्थित है। रेखाचित्र न पूर्ण रूप से कहानी है और न निबंध, किंतु इन दोनों के तत्त्वों का कुछ-न-कुछ समावेश उसमें अवश्य है।

अतः रेखाचित्र साहित्य की वह विधा है, जिसके अंतर्गत एक ऐसी रचना आ जाती है, जिसमें किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या दृश्य का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। यह चित्र सामान्यतः यथार्थ पर आधारित होता है। यह यथार्थ स्मृति के आधार पर या फिर प्रत्यक्ष उपस्थित होकर दोनों ही स्थितियों में उपस्थित हो सकता है। इसके चित्रण में व्यक्ति के बाह्य और आंतरिक दोनों ही गुणों पर प्रकाश डाला जा सकता है। चित्रात्मकता इसका विशेष गुण है। कथानक के वर्णन में क्षिप्रता और गति होती है। कथानक के उतार-चढ़ाव ही अपेक्षा किसी एक घटना या दृश्य से रेखाचित्र अवगत करा देता है। तटस्थता के बावजूद लेखक प्रभावपूर्ण शैली में सरल-सहज भाषा के द्वारा संपूर्ण चित्र पाठक के समक्ष उपस्थित करता है।

रेखाचित्र वर्णन की अनेक शैलियाँ हैं। भावात्मक, लाक्षणिक, वर्णनात्मक, दार्शनिक, संवेदनात्मक तथा आलंकारिक शैलियों का यहाँ प्रयोग हो सकता है। जहाँ लेखक भावपूर्ण शब्दों में उल्लेख्य व्यक्ति के विषय में वर्णित करता है, वहाँ भावपूर्ण शैली होती है। लक्षणा शब्दशक्ति के प्रयोग से जहाँ लेखक अपने अभीष्ट को सिद्ध करता है, वहाँ लाक्षणिक शैली होती है। जहाँ किसी व्यक्ति,

वस्तु, घटना या दृश्य का वर्णन होता है, वहाँ वर्णनात्मक शैली होती है। जीवन के किसी पक्ष का वर्णन करते-करते जहाँ लेखक अनेक महापुरुषों का या फिर स्वयं का ही जीवनदर्शन देने लगता है, वहाँ दार्शनिक शैली होती है। इसी तरह से किसी वस्तु, घटना के मानवीय पक्ष को वह सामने रखे तो वहाँ संवेदनात्मक तथा जहाँ अलंकारयुक्त भाषा का प्रयोग हो, वहाँ आलंकारिक शैली होती है।

प्रभाकर माचवे के अनेक रेखाचित्र यत्र-तत्र प्रकाशित हैं। 'हंस' के रेखाचित्रांक में अज्ञेय पर 'अज्ञेय : जितने कि वे मुझे ज्ञेय हुए' शीर्षक से रेखाचित्र प्रकाशित हुआ। सन् 1939 में 'वीणा' में शुक्लजी पर तथा 'आरती' में (1940) अहिंदी भाषाभाषियों में प्रिय मैथिलीशरण गुप्त पर 'कलम और कूँची के साथ' रेखाचित्र प्रकाशित हुआ। 'संगम' के विशेषांकों में 'निराला' तथा 'एक भारतीय आत्मा' पर रेखाचित्र प्रकाशित हुए। एक लेखक 'मुक्तबोध' पर है, जिसमें रेखाचित्र के तत्त्व उल्लेखनीय हैं। यशपाल, रांगेय राघव, डॉ० रामकुमार वर्मा, मामा, काका आदि आपके पठनीय रेखाचित्र हैं।

यत्र-तत्र प्रकाशित इन रेखाचित्रों के अतिरिक्त सन् 1984 में पुस्तक रूप से प्रकाशित रेखाचित्र उल्लेखनीय हैं। 'शब्दरेखा' पुस्तक के छोटे-छोटे लेखों को रेखाचित्र, शब्दचित्र, स्केच, संस्मरण, चित्रगद्य आदि क्या कहा जाए? क्योंकि यहाँ कलम से बनाए स्केच भी हैं और उस पर इबारतनुमा टिप्पणी भी। दोनों ही चीजें जहाँ पाठक को किसी व्यक्तित्व को समझाने में सहायक हैं, वहीं उलझाने में भी सक्षम हैं कि पाठक इसे किस विधा में रखे? स्वयं प्रभाकर माचवे के शब्दों में, 'मैं व्यंग्य का पुट देता रहता हूँ। जानबूझकर 'तुक्कड़पन' भिड़ाकर। इस कारण से मुझे ठीक से कई लोग समझ नहीं पाए हैं। चलिए, उनके लिए, एक किताब और सही-सोचते रहे, किस विधा में इसे रखें? चित्रगद्य में या ललित संस्मरण में या रेखाचित्र में, जो रखना चाहे।' इसी भूमिका में वह रेखाचित्रों के विषय में कहते हैं, 'इन रेखाचित्रों के साथ कुछ इबारत भी मैंने लिखी हैं, अत्यंत आत्मीय।'⁴

रेखाचित्र अमूर्त शब्दों में बँधा किसी मूर्त व्यक्तित्व का ही अंकन होता है। इस पर प्रभाकर माचवे का कथन है, 'शाब्दिकों की इस मुक्केबाजी में, रेखाओं की भी बुरी दशा हो गई है—भला हो अमूर्त चित्रकला का ड्राइंग आना जरूरी नहीं, कला-समीक्षक बनते जा रहे हैं। अमूर्त शब्दों में अमूर्ततर चित्रों का मूर्त रूपांकन। या तो कलाकार समझें या उनके कला समीक्षक। आप लिखें खुदा बाँचे।' वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक में शब्द और रेखा यहाँ परस्पर पूरक हैं। ये न 'शब्द' हैं, न 'रेखा' ही है। शब्दों की निराकारिता को यह आकार वाली रेखाओं का आवरण है। मूर्त-अमूर्त का यों संयोजन है।

इस पुस्तक में 51 व्यक्तियों के रेखाचित्र प्रस्तुत किए गए हैं। ये रेखाचित्र भिन्न-भिन्न अवसरों और भिन्न वर्षों में बनाए गए हैं। पहला स्केच सन् 1942 का है, तो अंतिम सन् 1980 का। इन रेखाचित्रों में स्वदेशी और परदेशी दोनों ही साहित्यकार हैं तथा कुछ चित्र जैसे जयप्रकाश नारायण, राजेंद्रप्रसाद, जाकिर हुसैन, बी०डी० जत्ती, राधाकृष्णन् आदि राजनीति से जुड़े व्यक्तियों के भी हैं। इन रेखाचित्रों का विस्तृत अध्ययन हम निम्न बिंदुओं में कर सकते हैं। प्रभाकर माचवे द्वारा प्रस्तुत रेखाचित्रों में से अधिकांश रेखाचित्र चरित्र-प्रधान हैं। डॉ० राधाकृष्णन्, जयरामराज ओडेयार, ओ०सी० गांगुली, जी० शंकर कुरूप, जयप्रकाश नारायण, डॉ० जाकिर हुसैन आदि इस संदर्भ में

उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत रेखाचित्रों में प्रभाकर माचवे अत्यंत सहज-साधारण भाषा में इन विभूतियों के पद-गौरव से अप्रभावित, तटस्थ इनके गुण-दोषों को बड़ी क्षिप्रता से गिना देते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—‘राधाकृष्णन् कोरे दार्शनिक नहीं थे। उन्हें नृत्य और संगीत से गहरा प्रेम था। मैंने 1934 में अन्नामले नगर में रुक्मिणी अरुणमंडल के ‘कुमार संभव’ नृत्य में रात के एक बजे तक दर्शकों में बैठे हुए उन्हें देखा है। पाँच मंजिल चढ़कर यामिनी कृष्णमूर्ति का महिषासुरमर्दिनी कुचिपुडि मैक्समूलर भवन में देखते हुए देखा है।’⁵

‘जेपी सत्ता राजनीति से दूर रहना चाहते थे, वे सांस्कृतिक संपूर्ण क्रांति भी लाना चाहते थे। जो साधन उन्होंने चुना—‘युवाशक्ति’, वह 1924 में जब वे कैलिफोर्निया के फलों के खेतों में मजदूरी कर रहे थे, तबसे पचास वर्ष बाद का था। नतीजा एक महान ट्रेजेडी। केवल आदर्श सही होना काफी नहीं होता। उसके साधन जुटाने में व्यावहारिक होना जरूरी होता है।’

‘मैसूर में अपने मकान के बाहर नागपट्ट न लगाना, एक बूढ़े के सिवा किसी नौकर को न रखना—उसे भी कहना कि किसी को मिलने न आने देना—कोई पूछे कि आर०के० नारायण यहाँ रहता है, तो यह कह देना—कभी का यह घर छोड़ गया, पीएच०डी० थीसिस वाले देश-विदेश से छात्र प्रश्न-पत्रावली भेजते हैं वे फाड़ फेंकना, बहुत चुपे रहना, अपने घर में एक कक्ष वीणा बजाने का, एक में टाइपराइटर, लिखने की जगह ऐसी-ऐसी चुनना कि खिड़की से चामुंडादेवी का मंदिर दीखे, पूरे बड़े हाल में सिवा अपनी किताबों के देश-विदेश में छपे अनुवादों को जिल्दों के किसी की भी किताब का न रखना—एक शंकराचार्य का स्तोत्र-संग्रह संस्कृत-अँग्रेजी अनुवाद सहित अपवाद, पूरे हाल में कोई चित्र नहीं सिवा अपनी चालीस वर्ष पहले दिवंगता पत्नी का एक छोटा छायाचित्र, यह सब किसी सनकी का वर्णन नहीं, अँग्रेजी के विख्यात लेखक व्यंग्यचित्रकार लक्ष्मण के भाई नारायण की यह कैफियत है कि ‘गाइड’ पुस्तक पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार सन् साठ में मिला तो दिल्ली आए।’

पूर्णतः मनोवैज्ञानिक रेखाचित्रों का यहाँ अभाव है। हाँ, बीच-बीच में कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक कारण आदि व्यक्त करते हुए कथन अवश्य हैं। राधाकृष्णन् से लेखक के प्रश्न पूछने पर कि ‘आत्मकथा क्यों नहीं लिखी? राधाकृष्णन् का जवाब था कि हिम्मत नहीं होती।’ इस तरह राजेंद्रप्रसाद के विषय में प्रभाकर माचवे का कथन है—‘राजेंद्रबाबू आदर्शवादी थे। आदर्शवादी सदा सबको अच्छा मानकर चलता है। उसमें धोखा खाता है।’ प्रभाकर माचवे का मनोवैज्ञानिक कथन है—‘जब वे कष्ट में थे—शारीरिक और मानिसक। मैं कुछ नहीं बोल सका। कलाकार जब कष्ट में होता है तो उसे पता नहीं रहता कि बहुत-सा कष्ट वह अपना स्वयं निर्माण करता है। हर मनुष्य का मित्र और शत्रु वहीं स्वयं होता है। कलाकार कुछ ज्यादा संवेदनशील होते हैं। दो साल बाद आसाम गया तो पता लगा, वे नहीं रहे। ‘दही-कटोरा’ के लेखक को हमारी यह कमजोर रेखा श्रद्धाजलि। हम उनके लिए कुछ न कर सके।’

तथ्य या घटना-प्रधान रेखाचित्र भी इस पुस्तक में हैं। प्रस्तुत पुस्तक का प्रत्येक रेखाचित्र किसी-न-किसी घटना से जुड़ा हुआ है, जिसमें लेखक स्वयं उपस्थित रहा है। प्रत्येक रेखाचित्र में रेखाचित्रकार ने जहाँ घटना को वर्णित किया है, वहीं उस घटना से जुड़े व्यक्ति के जीवन के कुछ तथ्यों-सत्त्यों को भी वर्णित किया है। ‘के०बी० पुटप्पा’ रेखाचित्र में लेखक बताता है कि वह जब ‘भारतीय ज्ञानपीठ’ पुरस्कार लेने दिल्ली में आए, तब उसने उनका ये स्केच बनाया था, स्वयं

कवि सफलमानोव से लेखक 1972 में अफ्रो-एशियाई लेखकों की तैयार कांफ्रेंस में मिला। कहीं-कहीं तथ्य का काव्यात्मक चित्रण भी है।

‘काका कालेलकर’ रेखाचित्र में प्रभाकर माचवे काका कालेलकर के बारे में अनेक तथ्यों का वर्णन करते हुए कहते हैं—‘सफेद दाढ़ी में ऋषि-तुल्य दिखनेवाले, मूलतः कोंकणी भाषी, महाराष्ट्र के दत्तोत्रोय बालकृष्ण कालेलकर क्रांतिकारी बनने गए, पर शांति निकेतन के मार्फत साबरमती जा पहुँचे। गांधी बाबा के जादू ने उन्हें गुजरात विद्यापीठ का शिक्षक बना डाला। वे गुजराती के शैलीकार, निबंधकार, यात्रावर्णन-लेखक, वक्ता और गुरु बन गए।’¹⁶

वस्तुतः प्रायः रेखाचित्र किसी भी विवेच्य व्यक्ति के सभी गुणों को सामने नहीं लाते। हाँ, उनमें से कुछ की ओर संकेत अवश्य कर देते हैं। प्रभाकर माचवे के सारे रेखाचित्र व्यक्तियों पर ही केंद्रित हैं। इनमें से कुछ व्यक्ति भारतीय हैं। यथा—राधाकृष्णन्, नीलकंठ दास, मौलाना आजाद, निराला, महादेवी, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा आदि। कुछ विदेशी व्यक्ति भी हैं। यथा—लार्ड एटली (अमेरिका), जैक अबरना (शकागो, मार्टिन लूथर के शिष्य), बेगम सूफिया कमाल, शम्सुर्रहमान (ढाका, बांग्लादेश), सफलमानोव (सोवियत रूस), माया गलीना (मास्को) आदि। इसके अतिरिक्त कुछ अँग्रेजी के व्यक्ति भी हैं जैसे मुल्कराज आनंद, आर०के० नरायण, भवानी भट्टाचार्य आदि।

माचवे के रेखाचित्रों में व्यंग्य का तो अभाव-सा ही है। हाँ, व्यंग्य की चुटकियाँ बीच-बीच में अवश्य ही ली गई हैं। कुछ एक जगह हास्य का पुट है तथा कुछ जगह पर हास्य से मुक्त व्यंग्यात्मक उक्तियाँ हैं। हास्य-युक्त व्यंग्य द्रष्टव्य है—‘डा० राधाकृष्णन्’ रेखाचित्र में प्रभाकर माचवे साहित्य अकादमी के उपाध्यक्ष राधाकृष्णन् ने झपकी ले रहे जवाहरलाल नेहरू को जगा दिया तथा विषयांतर करके सबको हँसा दिया—‘एक बार साहित्य अकादमी की कार्यकारिणी में किसी नीरस चर्चा में अध्यक्ष जवाहरलाल को झपकी आ गई। पास बैठे उपाध्यक्ष राधाकृष्णन् ने उन्हें कोहनी से जगा दिया और ऐसा विषयांतर कर दिया कि सब हँस पड़े—किसी को कोई पता नहीं चला।’

भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद आदर्शवादी थे तथा भारतीयता-पसंद व्यक्ति भी। रवींद्र भवन के शिलान्यास के समय का भाषण था। उस इमारत का आधुनिक कलात्मक ढाँचा देखकर वे बोले—‘इसमें मुझे कोई भारतीयता नजर नहीं आती।’ बाद में आर्किटेक्ट ने इस इमारत के सिर पर एक साँची-स्तूप जैसा टोप पहना दिया।’ कविवर निराला के प्रति लेखक के मन में बेहद आदर था। उनके दर्शनों को लिए वह दारागंज जाते थे। एक बार इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में होनेवाले कविसम्मेलन में निराला नंगधड़ंग पहुँच गए, पहुँचने पर बच्चन ने कहा—‘हाँ आप यूनिवर्स के हैं, हम यूनिवर्सिटी के हैं। फिर कोई रवींद्र संगीत गुनगुनाने लगे।’

जहाँ लेखक रेखाचित्र में अपने विषय में ही तथ्य उद्घाटित करता चलता है, वहाँ वह आत्मपरक होता जाता है। प्रभाकर माचवे के अनेक रेखाचित्रों में वे स्वयं के विषय में वर्णित करते चलते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—‘हुमायूँ कबीर से पहली मुलाकात हुई, तब वे मौलाना आजाद के शिक्षा विभाग में सचिव थे। बाद में स्वयं मंत्री बने। मंत्री नहीं रहे। उन सब रूपों में मैंने उन्हें नजदीक से देखा। उन पर मैंने एक अच्छा अँग्रेजी लेख ‘मृत्यु के बाद’ पायोनीयर में लिखा था।’ मौलाना आजाद से लेखक का परिचय काफी अच्छा था। उनसे परिचय, भेट का वर्णन लेखक इसप्रकार करता है—‘बहुत अच्छे उर्दूवक्ता और शैलीकार इस्लामी धर्मशास्त्रवेत्ता, मौलाना आजाद

अँग्रेजी का प्रयोग नहीं करते थे। पर इस स्केच पर उन्होंने मुझे अँग्रेजी में दस्तखत दिए हैं। मुझे 1954-55 में प्रायः एक वर्ष तक मौलाना आजाद (तत्कालीन शिक्षामंत्री) के प्राइवेट सेक्रेटरी के आधे कमरे में बैठने का सौभाग्य मिला, चूँकि साहित्य अकादमी नामक संस्था का वहीं कार्यालय था।’

जहाँ लेखक स्मृति के आधार पर तथ्यों, घटनाओं आदि का वर्णन करता है, वहाँ यह विधा संस्मरणात्मक रूप धारण कर लेती है। प्रस्तुत पुस्तक के लगभग सारे रेखाचित्र स्मृति पर आधारित हैं। इन रेखाचित्रों के साथ खींचे गए शब्दचित्र सन् 42 से 80 के बीच विभिन्न स्थानों में स्वयं लेखक ने उपस्थित होकर बनाए हैं। इसके लिए कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—‘यह स्केच 1973 में ढाका में मैंने कवि के रुग्णावस्था में दर्शन किए, तब का है। उनके चरण छुए तो पैर उन्होंने सिकोड़ लिए। किसी दर्शनार्थी ने माला पहनाई, तो उन्होंने उसे तोड़ डाला। मैंने नजरूल की मृत्यु पर बंबई रेडियो से एक बहुत ही मर्मभेदी वार्ता हिंदी में प्रसारित की थी।’

रेखाचित्र-वर्णन की शैलियाँ अनेक हैं। प्रस्तुत रेखाचित्रों में प्रभाकर माचवे ने विभिन्न व्यक्तियों के स्केच बनाकर उनके चरित्र पर प्रकाश डाला है। चरित्र की इन विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। विभिन्न रेखाचित्रों में विभिन्न शैलियों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं—यों तो विवरण की क्षिप्रता और गति के कारण लेखक को कहानी या उपन्यास की तरह अपने भाव देने का अवसर यहाँ प्रायः कम होता है, लेकिन कहीं-कहीं इस गति के बावजूद हमें भावात्मक शैली के दर्शन हो जाते हैं—1972 में अफ्रो-एशियाई लेखकों की तैयारी कांफ्रेंस में सोवियत रूस के चुलबुले और तेजतर्रार नवकवि सफलेमानोव का व्यंग्यचित्र जब प्रभाकर माचवे ने बनाया तो उस पर सफलेमानोव ने दो कान बंदर की तरह के और जोड़ दिए। प्रभाकर माचवे का कथन है कि ‘सफलेमानोव कहना चाहते थे, व्यंग्य से कि यह रेखाचित्र उनके जैसा नहीं है। पर यह केवल कवि की व्यथा नहीं है, हर आधुनिक (और पुरातन भी) व्यक्ति की व्यथा-कथा है। वह अपने को कहीं पहचान पाता है और बाहर का दूसरा तो और भी कम पहचानता है। रूस और वहाँ के लेखकों के बारे में यह और भी सही है—हमें अभी उन्हें पहचानना है।’

भावात्मक तथा वर्णनात्मक शैली के साथ-साथ लेखक ने यहाँ आत्मवाची होकर स्वयं के विषय में भी वर्णित किया है। जहाँ-जहाँ लेखक आत्मवाची हुआ है, वहाँ हमें आत्मकथात्मक शैली के दर्शन होते हैं। ऐसे स्थल यहाँ अनेक हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। अपनी बांग्लादेश की यात्रा के दौरान लेखक बंगाल के अनेक प्रतिष्ठित कवियों, बौद्धिकों, आलोचकों से मिला। शम्सुरहमान से लेखक अत्यधिक प्रभावित हुआ। इसी को लेखक इसप्रकार व्यक्त करता है—‘पर मैं सबसे अधिक प्रभावित हुआ कवि शम्सुरहमान से। उनकी एक कविता मैं नहीं भूलूँगा। मिलिटरी की जीप सड़क पर गश्त लगा रही है। कविता में मैं साँस रोके खिड़की के पास खड़ा देख रहा हूँ। एक कुत्ता है, जो मिलिटरी की जीप के पीछे भूँकते हुए दौड़ रहा है। कवि अंत में लिखता है—मुझसे वह कुत्ता बेहतर है, वह कम-से-कम भौंक रहा है।’

भावात्मक, वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक शैलियों के प्रयोग के साथ-साथ हास्य-व्यंग्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है। व्यंग्यात्मक शैली में दोनों ही रूपों, हास्य से युक्त तथा मुक्त, का प्रयोग किया गया है। पहले हास्य मुक्त का उदाहरण द्रष्टव्य है। मातृभाषा पंजाबी रखनेवाले, परंतु साहित्य-सृजन अँग्रेजी में करनेवाले मुल्कराज आनंद की संस्मरण सुनाने की आदत पर

प्रभाकर माचवे का कथन है—‘कुल मिलाकर डॉ० आनंद दिलचस्प व्यक्ति हैं। कोई भी शताब्दी हो रवींद्र या गांधी, इकबाल या वल्लतोल, गुरुनानक या प्रेमचंद—डॉ० आनंद वहाँ जरूर अपने संस्मरण सुनाते हुए अपनी ओर से श्रोताओं को आनंदित करते रहते हैं। यह बात दूसरी है कि श्रोता उनसे आनंद प्राप्त करते ही हों, यह जरूरी नहीं है।’

हास्य युक्त व्यंग्य का भी यहाँ अनेक स्थानों पर प्रयोग है। आल्डुस हक्सले ने अपने भारत भ्रमण के दौरान एक वाक्य कहा जो समस्त धार्मिक वृत्ति को उजागर करता है। वह कथन है—‘भारत में जितना अधिक धार्मिक स्थान होगा, उतना ही अधिक गंदा होगा।’ करतारसिंह दुग्गल अपने लेखन में तो आदर्शों की दुहाई देते हैं, जबकि इसके विपरीत अपने कैरियर में वे काफी सफल हैं। इसी पर अत्यंत साफगोई से वक्तव्य देते हैं—दुग्गल की बीबी मुस्लिम डॉक्टरनी है और उनका परिवार एक बहुत सफल, स्वस्थ, साफ-सुथरा परिवार है। जीवन इतना संघर्षहीन और कैरियर की सीढ़ियों पर सरपट भागता और लेखन में उससे उलटे आदर्शों की ओर मूल्यों में मुनादी। यह इस युग का अंतर्विरोध है। अकेली दुग्गल की समस्या नहीं।’

उपर्युक्त सभी शैलियों के अतिरिक्त कहीं-कहीं लेखक ने विचारात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। मौलाना आजाद के विषय में लेखक का विचार है—मौलाना अपने कार्यालय में बहुत कम आते थे—तब उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। मैंने सदा उनके बँगले के गुलाबों को बड़े करीने से रखा देखा था। आखिरी दिनों में उधर भी उनका ध्यान नहीं था। भारतीय विद्या भवन से छपी सांस्कृतिक इतिहास वाली पुस्तक में मौलाना आजाद का भारत का पश्चिम एशिया से प्राचीन और मध्ययुगीन संबंधों पर लेख बहुत मार्मिक है। उनकी ट्रेजेडी दोहरी थी—मुसलमानों ने उन्हें गलत समझा। (वे जिन्ना को चाहते थे), हिंदुओं ने उन्हें गलत समझा (वे सावरकर को चाहते थे)। और जैसे उनकी आत्मकथा से स्पष्ट हुआ, मरणोपरांत केवल उन्होंने अपने आपको ही सही समझा। गांधी समझे कि भारत के बहुसंख्य मुस्लिम मौ० आजाद के अनुयायी हैं, पर वे भी गलत समझे। सारी गलतफहमियों का नतीजा यह हुआ कि बेहद अकेले पड़े मौलाना आजाद एक दिन नहीं रहे।’

आइसलैंड निवासी हैलेडोर लैक्सनेस को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इस छोटे से प्रदेश में एक नोबेल पुरस्कार विजेता पैदा हो, यह बहुत गर्व की बात है। इसी पर लेखक का विचार है—आइसलैंड जैसे छोटे से देश में, जिसकी आबादी बमुश्किल दस लाख है, एक नोबेल पुरस्कार विजेता लेखक पैदा हो, वह अपने-आपमें अद्भुत घटना है। यह इस बात का प्रतीक है कि साहित्य में संख्या नहीं, सार्थकता, परिमाण नहीं परिणामकारकता अधिक महत्त्व की है। मैंने तब लैक्सनेस की चीजें जो अनुवाद में मिली, खोज-खोजकर पढ़ीं। वे सशक्त गद्यकार और उपन्यासकार थे, जिन्होंने एक छोटी-सी जगह और वहाँ के लोगों की सीमित जिंदगी को विश्व के नक्शे पर लाकर रख दिया।’ आज भारत की दशा देखता हूँ तो लगता है कि क्या स्वतंत्र हम इस नतीजे के लिए हुए थे। स्वतंत्रता भीख की तरह मिलती नहीं, वह अर्जित करनी पड़ती है। क्या आज का हर नागरिक अपने-आपसे पूछता है—मैंने स्वतंत्रता के लिए क्या किया?’ हर समय हम यही चाहते हैं कि देश हमारे लिए क्या कर रहा है? उस देश का क्या होगा, जिसके लिए उसके नागरिक कुछ नहीं करना चाहते। सिवा हड़ताल, तोड़फोड़, बंद, स्ट्राइक और जुलूस नारों के।’

प्रस्तुत रेखाचित्रों में प्रभाकर माचवे ने अनेक शैलियों का प्रयोग किया है। अनेक व्यक्तियों के चरित्रों को उजागर करने में प्रभाकर माचवे ने भावात्मक, वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक, व्यंग्यात्मक,

विचारात्मक तथा कहीं-कहीं लाक्षणिक शैली का भी प्रयोग किया है। प्रभाकर माचवे ने सारे के सारे रेखाचित्र व्यक्तियों पर आधारित करके लिखे हैं। इन व्यक्तियों में राजनीति से जुड़े व्यक्ति भी हैं, विदेशी हस्तियाँ भी और प्रसिद्ध साहित्यकार भी।

समग्रतः इन रेखाचित्रों का उद्देश्य स्वयं लेखक के शब्दों में न तो पाठक को इन प्रसिद्ध व्यक्तियों का परिचय देना रहा और न ही इन विभूतियों से साक्षात्कार का रिकार्ड प्रस्तुत करना ही। हाँ, इन व्यक्तियों को देखकर तुरंत मन में आए भाव या मुख मुद्रा देना ही इन स्केचस का उद्देश्य रहा। इनके साथ अत्यंत आत्मीय-सी कुछ इबारत भी प्रभाकर माचवे ने दी है। शब्द और रेखा यहाँ परस्पर पूरक हैं। ये न शब्द हैं, न रेखा ही हैं। शब्दों की निराकारिता को यह आकार वाली रेखाओं का आवरण है। मूर्त-अमूर्त कार्यों का संयोजन, शब्दों की निराकारिता को आकार पहनाने वाले ये रेखाचित्र पाठक को व्यक्ति-विशेष के आभासित और शब्दातीत दोनों ही चित्र देने में सक्षम हैं। इस दृष्टि से प्रभाकर माचवे वर्णन की तीव्र गति के बावजूद रेखाचित्र प्रस्तुत करने में सफल रहे।

प्रभाकर माचवे के रेखाचित्रों की देन है—उनका शब्दों के साथ-साथ चित्रों से युक्त होना। स्केच और शब्दचित्रों से युक्त ये रेखाचित्र संस्मरणात्मक शैली में तत्कालीन लेखक के उपस्थित रहने का ब्यौरा देते हैं। लंबे वर्णनों का अभाव होने पर भी ये सारे रेखाचित्र कई तथ्य सामने लाते हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रभाकर माचवे ने अपने संपर्क में आए विभिन्न व्यक्तियों पर रेखाचित्र लिखे। ये रेखाचित्र जहाँ एक ओर इन प्रसिद्ध व्यक्तियों का शारीरिक दर्शन हमें कराते हैं, वहीं दूसरी ओर आत्मीय इबारत होने के कारण ये हमें उन व्यक्तियों के आंतरिक गुणों से भी परिचित कराते हैं।

संपूर्ण रेखाचित्र पाठक को व्यक्ति-विशेष के वाह्य और आंतरिक व्यक्तित्व को समझने में सहायक हैं, लेकिन कुछ रेखाचित्र जैसे बेगम सूफिया कमाल (बांग्ला लेखिका), अबु अब्राहम (व्यंग्यचित्रकार) आदि पाठक को उनके व्यक्तित्व की उतनी झलक नहीं दे पाते, जितनी कि अन्य रेखाचित्र देते हैं। परंतु इसके उपरांत भी हमें इसमें आए अनेक व्यक्तियों से परिचित तो कराते ही हैं। जहाँ तक रेखाचित्र को प्रभाकर माचवे की देन का प्रश्न है, उस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि प्रभाकर माचवे ने रेखाचित्रों को जहाँ छोटा रूप प्रदान किया है, वहीं उनके साथ स्केच बनाकर उन्हें नवीनता भी प्रदान की है। और ये सब उन्होंने सहज सरल भाषा में किया है।

संदर्भ

1. डॉ० माजदा असद, गद्य की नई विधाओं का विकास, पृ० 32
2. हिंदी साहित्य कोश (भाग-1), राजकमल प्रकाशन
3. डॉ० नगेंद्र, विचार और अनुभूति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (1965), पृ० 129
4. शब्दरेखा की कलम कूँची और क्षणालेख, भूमिका, विभूति प्रकाशन, दिल्ली (1980), पृ० 7
5. डॉ० प्रभाकर माचवे, शब्दरेखा, विभूति प्रकाशन, दिल्ली (1980), पृ० 15
6. वही, पृ० 95
7. वही, पृ० 51

द्वारा श्री रामबीरसिंह

गली नं० 7, मकान नं० 522/1, साकेत

मुजफ्फरनगर-251001 (उ०प्र०)

भक्तिकालीन हिंदीकाव्य में सामाजिक समन्वय व समरसता : वर्तमान समाज की आवश्यकता

डॉ० कविता मीणा

सहायक आचार्य, हिंदी

राजकीय कला कन्या महाविद्यालय, कोटा

मध्यकालीन सामंतवादी व्यवस्था के विद्रोहस्वरूप जिस धार्मिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन का प्रादुर्भाव हुआ, वह सामाजिक समरसता के रूप में एक युगांतकारी घटना है। धर्म की केंद्रीय स्थिति से शनैः-शनैः सामाजिक प्रतिनिधित्व के जिस दायरे को मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन ने समेटा, वह एक जनतांत्रिक अभियान के रूप में उभरकर सामने आया। ईश्वर के समक्ष प्राणीमात्र की समानता, आध्यात्मिक विचारणा द्वारा समष्टिपरक चिंतन, जातिभेद, वर्णभेद एवं वर्गभेद के निवृत्तिमूलक विचारों द्वारा एक मानवधर्म की स्थापना इस आंदोलन द्वारा की गई। भक्तिकाल में उक्त आंदोलन से सामंतवाद शिथिल हुआ, निम्न जातियों में आत्मगौरव का भाव पैदा हुआ। उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन के इस उभार को विकसित करने में भक्तिकाल के हिंदीकवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन कवियों ने वैयक्तिक साधना-पद्धति के बजाय सामाजिक साधना-पद्धति पर अधिक जोर दिया। इनके काव्य में सामाजिक समन्वय व समरसता के ऐसे भाव विद्यमान हैं, जिनकी वर्तमान समाज को आज भी आवश्यकता है। इन कवियों ने सामाजिक असमानता, जाति-प्रथा, रूढ़ियों, अंधविश्वास, धर्म, वर्ण तथा संप्रदायगत समस्याओं को समझकर उनका विद्रोह किया। विरोध और संघर्ष के उस युग में समाज में समन्वय तथा समरसता स्थापित करने का प्रयत्न किया। कबीर का एकेश्वरवाद, तुलसी की समन्वयात्मकता, जायसी का मानवीय धर्म आदि विश्वास व मूल्य तत्कालीन युग से वर्तमान तक प्रासंगिक नजर आते हैं। आज भले ही हम नई सदी में जी रहे हैं, लेकिन समाज में जातिगत बंधन, छुआछूत, निम्न जातियों के प्रति भेदभाव, अंधविश्वास, अनेक संप्रदायगत असंगतियाँ मध्यकाल की भाँति ही विद्यमान हैं। पुरानी परंपराओं से त्याग और ग्रहण का अधिकार हर पीढ़ी का रहा है। नई पीढ़ी को समाज की चुनौतियों और विसंगतियों से निपटने के लिए कई बार पूर्वजों की सीख व अनुभवों का सहारा लेना पड़ता है। यही कारण है कि भक्तिकाल में संत व भक्तकवियों ने सामाजिक समन्वय तथा समरसता को स्थापित करने की जो विचारणा प्रस्तुत की, वह आज भी आवश्यक नजर आती है।

भक्तिकालीन समाज में टूटन व जर्जरता थी, असंख्य संप्रदायों का बोलबाला था, जिनमें मतभेद चल रहे थे। हिंदू और मुसलमान धर्म के पाखंडी पंडित-मुल्लाओं के अंधविश्वास व प्रपंच विद्यमान थे। ऐसे समय में कबीरदास ने समाज के हर अन्याय व असंगतिपूर्ण व्यवस्था, कट्टर

धार्मिक मान्यताओं पर कड़ा रुख अपनाकर विद्रोह किया। कबीर समाज में समन्वय की अपेक्षा समरसता स्थापित करने के पक्षधर थे। 'उन्हें कोई भी मत स्वीकार्य नहीं हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न करता है। उन्हें कोई भी अनुष्ठान या साधना मंजूर नहीं है, जो बुद्धि-विरुद्ध है। उन्हें कोई भी शास्त्र मान्य नहीं है, जो आत्मज्ञान को कुंठित करता है। वेद भ्रमोत्पादक हैं, अतः अस्वीकार्य हैं। तीर्थ, व्रत, पूजा, नमाज, रोजा गुमराह करते हैं, इसलिए अग्राह्य हैं। पंडित-पांडे, काजी-मुल्ला उन धर्मों के ठेकेदार हैं, जो धर्म नहीं हैं, अतः घृणास्पद हैं।'¹ तत्कालीन युग में शूद्रों का धार्मिक कार्य करना निषिद्ध था। कबीर ने इसका विरोध करते हुए कहा—

जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।²

कबीर ने अपने युग में हिंदू तथा मुसलमानों के बीच जो मजहबी टकराहट चल रही थी उसका तार्किक विरोध करते हुए कहा—

तुरुक मसीत देहुरे, हिंदू दुहुठां राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाहीं, तहाँ काकी ठकुराई।³

हिंदु और मुसलमान दोनों संप्रदायों के राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा—

हम तुम मांहे एके लोहू, एके प्रान जीवन है मोहू
एक बास रहे दस मासा, सूतग पातग एके आसा
एकहि जननी जन्या संसारा, कौन ज्ञान थै भये निनारा।⁴

कबीर का इस बेबाक ढंग से धर्म के कट्टरपंथियों पर प्रहार करना उस समय आसान नहीं था, फिर भी उन्होंने साहस व जीवटता के साथ एक ऐसी मानवीय संस्कृति की स्थापना पर बल दिया, जिसमें कोई वर्ग, वर्ण, जाति, धर्म का भेद न हो। हिंदुओं की वर्णाश्रम व्यवस्था की उन्होंने खुलकर निंदा की है। कबीर के अतिरिक्त दादूदयाल, रैदास, मलूकदास इत्यादि संतों ने भी धर्म, समाज, जाति के दोषों पर प्रहार किया। कबीर की यह मानवीय संस्कृति वर्तमान समय में अधिक प्रासंगिक नजर आती है। आज भी कबीर जैसे सच्चे समाज-सुधारकों की समाज को आवश्यकता है, जो अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण से न्यायपूर्ण समतामूलक समाज की स्थापना में योगदान करें। कबीर ने जिस ईश्वरीय एकता का प्रतिपादन किया, वह आज के संप्रदाय व धार्मिक वैमनस्य के वातावरण में एक मूल्य के रूप में समाज के लिए आवश्यक है। भले ही कबीर के आक्रामक विद्रोह, आक्रोश व क्रांतिकारी विचारों पर लोगों की राय अलग-अलग हो सकती है, लेकिन यह भी सच है कि दीन-दुखियों के हितों के लिए लड़नेवाला यह संत एक दलित चिंतक के रूप में आज भी अनुकरणीय है। कबीर की तरह आक्रोशपूर्ण विरोध कर पुरानी सामाजिक संरचना को बदलना आज भले ही कठिन मार्ग है, लेकिन कबीर के मूल्यों का अनुसरण करना वर्तमान समाज के लिए हितकारी व प्रासंगिक है। आज दलित व कमजोर वर्गों पर हो रहे अन्यायों के विरुद्ध प्रतिरोध करने हेतु कबीर जैसे समाज-सुधारकों की जरूरत है जो जाति, धर्म के संकीर्ण विचारों से ऊपर उठकर समाज में समरसता का भाव बढ़ाने की कोशिश करें।

भक्तिकालीन हिंदीकवि तुलसीदास ने भी रामकथा के माध्यम से मानवीय मूल्यों व समन्वयात्मकता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। समन्वयशीलता भक्तिकाल में आवश्यक थी। विभिन्न जातियों, धर्म, संप्रदायों व मत-मतांतरों की टकराहट के बीच संतुलन बनाए रखने

हेतु उनके मध्य समन्वय की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। यही कारण था कि तुलसी ने निर्गुण व सगुण, ज्ञान व भक्ति, शैव व वैष्णव, राजा व प्रजा आदि में समन्वय किया। उनका संपूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। तुलसी की समन्वयात्मकता के विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—तुलसीदास के काव्य की सफलता का एक और रहस्य उनकी अपूर्व समन्वय-शक्ति में है। उन्हें लोक और शास्त्र का बहुत व्यापक ज्ञान था। उनके काव्य-ग्रंथों में जहाँ लोक-विधियों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है, वहीं शास्त्र के गंभीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उसमें लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गृहस्थ का, ज्ञान और भक्ति का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चांडाल का, पंडित और अपंडित का समन्वय रामचरितमानस के आदि से अंत दो छोरों पर जानेवाली परा-कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।¹⁵ तुलसी ने राम और शिव में परस्पर भक्तिभाव दिखाकर शैवों और वैष्णवों में विरोध समाप्त करना चाहा—

शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहि सपनेहुँ मोहि न भावा।¹⁶

अपने युग में ईश्वरीय स्वरूप की धार्मिक विचारधाराओं के मध्य भी तुलसी ने समन्वय स्थापित किया। निर्गुण व सगुण के बीच समन्वय करते हुए उन्होंने कहा—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं श्रुति पुरान बुध वेदा।¹⁷

आज तुलसी की इसी सामाजिक समन्वयात्मकता की आवश्यकता महसूस होती है। आज समाज में जो संप्रदायगत टकराहट है, जातिगत भेदभाव है, राजनीति और कूटनीति की जिन खाइयों में सामाजिक समन्वय व समरसता खो रही है, उसे पाने के लिए तुलसी के रामचरितमानस के राम का जीवनचरित जनमानस को ज्ञात करवाने की आवश्यकता है। देश में आंतरिक असमानता, चाहे वह जातिगत हो या संप्रदायगत या फिर वर्णगत, उनमें समानता स्थापित करने के लिए तुलसी जैसे एक लोकसमन्वयक की आवश्यकता है। तुलसी की समन्वयात्मकता एक जीवन-प्रणाली है, जिसकी आज के समाज में सर्वोपरि आवश्यकता है। आज समाज में वंचितों के प्रति कर्तव्य एवं संवेदना पैदा करने, संप्रदायगत विरोधों में सांमजस्य स्थापित करने तथा आमजन के प्रति ममत्व-भाव पैदा करने के लिए तुलसी जैसा युगद्रष्टा कवि एक प्रकाशस्तंभ है। सामाजिक सद्भाव के लिए तुलसी का 'रामचरितमानस' एक मार्गदर्शक का कार्य करता है। तुलसी ने राम की हृदयगत विशालता एवं लोकधर्मिता को जनसाधारण की पीड़ा, व्यथा से समन्वित कर लोकमंगल एवं सामाजिक समन्वय को स्थापित करने का प्रयास किया। केवट, शबरी, रीछ, वानरों से राम का स्नेहमय रूप दर्शाकर तुलसी मध्यकालीन सामंतवाद को नीचा दिखाते हैं। सच कहा जाए तो तुलसी का काव्य न केवल मध्यकालीन जगत् में अपितु आधुनिक जगत् में भी समन्वय का जीवंत प्रतिबिंब है। युगीन संदर्भ के अपेक्षानुकूल तुलसी ने कवि-कर्तव्य एवं सामाजिक दायित्व का निर्वहन किया है। वे जहाँ एक ओर रामचरितमानस में जीवन की सरसता एवं सामाजिक समरूपता को निरूपित करते हैं, वहीं दूसरी ओर 'विनयपत्रिका' के अंतर्गत जनसाधारण की पीड़ा से मुक्ति का निवेदन भी करते हैं। भले ही समाज-सुधार हेतु तुलसी ने कबीर की भाँति कड़ा व विद्रोही रुख नहीं अनपाया हो, परंतु समाज के प्रति कर्तव्य-निर्वहन में वे पीछे नहीं रहे। तुलसी का ऐसा ही दायित्व-निर्वहन आज देश के हर नागरिक को देश व समाज

के प्रति कर्तव्य निभाने के लिए प्रेरणास्रोत है। यद्यपि कुछ समीक्षक उनके शूद्र, वर्ण-व्यवस्था एवं नारी-संबंधी विचारों को सामंती-ब्राह्मणवादी विचारों से प्रभावित मानते हैं। उनका मानना है कि तुलसी में कबीर के उपदेशों की सी अनुगूँज नहीं है। तुलसी के प्रति समीक्षकों की यह दृष्टि उचित नहीं है। हालाँकि तुलसी-काव्य के कुछ प्रसंगों में विरोधाभासी दृष्टिकोण की झलक अवश्य दिखाई देती है, लेकिन अनुमानतः यह उनको मिले दुख एवं अपमान की क्षोभित मनोवेदना के कारण हुआ होगा। चूँकि हमारी हर सामाजिक बुराई किसी-न-किसी रूप में धर्म से जुड़कर समर्थन पाती है। आज भी हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य अपने चरम पर है। हिंदू के जातिवाद और ऊँच-नीच के भेदभाव ने भारतीय समाज के ढाँचे को तहस-नहस कर रखा है। ऐसे संकीर्ण सामाजिक परिवेश को बदलने के लिए तुलसी जैसे लोकनायक की आज भी जरूरत है। तुलसी ने जिस भाँति समाज में समन्वय स्थापित किया, उसी तरह का समन्वय आज के विषमतामूलक समाज की आवश्यकता है। तुलसी का दृष्टिकोण एवं चिंतन मानवीय एकता को बढ़ानेवाला था, आज भी उसी चिंतन की आवश्यकता है। ऐसा महसूस होता है कि तुलसी की समाज-व्यवस्था स्वानुशासित और स्वप्रेरित है। यही कारण है कि उनकी समाज-व्यवस्था आनेवाले युग के लिए एक यूटोपिया है।

भक्तिकाल में सूफी कवियों ने भी संकुचित सांप्रदायिक दृष्टि से ऊपर उठकर उस युग में हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों में समन्वय कर कट्टर सामंती व्यवस्था में प्रेम-भावना के प्रसार का सराहनीय कार्य किया। सूफी साधक ऐसे उदार दृष्टिकोण वाले संत थे, जिन्होंने जाति से मुसलमान होते हुए भी इस्लाम की कट्टरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की तथा हिंदू लोकपक्ष व संस्कृति को अपनाया। 'जिस प्रकार दूसरी जाति या मत वाले के हृदय हैं, उसी प्रकार हमारे भी हैं, जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम की तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार हमारे हृदय में भी, प्रिय का वियोग जैसे दूसरे को व्याकुल करता है, वैसे ही हमें भी, माता का जो हृदय दूसरे के यहाँ है, वही हमारे यहाँ भी, जिन बातों से दूसरों को सुख-दुख होता है उन्हीं बातों से हमें भी, इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण कुतुबन, जायसी आदि प्रेम कहानी के कवियों द्वारा हुआ।⁸ अपने युग की सामंती सोच व वैचारिक टकराहट को प्रेम-भावना के माध्यम से इन सूफी कवियों ने सामाजिक सहिष्णुता से जोड़ने का कार्य किया। सूफी प्रेमाख्यानों का उद्देश्य मानवीय प्रेम का संदेश देना था। कवि मलिक मोहम्मद जायसी के काव्य की इन पंक्तियों में सूफियों के प्रेमादर्श को समझा जा सकता है—

तीन लोक चौदह भुवन, सबै परै मोहि सूझि।
 प्रेम छाँड़ि किछु और न लोना जौं देखौं मन बूझि।
 गगन दिस्टि सौं जाई पहुँचा, प्रेम अदिष्ट गगन सौं ऊँचा।
 ध्रुव तें ऊँच प्रेम ध्रुव उआ, सिर दे पाउँ देई सौं छुआ।⁹

आज हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों में रागात्मक संबंध स्थापित करने, एकात्मक सूत्र में बाँधने के लिए सूफी कवियों की यह प्रेम अवधारणा आवश्यक प्रतीत होती है। धर्म को मानवीय दृष्टि से देखकर परस्पर प्रेम भाईचारा व सौहार्द का वातावरण बनाए रखने के लिए सूफियों का यह मानव-प्रेम संदेश आज भी प्रासंगिक जान पड़ता है।

भक्तिकाल में कृष्णभक्त कवि सूरदास ने भी कृष्ण के ईश्वरीय रूप का वर्णन ही नहीं

किया, अपितु उस युग में सामाजिक जीवन की मूल इकाई परिवार में संतुलन बनाए रखने का संदेश काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया। तत्कालीन विषम परिस्थितियों में जीवन के प्रति प्रेम बनाए रखने का कार्य कृष्णभक्त कवियों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। सामाजिक सामंजस्य के लिए सूर ने एक अलग धारणा व्यक्त की थी। 'तत्कालीन समाज और समजीवन की जिस अव्यवस्था तथा अराजकता का जिक्र आचार्य शुक्ल ने भक्ति-आंदोलन के संदर्भ में किया है, उसका एक आयाम और बड़ा आयाम गार्हस्थ जीवन के प्रति तथा नारी के प्रति इस गहरे वितृष्णा-भाव तथा उपेक्षा से संबंध रखता है। वल्लभाचार्य जैसे क्रांतिद्रष्टा, सामाजिक विचारक तथा चिंतक सामाजिक जीवन की इस अराजकता तथा हासशील मानसिकता से परिचित थे। वल्लभाचार्य ने अपने पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण की जो आराधना प्रधान तथा केंद्रवर्ती रूप में मान्य की तथा सूर जैसे कवि जिस उत्साह तथा तन्मयता से ईश्वर के इस बालरूप में डूबे-उतराए, जिस ऊँचाई पर जाकर उन्होंने वात्सल्य को प्रतिष्ठित किया, क्या उसके भीतर से हमें उनका इसप्रकार का कोई भी प्रयास लक्षित नहीं होता कि अस्त-व्यस्त होते सामाजिक जीवन में संतुलन लाने के हेतु समाज में गार्हस्थ धर्म की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित किया जाए, कि ईश्वर के बालरूप की महिमा के माध्यम से नारी और इसप्रकार उसके मातृत्व को सम्मानित किया जाए।'¹⁰ सूर की गोपियों की उद्धव के साथ तर्कशीलता व सशक्त उपस्थिति भारतीय नारी के प्रेम व स्वतंत्रता को सिद्ध करती है। सूर की गोपियों का प्रेम-प्रवाह लोकमर्यादा की सीमा को तोड़कर बहता है। कृष्ण के प्रति प्रेम को वे खुलकर स्वीकार करती हैं—

उर में माखन चोर गड़े।

अब कैसेह निकसत नहिं, ऊधौ! तिरछे हवै जु अड़े।¹¹

सूर ने गोपियों का जो उन्मुक्त प्रेमरूप दिखाया है, शायद वह उनका उस युग के समाज की सामंती मानसिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, जिसने नारी-मन को रूढ़ियों और रीतियों के बंधनों ने जकड़ा हुआ था। 'मध्यकालीन रूढ़ि-जर्जर, भाँति-भाँति की वर्जनाओं से ग्रस्त, सामाजिक पारिवारिक जीवन, उसके घुटन और ऊब से भरे सामंती माहौल, उसके तमाम सारे जर्जर कानून-कायदों, रीतियों-नीतियों के खिलाफ जीवन की सहजता पर आस्था रखनेवाले सूरदास का यह सात्त्विक आक्रोश और रोष ही है, जो उनकी सरस वाणी में घुल-पचकर प्रेम के इस शानदार महोत्सव का रूप धारण कर सामने आया है।'¹² आज समाज में संतुलन बनाए रखने के लिए स्त्री-पुरुष दोनों को समदृष्टि से देखा जाना आवश्यक है। मध्ययुग में सूर ने गोपियों को जो स्वतंत्रता दी है, वह आज भी अनुकरणीय है। समाज में तभी समन्वय हो सकता है, जब परिवार में सामंजस्य व समरसता का भाव मौजूद हो।

वर्तमान में राष्ट्र-विकास हेतु आवश्यक है कि देश के विभिन्न धर्म, वर्ग, जाति, समुदाय व संगठन के लोगों के मध्य संतुलन तथा सामंजस्य हो। सामंजस्य के लिए समन्वय की आवश्यकता होती है। समता, बंधुता, सामाजिक एकता, परस्पर प्रेम, सौहार्द इत्यादि समरसता के तत्त्वों को अपनाना आवश्यक है। विडंबनीय स्थिति यह है कि आज धर्म के नाम पर बने विविध संस्थान व संगठन धार्मिक प्रचार व जातीय एकता पर अधिक बल दे रहे हैं, राष्ट्रीय एकता पर नहीं। कश्मीर में पत्थरबाजी की हिंसक घटनाएँ हों या फिर समय-समय पर होनेवाले आंदोलनों का विरोध प्रदर्शन, एक भय का वातावरण देश में फैल रहा है। कमजोर व दलित लोग अन्याय से पीड़ित हैं,

व्यक्तिगत उद्देश्य व महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए कुछ लोग समाज में विद्रोह व उपद्रव की स्थिति उत्पन्न करवाते हैं। देखा जाए तो वर्तमान समाज की बहुत-सी परिस्थितियाँ व समस्याएँ भक्तिकालीन समाज के जैसी ही हैं। आज भी समाज में धर्म संप्रदायगत टकराहट है, अंधविश्वास है, धर्म के नाम पर आडंबर व दिखावे की प्रवृत्ति विद्यमान है, जातिगत भेदभाव है। यही कारण है कि भक्तिकाल के कवियों (प्रमुखतः कबीर, जायसी, तुलसीदास, सूरदास) ने जिन सार्वभौमिक मूल्यों की स्थापना की, वे आज भी प्रासंगिक हैं। देश तभी तरक्की करेगा, जब निर्भय वातावरण हर नागरिक को मिलेगा। इसके लिए आज कबीर, जायसी, तुलसी व सूर के विचारों व दृष्टिकोण के बीच के एक सामान्य मार्ग की आवश्यकता है, जो सामाजिक समन्वय तथा समरसता स्थापित कर सके। तुलसी की समन्वयात्मकता इस मार्ग का प्रथम पायदान तथा कबीर का धर्म, वर्ग व जाति विहीन समाज इसका लक्ष्य होना चाहिए। कबीर का एकेश्वरवाद आज संप्रदायगत विद्वेष को दूर करने के लिए आवश्यक है, तो तुलसी की समन्वयात्मकता समाज के विभिन्न समुदायों में संतुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक है। सूफी कवि जायसी के उदार चिंतन व मानवीय धर्म को अपना समाज में समरसता बनाने के लिए आगे बढ़ाता है तो सूर का गार्हस्थ दृष्टिकोण परिवार में सामंजस्य बनाए रखने के लिए प्रेरित करता है। कबीर जैसे समाज-सुधारक, तुलसी जैसे लोकसमन्वयक, जायसी जैसे मानवीय धर्मी व सूर जैसे स्वतंत्र विचारक की आवश्यकता आज के समाज की जरूरत है। राष्ट्रीय एकता बनाए रखने के लिए पुराने जातीय विरोधों को छोड़कर आगे बढ़ना होगा। आज विद्रोह एवं क्रांति के बजाय इन कवियों के दृष्टिकोण के समन्वय से ही सामाजिक सामंजस्य तथा समरसता स्थापित की जा सकती है।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ० बच्चनसिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संशोधित परिवर्धित संस्करण (2006), पृ० 87-88
2. हिंदी साहित्य का भक्तिकाल, डॉ० प्रेमराम मिश्रा, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, पृ० 27
3. भक्ति-आंदोलन और भक्ति-काव्य, शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 64
4. कबीर एवं तुलसी की सामाजिक दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन, सरिता राय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 26
5. कबीर : नई सदी में-तीन कबीर : बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, डॉ० धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 40-41
6. हिंदी साहित्य का भक्तिकाल, डॉ० प्रेमराम मिश्रा, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, पृ० 26
7. वही, पृ० 26
8. भक्ति-आंदोलन और भक्तिकाव्य, शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 96
9. हिंदी साहित्य का भक्तिकाल, डॉ० प्रेमराम मिश्रा, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, पृ० 81
10. भक्तिकाव्य और लोकजीवन, शिवकुमार मिश्र, अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ० 83
11. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ० बच्चनसिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ० 127
12. भक्तिकाव्य और लोकजीवन, शिवकुमार मिश्र, अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली 1983, पृ० 87-88

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : सरस्वती पत्रिका

डॉ० मेवालाल यादव

असि० प्रोफेसर हिंदी विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

बीसलपुर (पीलीभीत)

हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति हेतु सन् 1893 ई० में बाबू श्यामसुंदरदास, रामनारायण मिश्र एवं शिवकुमार सिंह के प्रयास के फलस्वरूप वाराणसी में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की गई। सभा ने जहाँ साहित्यिक, शोधात्मक एवं अनुसंधानपरक लेखों के प्रकाशनार्थ सन् 1897 ई० में 'काशी नागरी पत्रिका' का प्रकाशन प्रारंभ किया, वहीं पाठकों के मनोरंजन, हिंदी के विविध अंगों का पोषण, परिवर्धन और कवियों और लेखकों को प्रोत्साहित करने की भावना से प्रेरित बाबू चिंतामणि घोष ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित सचित्र हिंदी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन सन् 1900 ई० में प्रारंभ किया।¹ प्रथम वर्ष (1900) 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन का कार्य एक संपादन समिति के द्वारा किया गया, जिसमें श्यामसुंदरदास, कार्तिकप्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास एवं जगन्नाथदास रत्नाकार थे। एक वर्ष पश्चात् संपादन का भार अकेले श्यामसुंदरदास के कंधों पर आ गया। उन्होंने सन् 1901 ई० के प्रारंभ से 1902 ई० के अंत तक सरस्वती का संपादन कुशलतापूर्वक करने के बाद अपनी असमर्थता व्यक्त की तथा चिंतामणि घोष द्वारा प्रस्तावित महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर सहमति दे दी। जनवरी 1903 ई० में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादनकार्य अपने हाथों में लिया। सरस्वती का संपादन-भार ग्रहण करने पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने लिए चार आदर्श निर्धारित किए—

1. समय की पाबंदी
2. मालिक का विश्वासभाजन बनना
3. अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों की हानि-लाभ का ध्यान रखना
4. न्यायपथ से कभी भी विचलित न होना।²

जब तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी सरस्वती के संपादक रहे, तब तक उपर्युक्त आदर्शों का निष्ठापूर्वक पालन किया। संपादककाल के आरंभ में 1903 ई० में दूसरा और तीसरा अंक एक साथ निकला। इस अपराध के लिए नवागत संपादक द्विवेदीजी सर्वथा क्षम्य हैं। बाकी सत्रह वर्ष की लंबी अवधि में एक बार भी ऐसा नहीं हुआ कि किसी कारणवश 'सरस्वती' का कोई अंक देर से प्रकाशित हुआ हो। द्विवेदीजी जब कभी किसी कारणवश अवकाश पर गए या बीमार हुए

और अंत में अवकाश ग्रहण किया तो कम-से-कम छह महीने की सामग्री अपने उत्तराधिकारी को सौंपकर गए। हाँ, संपादनकार्य के कठोर परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य अधिक खराब हो गया, जिस कारण से उन्हें सन् 1910 ई० में पूरे वर्ष संपादनकार्य से अवकाश लेना पड़ा था। इस वर्ष का संपादन देवीप्रसाद शुक्ल ने किया था। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन द्वारा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने न केवल एक आदर्श संपादक का रूप प्रस्तुत किया, अपितु कुशल नेतृत्वकर्ता के रूप में समकालीन साहित्यकारों को नवीन विषयों पर साहित्य सर्जन करने के लिए प्रेरित किया। उनके संपादन में 'सरस्वती' का जो रूप सामने आया, वह केवल एक मासिक पत्रिका तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् तत्कालीन साहित्यिक धारा का संवाहक सिद्ध हुआ। पत्रिका के एक-एक अंग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रतिभा की झलक दिखाई पड़ती थी। जैसा कि उदयभानुसिंह ने लिखा है—'सरस्वती के अंग-अंग में उनकी (महावीरप्रसाद द्विवेदी) प्रतिभा की झलक दिखाई पड़ी। विषयों की अनेकरूपता, वस्तुयोजना, संपादकीय टिप्पणियाँ, पुस्तक-परीक्षा, चित्रों, चित्रपरिचय, साहित्य समाचार के व्यंग्यचित्रों, मनोरंजन सामग्री, बाल-बनितोपयोगी रचनाओं, प्रारंभिक विषय सूची, प्रूफ संशोधन, पर्यवेक्षण में सर्वत्र ही संपादन कला-विशारद द्विवेदी का व्यक्तित्व चमक उठा।'³ द्विवेदीजी ने अपने संपादनकाल से 'सरस्वती' को केवल हिंदी की ही नहीं, अपितु भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में स्थान दिलवाया। पत्रिका के संपादन में द्विवेदीजी ने मुख्य लक्ष्य निर्धारित किया, जिसमें मुख्यतः 'हिंदीभाषियों की मानसिक भूमि का विकास करना, संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान, खड़ीबोली कविता का उन्नयन, नवीन पश्चिमी शैली की सहायता से भावाभिव्यंजन, संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय और साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा।'⁴ नैसर्गिक प्रतिभा, कुशल संपादन एवं कर्तव्यनिष्ठा के बल पर द्विवेदीजी अपने द्वारा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल रहे। उनके कुशल संपादन का प्रभाव रहा कि 'सरस्वती' तत्कालीन साहित्यिक धारा को आधुनिकता और वैज्ञानिकता की दिशा में मोड़कर हिंदीभाषा और साहित्य का संस्कार कर सकी। खड़ीबोली को साहित्यिक मंच पर पूर्ण प्रतिष्ठित करने में, भाषा का मानक रूप निर्धारित करने में, सरस्वती पत्रिका का महत्वपूर्ण योगदान है। द्विवेदीजी ने अपने संपादनकाल में प्रकाशनार्थ आनेवाली कविताओं में खड़ीबोली में रचित कविताओं को वरीयता दी। ऐसा भी नहीं था कि सरस्वती में केवल खड़ीबोली में रचित कविताएँ ही प्रकाशित होती थीं, अपितु ब्रजभाषा में रचित कविताओं का प्रकाशन भी होता था, किंतु खड़ीबोली पद्य को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला, जिसका परिणाम यह हुआ खड़ीबोली साहित्य के केंद्र में आ गई। गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार के साहित्य का सर्जन खड़ीबोली में किया जाने लगा। इतना ही नहीं, समय-समय पर छद्म नाम से सरस्वती में लिखे गए उनके आलोचनात्मक लेख तत्कालीन साहित्यकारों को नवीन विषयों पर कविता करने के लिए प्रेरित कर सके। द्विवेदीजी तत्कालीन साहित्यकारों का ध्यान भाषा और साहित्य में व्याप्त त्रुटियों की ओर आकर्षित करते रहते थे। जुलाई सन् 1901 ई० में सरस्वती में प्रकाशित 'कवि-कर्तव्य' नामक लेख में जहाँ एक ओर कविता के लिए छंद, भाषा, विषय, अलंकार आदि का स्वरूप किस प्रकार से होना चाहिए, उसको रेखांकित किया तो वहीं जुलाई सन् 1908 ई० के सरस्वती के अंक में श्रीयुत भुजंगभूषण छद्म नाम से 'कवियों की उर्मिलाविषयक उदासीनता' नामक लेख लिखकर कवियों का ध्यान उपेक्षित पात्र उर्मिला की ओर आकर्षित किया। इसीसे प्रेरित होकर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' जैसे महाकाव्य की

रचना खड़ीबोली में की।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका का संपादनकार्य जब अपने हाथों में लिया, तब उन्होंने पत्रिका को 'नागरी प्रचारिणी सभा' से मुक्त कर उसे एक स्वतंत्र मासिक पत्रिका बना दिया। पत्रिका में विविध विषयों पर लेख, स्तंभ तथा चित्रों का प्रकाशन कर 'सरस्वती' को उस युग की प्रतिनिधि पत्रिका बना दिया। 'द्विवेदीजी की संपादन-कला की सर्वप्रधान विशेषता थी सरस्वती की विविध सामग्री की सामंजस्य योजना। फलक था, तूलिका थी, रंग थे, परंतु चित्र न था, प्रतिभाशाली चित्रकार ने उसका समन्वय द्वारा सर्वांगपूर्ण चित्ताकर्षण चित्र अंकित कर दिया। ईंट, पत्थर, लोहे-लकड़ और चूने-गारे के रूप में विविध विषयक रचनाओं का ढेर लगा था। द्विवेदीजी ने उनके सुषमित उपस्थापन द्वारा सरस्वती के भव्य मंदिर का निर्माण किया।⁵ सरस्वती की इन्हीं विशेषताओं के कारण तत्कालीन हिंदी साहित्यकारों के अंदर यह भाव उत्पन्न हो गया कि उनकी रचना सरस्वती में प्रकाशित हो। इस बात को मैथिलीशरण गुप्त ने अपने एक संस्मरण में लिखा है, 'इस बीच कलकत्ते के 'वैश्योपकारक' मासिक पत्र में मेरे पत्र छपने लगे थे। इससे मुझे कुछ अभिमान भी होता था। परंतु हिंदी की एकमात्र प्रतिष्ठित पत्रिका थी। मन मेरा ईधर ही लगा था।'⁶ 'सरस्वती' में रचना छपवाने के लिए साहित्यकारों की उत्सुकता का मुख्य कारण यह था कि उनकी रचना को व्यापक स्वीकृति प्राप्त हो सके। एक तो पाठकों की संख्या अधिक होने के कारण साहित्यकारों को यह विश्वास था कि मेरी रचना अधिक-से-अधिक लोगों के बीच जाएगी और दूसरा प्रधान कारण यह था कि 'सरस्वती' ही एक ऐसी पत्रिका थी, जो पूर्णतः साहित्यिक थी, जैसा कि रामविलास शर्मा ने लिखा है, 'सरस्वती सबसे पहले ज्ञान की पत्रिका थी। वह हिंदी नवजागरण का मुख्य पत्र था और हिंदीभाषी जनता की सर्वमान्य जातीय पत्रिका थी। ज्ञान की पत्रिका होने के अलावा वह कलात्मक साहित्य की पत्रिका थी, ऐसे साहित्य की जो रीतिवादी रूढ़ियों का नाश करके नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप रचा जा रहा था। इसलिए उसने हिंदी साहित्य में और उसके बाहर व्यापक स्तर पर भारतीय साहित्य में वह प्रतिष्ठा प्राप्त की, वह बीसवीं सदी की अन्य किसी पत्रिका को न प्राप्त हुई।'⁷

इतना ही नहीं, सरस्वती के माध्यम से द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य में वैज्ञानिकता और आधुनिकता लाने का प्रयास किया, जिसमें उनको एक सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई। हिंदीभाषा को व्याकरण-सम्मत बनाने, वर्तनी-संबंधी त्रुटियों को दूर करने हेतु न केवल सरस्वती में मानक भाषा लिखकर साहित्यकारों को प्रेरित किया, बल्कि इस हेतु 1905 ई० एवं 1906 ई० में 'भाषा और व्याकरण' नामक स्वलिखित लेख भी प्रकाशित किया, जिसमें भाषा को स्थिरता प्रदान करने के लिए व्याकरण की महत्ता को स्पष्ट किया। बकौल महावीरप्रसाद द्विवेदी—'जिस भाषा में बड़े-बड़े इतिहास, काव्य, नाटक, दर्शन, विज्ञान, कला कौशल से संबंध रखनेवाले महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे जाते हैं, उनका शृंखलाबद्ध होना जरूरी है। उसका व्याकरण बनना चाहिए। लिखित भाषा में ही ग्रंथकार अपने कृतिकलाप को रखकर अपना नश्वर शरीर छोड़ देता है। व्याकरण ही उस कृति का प्रधान लक्षण है।'⁸ भाषा के संस्कार के साथ-साथ 'सरस्वती' पत्रिका के लिए लिखनेवाले साहित्यकारों का संस्कार भी द्विवेदीजी ने किया। साहित्यकारों के संस्कार का परिणाम यह हुआ कि हिंदी जगत् को श्रेष्ठ साहित्येतिहासकार, निबंधकार, उपन्यासकार, कवि और आलोचक प्राप्त हुए, जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पूर्णसिंह, प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय

‘हरिऔध’, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० गिरधरशर्मा ‘नवल’, लोचनप्रसाद पांडेय आदि साहित्यकार द्विवेदीजी के मार्गदर्शन में ही हिंदी साहित्य की सेवा करने लिए तत्पर हुए।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ‘सरस्वती’ को अत्यधिक उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक पत्रिका बनाने के उद्देश्य से भिन्न-भिन्न विषय-विशेषज्ञों को सरस्वती में लिखने के लिए प्रेरित किया। देश के दूसरी भाषाओं के लेखकों के अलावा विदेशी लेखकों को ढूँढकर सरस्वती हेतु उनसे रचनाएँ मँगवाते थे। विदेशों से सरस्वती में लिखनेवालों में सत्यदेव, भोलानाथ पांडेय, पांडुरंग खानखोजे, रामकुमार खेमका अमेरिका से; सुंदरलाल, संत निहालसिंह, जगतबिहारी सेठ और कृष्णकुमार माथुर इंग्लैंड से; प्रेमनारायण शर्मा और वीरसेनसिंह दक्षिण अमेरिका से तथा बेनीप्रसाद शुक्ल फ्रांस से थे।⁹ द्विवेदीजी ने केवल साहित्यकारों को ही नहीं, अपितु देश के विद्वानों को भी हिंदी में लिखने के लिए प्रेरित किया। पं० मदनमोहन मालवीय से किया गया आग्रह इसका प्रमाण है। जिसमें उन्होंने मालवीयजी से आग्रह करते हुए लिखा था, ‘आप स्वयं हिंदी में लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सबको हिंदी को ही अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।’¹⁰

इतना ही नहीं द्विवेदीजी हिंदीभाषा और व्याकरण के प्रति बड़े सजग थे। वे पत्रिका के स्तर एवं पाठक की रुचि का इतना ध्यान रखते थे कि बड़े-से-बड़े लेखक की रचना दोषपूर्ण होने पर लौटा देते थे। वे रचना में सरल और सुबोध भाषा के पक्षपाती थे, जो ज्यादा-से-ज्यादा पाठकों की समझ में आ सके। ‘सन् 1903 ई० में केशवप्रसाद मिश्र की ‘सुदामा’ शीर्षक लंबी तुकबंदी में उनके दोषों का निर्देश और उन्हें दूर कर अन्यत्र छपा लेने का आदेश किया। इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की भी कविता ‘शरद’ अस्वीकृत हुई, परंतु दूसरी कविता ‘हेमंत’ को उचित संशोधन और परिवर्द्धन के साथ ‘सरस्वती’ में स्थान मिला।’¹¹ द्विवेदीजी ने अपने कठिन परिश्रम, संपादनकला, छपनेवाले लेखों के संशोधन के द्वारा ‘सरस्वती’ को हिंदी की श्रेष्ठ पत्रिका बना दिया। उनकी कठिन तपस्या का परिणाम यह हुआ कि रचनाकार अपनी रचना को ‘सरस्वती’ में प्रकाशित कराने के लिए लालयित रहते थे।

‘सरस्वती’ की विशिष्टता बनाए रखने के लिए द्विवेदीजी भिन्न-भिन्न विषयों का समावेश किया करते थे। ‘संसार का शायद ही कोई विषय बचा हो, जिस पर ‘सरस्वती’ में लेख न प्रकाशित हुए हों, तारीखों से दिन निकालने की रीति, जल मानुष, अफ्रीका में सर्पाकार जंगली मानुष, पेरू का प्राचीन मंदिर, आकार में निराधार की स्थिति, विसूवियस का विषय विस्फोट, ज्योतिष वेदांग, प्राणिमात्र से मनुष्य की समीपता, इंग्लैंड की जातीय चित्रकला, अमेरिका में अखबार, मृत्यु के बाद की घटनाएँ, मंगलग्रह के निवासियों से बातचीत की संभावना, अमेरिका में कृषिविद्या की उन्नति, कारनेगी का शिल्प विद्यालय, प्रशांत महासागर के टापुओं की कुछ असभ्य जातियाँ, प्राचीन भारत में तोप बंदूक, ब्रिटिश गयाना में भारतवासी, हिंदुस्तान का वस्त्र व्यवसाय, नया कापीराइट एक्ट और सरकारी पुस्तक, तमिल भाषा का वृहदकोश, एनामा प्रदर्शनी, सुकरात, प्लेटो के दार्शनिक विचार और उपयेगिता, फ्रांस में जर्मनी का जासूस, चीन के सामाजिक परिवर्तन, अंतर्जातीय कानून, हर्बर्ट स्पेंसर की अज्ञेय मीमांसा आदि विषयों पर निबंध प्रकाशित करके द्विवेदीजी ने अपना और सरस्वती के पाठकों का ज्ञानवर्धन किया था।¹²

‘सरस्वती’ के माध्यम से ही द्विवेदीजी हिंदी की साहित्यिक धारा को अपने अनुकूल मोड़ने में सफल रहे। एक ओर जहाँ खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने हेतु श्रीधर पाठक, राय

देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', शंकर शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', लोचनप्रसाद पांडेय, रामचरित उपाध्याय, गोपालशरण सिंह नेपाली आदि की खड़ीबोली में लिखी गई कविताओं को सरस्वती में प्रकाशित कर यह सिद्ध कर दिया कि खड़ीबोली में उच्चकोटि की कविता लिखी जा सकती है तो दूसरी ओर समय-समय पर 'कवि-कर्तव्य' एवं 'कवियों की उर्मिलाविषयक उदासीनता' नामक लेख लिखकर कवियों को उपेक्षित विषय पर कविता लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। भाव, भाषा, शैली आदि में नवीनता के आगमन हेतु स्वयं नए-नए विषयों पर कविता लिखकर कवियों के सामने एक आदर्श भी उपस्थित किया। भाषा का परिमार्जन, गद्य की नवीन विधाओं का श्रीगणेश सरस्वती के माध्यम से द्विवेदीजी के संपादकत्व में ही हुआ।

किशोरीलाल गोस्वामी, लिखित 'इंदुमती', आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित 'ग्यारह वर्ष का समय', बंग महिला द्वारा लिखित 'दुलाईवाली', वृंदावनलाल वर्मा द्वारा लिखित 'राखी बंद भाई', चंद्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा लिखित 'रक्षाबंधन', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी द्वारा लिखित 'झलमला' आदि कहानियाँ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में सरस्वती में ही प्रकाशित हुईं। इसी प्रकार पद्मसिंह शर्मा का 'सतसई संहार', सरदारपूर्ण सिंह के लाक्षणिक निबंध, आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'कविता क्या है', कामताप्रसाद गुरु का 'हिंदी व्याकरण', रामदहिन मिश्र का 'साहित्य किसे कहते हैं', जैसे प्रसिद्ध निबंध आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादनकाल में ही सरस्वती में प्रकाशित हुए।

सरस्वती को राष्ट्रीय स्तर की पत्रिका बनाने एवं हिंदीभाषा और साहित्य के उत्थान हेतु महावीरप्रसाद द्विवेदी देश की अन्य भाषाओं में प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाओं से प्रेरणा ग्रहण करते रहते थे। 'केरल कोकिल (मराठी), प्रवासी (बंगला), महाराष्ट्र कोकिल (मराठी) माडर्न रिव्यू (अँगरेजी) इन सभी पत्रिकाओं से द्विवेदीजी ने प्रेरणा ग्रहण कर¹³ सरस्वती को हिंदी की सिरमौर पत्रिका बना दिया। सरस्वती के प्रकाशन में द्विवेदीजी को अनेक कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा था, 'सरस्वती' को ज्ञान की देवी का रूप देने के लिए द्विवेदीजी ने कितना प्रयास किया, उसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जिस सरस्वती में अपनी रचनाएँ प्रकाशित होने पर रचनाकार अपने आपको गौरवान्वित महसूस करते थे, उसी सरस्वती के प्रकाशन के प्रारंभिक दिनों में लेखकों की कमी से भी जूझना पड़ा था, जिसकी पूर्ति हेतु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अनेक कल्पित नामों का सहारा लेकर स्वयं लिखा करते थे। ऐसा उन्होंने संभवतः 'संपादक नाम की बारंबार आवृत्ति से बचने के लिए अपने प्रतिपादित मत का विभिन्न लेखकों के नाम से समर्थन करने हेतु उपाधि विभूषित अन्य प्रांतीय या आलंकारिक नामों के द्वारा पाठकों पर अधिक प्रभाव डालने और उस लाठीयुग में लठैत लेखकों की भयंकर मुठभेड़ से बचने के लिए उन्होंने कल्पित नामों का प्रयोग किया था।'¹⁴

कभी 'कल्लू अल्हत' बनकर 'सरगौ नरक ठेकाना नाहि' का आल्हा गाया तो कभी गजानन गणेश गर्वखंडे के नाम 'जंबुकी न्याय' की रचना की, तो कभी पर्यालोचन के नाम से 'ज्योतिष वेदांग' की आलोचना की, तो कहीं 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' दूर करने 'भारत का नौकानयन दिखलाने' बाली द्वीप में हिंदुओं का राज्य सिद्ध करने अथवा 'मेघदूत रहस्य' खोजने के लिए भुजंगभूषण भट्टाचार्य बनकर अपनी भूमिका का निर्वहन किया। इस प्रकार

द्विवेदीजी ने सरस्वती में जहाँ नए-नए विषयों पर लेख लिखकर पाठकों का ज्ञानवर्द्धन किया, वहीं दूसरी ओर अपने कठिन परिश्रम से लेखकों की कमी को भी पूरा किया था। अपनी विद्वता, कर्मठता एवं संपादनकला के द्वारा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 1903 ई० से सन् 1907 ई० तक आते-आते सरस्वती को कवियों और लेखकों के बीच पूर्ण प्रतिष्ठित कर दिया। द्विवेदीजी की संपादनकुशलता और प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होकर नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने 'सरस्वती' में एक लंबी कविता लिखी थी। जो इस प्रकार है—

नतून निबंध मनभावते विचित्र चित्र
नाना विषयों में वर वानिक बनाती है
शंकर प्रतापशील सज्जन महोदयों के
जीवनचरित जन-जन को जनाती है
हिंदी का सुधार गद्य-पद्य का प्रचार करे
रूठी ब्रजभाषा को भी सादर मनाती है
ज्ञानी ग्रहणों में महावीरता सरस्वती की
लेख अलबेले अंक में गिनाती है।¹⁵

उपर्युक्त पंक्तियों में 'सरस्वती' की समग्र विशिष्टता प्रकट हो जाती है। संपादनकला एवं कुशल नेतृत्व क्षमता के माध्यम से द्विवेदीजी ने जहाँ एक ओर भाषा और साहित्य को नवीन दिशा दी, वहीं दूसरी ओर 'सरस्वती' को एक ऐसी मानक पत्रिका बना दिया, जो अन्य संपादकों के लिए प्रेरणास्रोत बन गई। द्विवेदीजी की संपादन-कुशलता की प्रशंसा करते हुए प्रो० रामचंद्र तिवारी ने लिखा है—'सरस्वती के माध्यम से महावीरप्रसाद द्विवेदी ने न केवल हिंदी-भाषा और साहित्य को युगानुकूल नया रूप दिया, वरन् समस्त हिंदीभाषी जनसमुदाय के मानसिक क्षितिज को आलोकित कर उसे नवीन सांस्कृतिक तृप्ति प्रदान की।'¹⁶ सरस्वती और उसके संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिंदीभाषा और साहित्य के विकास में अतुलनीय योगदान है। हिंदीभाषा और साहित्य की विकास-परंपरा को रेखांकित करते वक्त न तो महावीरप्रसाद द्विवेदी के योगदान को उपेक्षित किया जा सकता है और न ही सरस्वती के योगदान को। 'सरस्वती' और महावीरप्रसाद द्विवेदी एक-दूसरे के पूरक और पर्याय हैं। एक का उल्लेख करने से दूसरे का उल्लेख स्वतः हो जाता है। एक का महत्त्व दूसरे के महत्त्व को स्पष्ट कर देता है। दोनों का महत्त्व किसी भी प्रकार न आज कम है और न भविष्य में कम होगा।

संदर्भ

1. उदयभानु सिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग (संवत्-2008, विक्रमी), लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, पृ० 160
2. वही, पृ० 162
3. वही, पृ० 162
4. वही, पृ० 163-164
5. वही, पृ० 172
6. रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1989, पृ० 360

7. वही, पृ० 360
8. भारत यायावर, महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्त्व (सन् 2003 ई०), किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2003, पृ० 312
9. उदयभानु सिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० 168
10. भारत यायावर, महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्त्व, पृ० 323
11. उदयभानु सिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० 168
12. सत्यप्रकाश मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी पत्रकारिता, पृ० 5
13. उदयभानु सिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग (संवत् 2008 वि०), लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, पृ० 183
14. वही, पृ० 166
15. सत्यप्रकाश मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी पत्रकारिता, पृ० 8
16. वही, पृ० 8

मो० 7398225085

ईमेल: mevalalyadav550@gmail.com

मुक्तिबोध : रचना-प्रक्रिया में भावों का आभ्यंतर संपादन

ओप्रकाश शर्मा

शोधार्थी, हिंदी विभाग

तिलका माझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

काव्य के स्वरूप पर बहस शायद तभी से शुरू हो गई थी, जब भामह ने काव्य के लक्षणों को परिभाषित करते हुए कहा कि 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (काव्यालंकार 1/16) अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव ही काव्य है। इस पर अनेक विद्वानों ने अपने विचार रखे। यूरोप में वर्ड्सवर्थ ने यह कहकर सारे बंधन तोड़ डाले कि Poetry is the spontaneous overflow of the powerful feelings (कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन होती है। शांत अवस्था में भाव के स्मरण से उसका उद्भव होता है)। विद्वानों का विचार है कि वर्ड्सवर्थ की इस परिभाषा में अव्याप्ति दोष है। वह काव्य की एक परिभाषा न होकर काव्य के एक भेद तक सीमित परिभाषा है जिसके भीतर प्रबंधकाव्य समाहित नहीं हो पाता। बात सही है यदि वर्ड्सवर्थ की परिभाषा को सही माना जाए तो प्रबंधकाव्य की क्या कहें, कविता संवेदनहीन और दिशाहीन हो जाएगी। सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति तो दिवास्वप्न होगी ही, वैयक्तिकता का उद्दाम विस्फोट भी अर्थहीन ही प्रभावित होगा। यह बात सत्य है कि कविता का तात्कालिक प्रयोजन आनंद है और कविता ही क्या, कला के प्रायः सभी विभाग आनंद-सृजन को आधार बनाकर ही अस्तित्वमान होते हैं। सैमुअल कॉलरिज ने जैव-सिद्धांत को काव्य-संबंधी अपनी धारणा में स्थान दिया। कॉलरिज के अनुसार कविता की परिभाषा—'कविता रचना का वह प्रकार है, जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसका तात्कालिक प्रयोजन आनंद है, सत्य नहीं। कविता की इस परिभाषा में काव्य का मूल प्रयोजन आनंद कहा गया है, सत्य नहीं। सत्य का समर्थन करनेवाली परंपरा का खंडन करते हुए कॉलरिज आनंद को काव्य का चरम प्रयोजन मानते हैं। कॉलरिज के यही विचार आई०ए० रिचर्ड्स को कलात्मक परितोष की ओर ले गए। कॉलरिज ने प्रतिभा तथा कल्पना को अभेद माना। शेली ने कहा, 'सामान्यतः कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहा जाता है। शेली से एक कदम और आगे बढ़कर ली हंट ने कहा, 'कल्पनात्मक आवेग का नाम कविता है।' स्वच्छंदतावादी कवि-आलोचकों ने कल्पना की महिमा स्थापित करते हुए काव्य को आत्माभिव्यक्ति माना। नतीजा यह हुआ कि इन सभी ने काव्य में वस्तुतत्त्व की अपेक्षा भावतत्त्व को प्रधानता दी।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कविता केवल बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन ही है अथवा केवल कलात्मक आवेग का नाम कविता है। क्या यह बाह्य जगत् अथवा जीवन की

अनुभूतियों से प्रभावित नहीं होता। पश्चिम में उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान मानने वालों की भी परंपरा रही है, लेकिन वहाँ भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि लक्षणकारों की तरह काव्य को 'शब्दार्थ रूप' नहीं माना गया। आई०ए० रिचर्ड्स ने माना कि काव्य जीवनानुभूति है। रिचर्ड्स के अनुसार काव्यानुभूति और जीवनानुभूति में भेद नहीं होता है। तत्त्वतः ये एक ही हैं। प्रारंभ में काव्यानुभूति से प्राप्त आनंद को इस प्रकार अलौकिकता से बाँध दिया गया था कि काव्य-सृजन मानवीय न होकर दैवीय कार्य के रूप में स्थापित हो गया था। पूरी शक्ति से रिचर्ड्स ने इस अद्वितीयवादी परंपरा का खंडन किया। इलियट ने कविता के सृजन में व्यक्तित्व का निषेध किया। उनके अनुसार, 'कविता भावों का उन्मोचन नहीं है बल्कि भावों से मुक्ति है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं है, बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है।' निर्वैयक्तीकरण की यह प्रक्रिया कला को विज्ञान की स्थिति के आस-पास पहुँचाती हुई दिखाई देती है। कलाकार जितना पूर्ण या सिद्ध होगा, उतना ही उसके भीतर के भोक्ता मानव और सृष्टा मानव के बीच का पार्थक्य स्पष्ट होगा।

अभिव्यक्ति को उसकी संपूर्णता में महत्त्व देनेवालों में देश-विदेश के कई विचारकों ने रस को केंद्र में रखकर एक उदात्त स्थिति की कल्पना की है। आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में लिखा था कि कवि रस से ऐसा बँधा हो कि अलंकार खुद बन जाए, अलग से कोशिश ही न की जाए। पश्चिमी विचारक लांजाइनस ने लिखा था—अलंकार सर्वथा प्रभावशाली तब होता है, जब इस बात पर ध्यान नहीं जाए कि वह अलंकार है। आगे वे लिखते हैं, 'वास्तव में महान रचना वही है, जो बार-बार कसौटी पर कसी जाने पर भी सदा खरी उतरे, जिसमें प्रभावित होना कठिन ही नहीं, लगभग असंभव हो जाए और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल हो कि मिटाए न मिटे।' लांजाइनस उदात्त को सभी काव्यों में सभी व्यक्तियों को आनंद देनेवाला गुण बताते हैं। उसी तरह से डाइडन कविता का प्रमुख उद्देश्य आनंद ही मानते हैं, भले ही उसमें शिक्षा का भी समावेश हो। मैथ्यु आर्नल्ड कविता को नैतिक-सांस्कृतिक उन्नयन का साधन मानते हैं।

अब सवाल यह उठता है कि काव्य-सृजन से जुड़े ये सिद्धांत संपूर्णता में काव्य-उद्घाटन का कितना सटीक विश्लेषण कर पाते हैं। यदि कविता केवल बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन होती तो उद्देश्यहीन होकर सामान्यजन के किसी विशेष प्रयोजन की नहीं होती। यदि केवल नैतिक-सांस्कृतिक शिक्षा का संवाहक होती तो रसोद्रेक के अभाव में हृदयों को जोड़ नहीं पाती। यदि केवल समाज के कठोर सत्यों को अभिव्यक्त करती तो काव्य-सत्यों को (अभिव्यक्त करती तो) काव्य के स्तर से इतर होने का खतरा होने लगता। पर ऐसा है क्या तुलसीदास की रचनाओं को पढ़िए, रामचरितमानस, कवितावली आदि रचनाएँ, काव्य को व्यक्तिगत भावनाओं सामाजिक उद्देश्यों को जोड़ देते हैं। किसी प्रसंग में यदि बलवती भावनाएँ भी अभिव्यक्त हो रही हैं तो वह भी प्रासंगिकता के साथ। जैसे—

स्याम गौर किमि करौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।⁵

अथवा

जौ जनतौ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतौ नहीं ओहू।⁶

—(रामचरितमानस)

इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि केवल भावनाएँ दिशाहीन वेग से

प्रकट नहीं होतीं, उन्हें भी एक मानसिक व्यवस्था क्रम के अंतर में गुजरना पड़ता है। इसी आभ्यंतर संपादन की चर्चा जैसी मुक्तिबोध ने की है वह कहीं नहीं मिलती।

वे लिखते हैं, 'रचना-प्रक्रिया से अभिभूत कवि जब भावों की प्रवहमान संगति संस्थापित करता चलता है, वह उस संगति की संस्कार में उस भावों का संपादन यानी एडिटिंग करना पड़ता है। यदि वह इस प्रकार भावों की काँट-छाँट करे तो मूल प्रकृति उसे संपूर्ण रूप से अपनी बाढ़ में बहा देगी और उसकी कृति विकृति में परिणत हो जाएगी। अनुभवी कवि आभ्यंतर भाव-संपादन का महत्त्व जानता है।'⁷

—(काव्य की रचना-प्रक्रिया पृ० 8)

मुक्तिबोध ने आलोचना-धर्म के विकास की संभावना को रचना-प्रक्रिया से अनुस्यूत माना है। उनकी नजर में नए कवि को अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति पाने के लिए यानी अपने आभ्यंतरिक वास्तव से साक्षात्कार के लिए अनेकानेक काव्य-प्रयोग करते हुए एक लंबा समय गुजार देना पड़ता है। आगे वे लिखते हैं कि 'कवि-जीवन की प्रथमस्तरीय उपलब्धि, उस अंत प्रकृति से साक्षात्कार है, जो अपना कुछ विशेष कहना चाहती है।'

मुक्तिबोध ने यहाँ स्पष्ट किया है कि कवि चाहे जिस तरह काव्य-सृजन की ओर प्रेरित हुआ हो, कविता एक 'सेल्फ एडिटिंग' की प्रक्रिया से रचनाकर्म के दौरान गुजरती रहती है। बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन हो अथवा शिक्षाप्रद काव्य-विचार हो, आभ्यंतरिक संपादन की प्रक्रिया से कविता को गुजरना होता है। महादेवी की इन पंक्तियों में भावनाएँ फूटकर प्रकाशित होती दिखती हैं, पर थोड़ी गहराई से समझने पर यह किसी गहरे सामाजिक सरोकार के प्रतिफलन के रूप में भी सामने आती हैं—

पर शेष नहीं होगी मेरी यह प्राणों की क्रीड़ा।

तुमको पीड़ा में ढूँढा, तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

मुक्तिबोध 'आभ्यंतर संपादन' के खतरों की ओर भी इंगित करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति जिस परिवेश का आदी होता है, वह भावनात्मक और वैचारिक स्तर पर वैसे ही बिंबों, चित्रों, निवेदनात्मक भंगिमाओं के साँचे तैयार कर लेता है। काव्य-सृजन के दौरान जब भाव और संवेदनाएँ इन साँचों से होकर गुजरती हैं, तो काव्य की मौलिकता के नष्ट होने और कथ्य के बदल जाने की पूरी संभावना बन जाती है। मुक्तिबोध कहते हैं, 'वस्तुतः भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना के दौरान में आभ्यंतर भाव-संपादन, सक्रिय आलोचना-धर्म की सहायता द्वारा विभिन्न भावों के विभिन्न अभिव्यंजना रूपों से घनिष्ठ संयोजन स्थापित कर देता है। काव्य रचना के अनवरत श्रम और अभ्यास के फलस्वरूप यह संयोजन अभेद्य हो जाता है। यही स्थिति-स्थापना अर्थात् (कंडीशनिंग) है। यह अत्यंत दृढ़ और आगे चलकर विघ्नकारी हो जाती है।'⁸

मुक्तिबोध की स्थापना में एक चेतावनी है। वे समाज के विभिन्न वर्गीय रूपों से भलीभाँति परिचित हैं और व्यक्ति के मानसपटल पर तदनु रूप पड़नेवाले प्रभावों के सूक्ष्म निरीक्षक भी हैं। कवि के चारों ओर का वातावरण परिवेश समाज उसके अंतःस्थल में संवेदनाओं को अभिव्यक्त करनेवाले टाइप साँचे तैयार करते हैं। कोई भी कलाकार चाहे वह स्वच्छंदतावादी हो, अभिजात्यवादी हो, नव-अभिजात्यवादी हो या फिर मार्क्सवादी हो इन (साँचों) के कारण ही है। वे कवि के भीतर काव्य-सृजन की प्रक्रिया को इस उपमा से उद्घाटित करते हैं—

‘वीरान मैदान, अँधेरी रात, खोया हुआ रास्ता, हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन यह लालटेन समूचे पथ को पहल से उद्घाटित करने में असमर्थ है। केवल धीमी-सी जगह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यों-ज्यों वह पग बढ़ाता जाएगा, थोड़ा-थोड़ा उद्घाटन होता जाएगा। चलने वाला पहले से नहीं जानता कि क्या उद्घाटित होगा...।’

मुक्तिबोध यहाँ उन्हीं फिक्सड साँचों की बात कर रहे हैं, जिसमें होकर उसकी मौलिक उद्भावना मद्धिम लालटेन के प्रकाश की तरह गुजर रही है। उसकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति सदिग्ध है। मुक्तिबोध आगे लिखते हैं—

‘इस उपमा को देखकर बहुतेरे लोग यह आरोप लगाएँगे कि यहाँ किसी अवचेतनवादी सिद्धांत का निरूपण हो रहा है।’ पर आगे फिर वही कहते हैं कि यहाँ किसी अवचेतनवादी सिद्धांत की प्रतिष्ठा नहीं की जा रही है। इस सृजन-पथ पर उनके विचार स्पष्ट हैं ‘और यह पथ क्या है? वस्तुतः बाह्य संसार का आभ्यंतरीकृत रूप है। बाल्यकाल से ही मनुष्य संसार का अनवरत आभ्यंतरीकरण करता रहा है और इसप्रकार वह उस आभ्यंतरीकृत बाह्य को उन विशेषताओं से समन्वित और संपादित करता रहा है।’ आगे वे लिखते हैं—

‘यह आभ्यंतरीकृत बाह्य घर कहिए कवि की अपनी संपत्ति अथवा दूसरे शब्दों में कवि का मनोजगत, किन्हीं उद्देश्यों या अनुरोधों से विचलित होकर कल्पना नेत्रों के सामने चंचल हो उठता है।’

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि कवि का मनोजगत उसका आभ्यंतरीकृत बाह्य ही है अर्थात् बाह्य जगत की संवेदनाएँ ही कवि के मनोजगत का निर्माण करती हैं और यह मनोजगत् किसी भी साहित्यिक उद्देश्य या अनुरोध की अभिव्यक्ति पर अंकुश लगाता है। मुक्तिबोध लिखते हैं—

‘चूँकि कवि का आभ्यंतर वास्तव में बाह्य का आभ्यंतरीकृत रूप ही है, इसलिए कवि को अपने वास्तविक जीवन में रचना-बाह्य काव्यानुभव जीना पड़ता है। कवि केवल रचना-प्रक्रिया में पड़कर ही कवि नहीं होता, वरन् उसे वास्तविक जीवन में अपनी आत्म-समृद्धि को प्राप्त करना पड़ता है और मनुष्यता के प्रधान कक्षों से एकाकार होने की क्षमता को विकसित करते रहना पड़ता है। यही कारण है कि काव्य एक सीमित शिक्षा और संस्कार नहीं है, वरन् एक व्यापक भावनात्मक और बौद्धिक परिष्करण (Culture) है—वह कल्चर, वह परिष्कृति जो वास्तविक जीवन में प्राप्त करनी पड़ती है।’

मुक्तिबोध काव्य-सृजन पर आभ्यंतरिक बाह्य के प्रभाव को समझ रहे थे। अतः विभिन्न सामाजिक स्थितियों और परिवेशों के प्रभाव से काव्य-सृजन उद्देश्य से भटक न जाए, उसके लिए वे मनुष्यता के प्रधान लक्ष्यों की व्यक्तिगत एवं सामूहिक उपलब्धि की अनिवार्यता पर जोर देते हैं। बाह्य का आभ्यंतरीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यदि यह आभ्यंतरीकरण बचकाने ढंग से, दूषित दृष्टि से, अवैज्ञानिक रूप से और मनोविकृतियों से ग्रस्त होकर किया गया हो तो तुरंत ही उसका साहित्य पर भी परिणाम होता है। इसलिए कवि के लिए सत्ता-आत्मसंस्कार आवश्यक है, जिससे बाह्य का आभ्यंतरीकरण सही-सही हो।

मुक्तिबोध के ‘अँधेरे में’ कविता की चर्चा इस प्रसंग में कर सकते हैं। मुक्तिबोध ने इस कविता में अपनी समग्र रचनात्मकता को पूरे आवेग से मूर्त किया है। यहाँ उद्देश्य है, आवेग है पर जटिल, विराट, विस्तृत बाह्य के आधार पर अवस्थित है—

सब चुप
 साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
 चितक शिल्पकार नर्तक चुप हैं
 उनके ख्याता से यह सब गाया है।
 और
 गहन मृतात्माएँ इसी नगर की हर रात
 जुलूस में चलतीं, परंतु दिन में
 बैठती हैं मिलकर करती हुई षड्यंत्र
 विभिन्न दफ्तरों-कार्यालयों, केंद्रों में घरों में
 इसकी मुड़ते और बजा मिलेगी।

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय इसी आधार पर मुक्तिबोध की कविता की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं—‘मुक्तिबोध शिल्पी-जैसे धैर्य और तन्मय बेचैनी से अपनी कविता का प्रदीर्घ व्यक्तित्व उकेरते हैं, तो उनका अभिप्राय सही परिप्रेक्ष्य में अपने समय को उसके संवेदनों को परिभाषित करते हुए कथ्य को पाठक के हृदय में घनीभूत कर देना होता है।’

कवि का मनोज मन उतना ही अच्छा और सशक्त होगा, जितनी सुदृढ़ और वास्तविक बाह्य के आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया रही होगी। इस कड़ी में गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं को रखा जा सकता है।यहाँ बाह्य और अंतर के अद्भुत समन्वय का चित्रण है। आवेग और उरग पर सामाजिक परिस्थिति का सम्यक प्रभाव है, जिस कारण उनके पद, रज और विचार दोनों से ओतप्रोत कर देते हैं—

ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि
 पेट ही को पचत बेचत बेटा-बेट की
 तुलसी बुझाई एक, राम-घनस्याम ही ते
 आगि बड़ वागिते बड़ी हैं आग पेट की

—(कवितावली)

‘कविता क्या है’ निबंध में आचार्य शुक्ल ने जिस रसदशा की चर्चा की है, इस पद को पढ़ने के बाद पाठक सहज ही उसमें प्रविष्ट हो जाता है। आचार्य शुक्ल ‘रसदशा’ को परिभाषित करते हुए लिखते हैं—‘जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए बिना इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि में संबद्ध करके देखता रहता है, तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बँधा रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर अपने-आपको बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्तहृदय हो जाता है। अपने हृदय को लोकहृदय में मिला देना ही (रसदशा) है।’

मुक्तिबोध हृदय की मुक्तावस्था को कवि का आत्मसंस्कार कहते हैं, ताकि बाह्य का आभ्यंतरीकरण वास्तविक और सही-सही हो। उनकी एक कविता को कुछ पंक्तियाँ देखिए—

जमाने ने नगर के कंधे पर हाथ रख कह दिया साफ-साफ
 पैरों के नखों से या डंडे की नोक से

धरती की धूल में भी रेखाएँ खींचकर
 तस्वीरें बनती हैं
 बशर्ते कि जिंदगी के चित्र-सी
 बनाने का चाव हो
 श्रद्धा हो, मन हो। (चाँद का मुँह टेढ़ा है)

बाह्य जीवन के नग्न सत्य के बिना क्या काव्य-सर्जन संभव है—
 मुझसे भागते क्यों हो
 तुम्हारी स्वप्नवीथी कर सकेगी क्या?
 बिना संसार के सर्जन असंभव है,
 समन्वय झूठ है,
 सब सूर्य फूटेंगे
 व उनके केंद्र डूबेंगे
 उड़ेंगे खंड
 बिखरेंगे गहन ब्रह्मांड में सर्वत्र
 उनके नाम में तुम योग दो।

मनोजगत् के 'फिक्स्ड साँचे' किस प्रकार जीवन के जलते सत्य को विकृत कर देते हैं—
 इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि
 इतना ज्ञान, संस्कृति और अंतःशुद्धि
 इतना काव्य, इतने शब्द, इतने दर्द
 इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुंदर जाल
 केवल एक जलता सत्य देते टाल।

(पूँजीवादी समाज के प्रति)

वास्तव में मुक्तिबोध बाह्य के आभ्यंतरीकरण की शुद्धता के प्रति चिंतित थे। किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह अथवा वाद से ग्रस्त मस्तिष्क में आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया में विकृति आ सकती है। यही वजह है कि बाह्य जगत् के प्रभावित करनेवाले विभिन्न वादों यथा—अभिजात्यवाद, शास्त्रवाद, पुनर्जागरणकाल, मार्क्सवाद आदि ने अपने-अपने ढंग से काव्य-सर्जन को प्रभावित किया। सामाजिक परिस्थितियाँ जैसे—अमीरी-गरीबी, ऊँच-नीच, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदि यदि जीवन को प्रभावित करते हैं तो साहित्य इससे कैसे अछूता रहेगा। इस तरह की असमानताएँ ही विभिन्न प्रकार के वादों और विवादों को भी जन्म देती हैं और ये सारी चीजें बाह्य के आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। विलियम वर्ड्सवर्थ का समय 1770-1850 का था। यह युग स्वच्छंदतावाद का युग था।

शास्त्रवाद से ऊबा हुआ मन स्वच्छंद आकाश में विचरण करना चाहता था, सारे बंधन तोड़ देना चाहता था—I wandered lonely as a cloud that floats on high o'er vales and hills. When all at once I saw a crowd, a host of golden daffodils beside the lake, beneath the trees. Fluttering and dancing in the breeze.

'अब यहाँ यह समझना जरूरी है कि कविता 'Spontaneous overflow' है या आभ्यंतर

संपादन से होकर ही उसका सर्जन होता है। इस विचार में कोई संदेह नहीं कि कोई भी उद्भावना बाह्य, जगत् की संवेदनाओं और मनोजगत् के साँचों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। हम यहाँ मुक्तिबोध के विचारों का समर्थन करेंगे कि काव्य-सर्जना हर हाल में 'आभ्यंतर संपादन' की प्रक्रिया से गुजरती है। चाहे वह आवेगात्मक कविता हो अथवा शिक्षाप्रद। मार्क्सवादी केदारनाथ अग्रवाल की कविता में कल्पना यदि नहीं है तो आवेग तो है। चाहे भावना कहीं से उपजे, अभिव्यक्ति से पहले वह व्यक्तिगत होकर ही उभरती है। अतः सारी काव्य-अभिव्यक्तियाँ आवेगात्मक ठहरेंगी—

बनिया के रुपयों का कर्जा
जो नहीं-चुकाने पर चुकता
दीमक, गोजर, मच्छर, माटा
ऐसे हजार सब सहवासी
बस यही नहीं जो भूख मिली
सौगुनी पाप से अधिक मिली

स्वच्छंदतावादी कवियों की तरह मार्क्सवादी कवियों ने भी प्रकृति से खुद को जोड़ा, पर यहाँ बाह्य जगत् के आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया और रूप आभ्यंतर संपादन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है—

धीरे से, पाँव धरा धरती पर किरनों ने
मिट्टी पर दौड़ गया लाल रंग तलुओं का
छोटा-सा गाँव हुआ केसर की क्यारी-सा
कच्चे घर डूब गए कंचन के पानी में

—केदारनाथ अग्रवाल

काव्य को 'दैवी प्रेरणा' माननेवालों को यह समझ आनी चाहिए कि केवल फूलों, पंखुड़ियों और बसंत की बातें दैवी-प्रेरणा नहीं हो सकती। कवि जब लोककल्याण के लिए छटपटाकर विह्वल होकर पद लिखता है तो उसकी बातें ज्यादा डिवाइन लगती हैं—

लालची ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
बदन मलीन मन मिटें ना बिसूरना
ताकत सराध के बिबाह के उठाह
कछू डोलै लोल बूझत सबह ढोल-तूरना
प्यासे हूँ न पावे बारि, भूखें न चनक चारि
चाहत अहारन पहार दारि घूरना
सोक को अगार दुखभार भरो तोलों जन
जौलों देवी द्रेवो न भवानी अन्नपूरना।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या-137)

तुलसीदास के इस युगांतरकारी पद ने सारे एकांगी काव्य-सिद्धांतों की धज्जियाँ उड़ा दी है। कहीं दूर से ही ढोल या तुरही की आवाज सुनाई देती है तो वे दौड़ पड़ते हैं। भुखमरी और अकाल के इस दुर्दिन में आहार की इच्छा पहाड़ के समान है। इस पद में कितना आवेग है, कितना सत्य है, यही दैवी प्रेरणा है।

मुक्तिबोध की आत्मा बेचैन है। वे उस मूल प्रकृति की खोज में हैं, जो सामाजिक, मानसिक विकृति के कारण अभिन्यस्त नहीं हो पा रही है—

इसलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा

X X X

वह एक-एक आत्मा का इतिहास
हर एक देश व राजनीतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति
खोजता हूँ पहाड़-पठार-समुंदर
जहाँ मिल सके
मुझे मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्म संभव।

(अँधेरे में)

जनकल्याण की अभिव्यक्ति को आत्मा में दबा देना बहुत बड़ा अनर्थ है। हर कवि कलाकार सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अंदर ही अंदर एक प्रतिक्रिया करता है। काव्य-सृजन के पूर्व, यह विचारों का आभ्यंतर उत्पादन ही तो है। कोई इनसे सीधे-सीधे प्रभावित होता है उसके हृदयोद्गार काव्य के रूप में प्रकट होते हैं। जैसे—कबीर, तुलसीदास, नागार्जुन आदि। कोई इस पर अपनी प्रतिक्रिया शैली बदलकर देते हैं। जैसे—निराला, महादेवी, शेक्सपीयर आदि। केवल भक्त कहे जानेवाले कवियों की रचनाओं का भी यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए तो उसमें भी बुराई पर अच्छाई की जीत का जोरदार प्रयत्न दिखाई देता है। सूर के भ्रमरगीत सार में ही तमाम वायवीम और आकाशी बातों की खिल्ली उड़ाकर जीवन का महिमामंडन किया गया है—

आयो घोष बड़ो व्यापारी।

लादि खेप गुन ग्यान योग की ब्रज में लाय उतारी।

जायसी का पद्मावत तो कुविचार और बुराई की भर्त्सना करने में सारी धार्मिक और सामाजिक सीमाओं को लाँघ जाता है। जिन्हें इस्लाम में सिर्फ कट्टरपंथ ही दिखलाई देता है, उन्हें जायसी का पद्मावत पढ़ने की जरूरत है। यहाँ जब अलाउद्दीन को पद्मावती नहीं मिलती है, उस प्रकरण पर जायसी का उद्गार देखिए—

छार उठाहू लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाहू पिरथिमि झूठी।

जायसी के इस महाकाव्य में विभिन्न स्थलों पर आवेगात्मक उद्गार के दर्शन होते हैं, पर प्रसंग के हित में और नैतिकता से ओत-प्रोत—

पदमावति सौ कहेहु विहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।
तेहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कह दिए दुंद दुख पूरा।
हमहुँ बिआही संग ओहि पीऊ। आपुहिं पाई जानु पर जीऊ।
मोहि भोग से काज न बारी। सौह द्रिस्टि के चाहनहारी।

नागमती के वियोग-वर्णन के समय जायसी की मनोदशा एक लोककवि जैसी हो गई है और नागमती खंड लोककाव्य। नागमती विरह की आग में तपकर अपने स्नेह गौरव गर्व भूल जाती है। कितना मार्मिक वर्णन किया कवि ने। ऐसा लगता है काव्य-संबंधी अतीतकाल से चले आ रहे सारे प्रतिमान एक स्थल पर घनीभूत होकर एकाकार हो उठे हैं। वास्तव में इसी अभिव्यक्ति की चिंता कर रहे थे मुक्तिबोध। उन्हें मनोजगत् में होनेवाले भावों और विचारों के 'आभ्यंतर संपादन' का निश्चय था। कोई भी कवि चाहे वह स्वच्छंदतावादी हो, समाजवादी हो अथवा अभिजात्यवादी शास्त्रवादी हो, किसी भी भावना अथवा विचार का केवल वाहक नहीं हो सकता। सर्जन और अभिव्यक्ति के पूर्व अंतर में इनका संपादन होने की क्रिया 'नेचुरल' है।

इसप्रकार मुक्तिबोध ने काव्य-रचना-प्रक्रिया पर जो विचार दिया, वह काव्य के सभी प्रकारों और अंगों की रचना-प्रक्रिया को संतुष्ट करता है और सर्जन से जुड़े विभिन्न अनछुए पहलुओं की सही व्याख्या भी करता है। यदि काव्य का एक प्रकार दैवी-प्रेरणा से सृजित होता है तो अन्य सारे प्रकार भी दैवी-प्रेरणा के परिणाम माने जा सकते हैं। हर प्रकार के काव्य से, चाहे वह प्रबंधकाव्य हो, समाजवादी कविता हो, प्रगतिशील काव्य हो पाठक साधारणीकृत हो सकता है बशर्ते वह इन परिस्थितियों का भुक्तभोगी रहा हो।

'आभ्यांतर संपादन' को स्वाभाविक प्रक्रिया मानने के बाद भी मुक्तिबोध को बाह्य जगत् के शुद्धतम आभ्यंतरीकरण की बड़ी चिंता थी। वे इस बात को भली-भाँति समझते थे कि सामाजिक परिस्थितियों की प्रतिक्रियास्वरूप कई वाद उत्पन्न होकर मनोजगत् में आर्थोडॉक्स और हठी साँचों के रूप में जम जाते हैं और न सिर्फ बाह्य के आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया बल्कि आभ्यंतर संपादन से लेकर काव्य-सर्जन को प्रभावित और विकृत करते रहते हैं।

संदर्भ

1. इग्नू एम०एच०डी० साहित्य की अवधारणा, पृ० 1
2. वही, पृ० 18
3. इग्नू एम०एच०डी०, साहित्य पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ० 89
4. वही, पृ० 23
5. तुलसीदास गोस्वामी, रामचितमानस, बालकांड
6. वही, लंकाकांड
7. इग्नू एम०एच०डी०, काव्य की रचना-प्रक्रिया, पृ० 81
8. इग्नू एम०एच०डी०, सुकवि समीक्षा
9. इग्नू एम०एच०डी०, काव्य की रचना-प्रक्रिया, पृ० 82
10. वही, पृ० 83

मो० 7631277859

समकालीन आर्थिक परिदृश्य की दृष्टि से 'मय्यादास की माड़ी' एवं 'ढाई घर' का तुलनात्मक विश्लेषण

प्रीति चौहान

शोधछात्रा, हिंदी विभाग

जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत

एक ही समय के समाज और उसमें घटित विभिन्न घटनाओं को दो प्रबुद्ध साहित्यकारों की साहित्यिक दृष्टि से देखना स्वयं में एक रोचक अनुभूति प्रतीत होती है। भीष्म साहनी कृत उपन्यास 'मय्यादास की माड़ी' सन् 1988 में प्रकाशित एक कस्बे की कई पीढ़ियों की कहानी है। उपन्यास की कथा सिक्ख संघर्ष से लेकर स्वतंत्रता-संग्राम तक फैली हुई है, जबकि गिरिराज किशोर कृत उपन्यास 'ढाई घर' सन् 1991 में प्रकाशित सामंतवादी पृष्ठभूमि पर आधारित है। एक जमींदार परिवार की तीन पीढ़ियों को केंद्र में रखकर उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है। यहाँ समकालीन आर्थिक परिदृश्य की दृष्टि से दोनों उपन्यासों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

'मय्यादास की माड़ी' तथा 'ढाई घर' के घटनाक्रम को देखें तो उस समय भारत में आर्थिक दृष्टि से ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित था। आर्थिक दृष्टि से उपनिवेश विदेशी शासकों का मातृभूमि की सीमा से बाहर वह देश या क्षेत्र है, जिसके संबंध में व्यापारिक नीति एवं आर्थिक विकास के स्वरूप के निर्धारण में अनिवार्य निर्णय लेने का अधिकार विदेशी शासकों के हाथ में होता है। उस समय निर्यात करने तथा अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से चाय, कॉफी आदि के बागान व फसलों में अधिक निवेश किया गया और अनाज के निर्यात के संदर्भ में भारतीय हितों की उपेक्षा कर ब्रिटिश हितों को महत्त्व दिया गया। यहाँ तक कि अकाल की स्थिति में भी अनाज का निर्यात किया जाता रहा। जो देश के लघु एवं कुटीर उद्योग भी, जो विश्वविख्यात थे, नष्ट कर दिए गए। 'अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से विनिवेश के लिए भी कुछ आकर्षक क्षेत्रों को चुना गया। इसमें कच्चे खनिजों का सस्ते श्रम द्वारा निर्यात करने के लिए यथासंभव उपाय किए गए।'

अंग्रेजों से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था का ढाँचा बहुत सुदृढ़ था और इसका स्तर भी ऊँचा था। इसके साथ ही विभिन्न अंगों के बीच पर्याप्त संतुलन भी था, किंतु दुर्भाग्यपूर्ण ब्रिटिश शासन के शोषण के चलते इसे गहरी क्षति हुई तथा इसका भीतरी संतुलन भी बिगड़ गया और देश की अर्थव्यवस्था गिरकर एक निम्न स्तर पर टिक सी गई। 'इस बात का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 1867-68 में दादाभाई नौरोजी द्वारा लगाए अनुमान से भारत में प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय 24.35 रुपए की थी, जो 1899 में लगाए अनुमान के अनुसार बढ़ने के बजाय 23.13 रुपए

ही रह गई थी।¹²

ब्रिटिश भारत के इस आर्थिक परिदृश्य के आलोक में 'मय्यादास की माड़ी' व 'ढाई घर' में आर्थिक संदर्भों के आधार पर तुलना कर देख सकते हैं कि किस उपन्यास में उसे किस रूप में तथा कितनी मात्रा में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अभिव्यक्ति मिली है।

सामंतवादी युग में जहाँ उच्चवर्ग विलासितापूर्ण जीवन जी रहा था, वहीं आम आदमी आर्थिक रूप से इतना कमजोर था कि उसे केवल दो वक्त की रोटी मिल जाए तो बहुत है। आम आदमी एक ओर रोटी की चिंता से ग्रस्त था तो दूसरी ओर उसे यह चिंता सताती है कि सामंतों का कर चुकाना है और वह उनके अत्याचार सहने को मजबूर था। 'मय्यादास की माड़ी' का हरनारायण, रामदास पुरोहित, कुवड़ा, हलवाई, रामजवाया, बाँसी, वानप्रस्थी जी आदि आम आदमी के प्रतिनिधि पात्रों की भूमिका निभाते हैं। हरनारायण की आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि वह अपनी नातिन रुकमणि का विवाह पागल के साथ होने पर भी कुछ नहीं कर पाता। 'गहरे क्लेश में तो हरनारायण भी था, पर उसकी दुर्बलता उसका मुँह बंद किए थी। अपनी निःसहायता के बोध ने उसके साहस को छलनी कर डाला था।¹³ निम्नवर्ग का जीवन अभावमय था। हमारे समाज में श्रमिकवर्ग को भरपेट भोजन भी मिल जाए तो बहुत है। वह परिश्रमी होते हुए भी सस्ते में काम करने को मजबूर है। लंदन के इंडिया हाउस में मंत्री महोदय का एक कथन—'जितना सस्ता मजदूर हिंदुस्तान में मिलता है, उतना सस्ता अफ्रीका में भी नहीं मिलता। उसे थोड़ी-सी दाल-भात मिल जाए, तो वह दिन में बारह-बारह घंटे तक काम करता रह सकता है।¹⁴ यह विडंबना ही है कि जितना परिश्रम आम आदमी करता है, उसे उतना मिल नहीं पाता। यह फिर भी अभावग्रस्त जीवन जीता है और दुनिया से चला जाता है। धन के अभाव में एक आम आदमी अपनी इच्छाओं को दबा लेता है, क्योंकि वह अपनी ख्वाहिशों को पूरा करने में सक्षम ही नहीं है, केवल दो वक्त की रोटी मिल जाने पर ही संतुष्ट हो जाता है। वानप्रस्थी जी इसी मध्यमर्गीय जीवन और मानसिकता के प्रतीक हैं, वे सोचते हैं कि एक-एक पैसा कीमती है, उसे व्यर्थ की चीजों में लगाना गलत है। अतः वे एक साधारण जीवन व्यतीत करते हैं।

'ढाई घर' उपन्यास में यद्यपि आम आदमी की स्थिति के विषय में चित्रण कम ही हुआ है, लेकिन हमें स्थान-स्थान पर तत्कालीन आम आदमी की दशा समाज में कैसी थी, इसकी झलक मिलती रहती है। धन के अभाव में वह किस प्रकार जीवनयापन कर रहा था और किस प्रकार वह सामंतों के शोषण का शिकार था, ये सारे दृश्य उपन्यास में वर्णित हैं। ब्रिटिश शासनकाल में किसानों की आर्थिक दुर्दशा का चित्रण किया गया है। कई बार प्राकृतिक आपदाओं के कारण किसानों की फसल नष्ट हो जाती थी जिससे एक ओर उनके समस्त परिवार के भरण-पोषण की समस्या उत्पन्न हो जाती तो दूसरी ओर उन्हें कर का भुगतान न करने पर जमींदार के अत्याचारों को सहना पड़ता—'ये लोग पिटते भी और जमींदार के पाँव भी पड़ते। अपनी मजबूरी का बयान करते। उनकी रहमत माँगते, रोते-रिझाते। किसी की फसल अतिवृष्टि के कारण खराब हो गई होती, कहीं फसल को सूखा निगल गया होता, किसी का जानवर मर जाता और गोई बिगड़ जाती। किसी की बिटियाँ की शादी का कसाला फैल जाता, किसी के यहाँ जनेउ पड़ जाता, किसी के पिता का स्वर्गवास हो जाता और जो कुछ बचा-खुचा होता वह क्रिया-करम को अर्पण हो जाता। कारण कुछ भी हो, पर उन सबकी वहीं तुड़ाई होती। वे यह जानते हुए भी आते कि तोड़े जाएँगे।'¹⁵

मिरची भी ऐसे जमींदारों के शोषण का शिकार है। ये जमींदार इनकी आर्थिक दुर्दशा के जिम्मेदार माने जा सकते हैं। उपन्यास में आम आदमी के रूप में काले, बिस्सु, रहमतुल्ला, रफीक, भिश्ती आदि पात्र हैं। ये सभी इन जमींदारों के यहाँ नौकरी करके जीवनयापन करते हैं 'बिस्सु पहले चरकटा था। अब उसकी पदोन्नति हो गई थी। पहले दो रुपए महीने मिलते थे, अब तीन रुपए मिलने लगे थे। सबसे ज्यादा तनख्वाह काले को मिलती थी। सात रुपए तनख्वाह साल में दो बार बँटती थी। फसल पर छोटे लोगों को तिमाही दी जाती। इसके अलावा गुड़, लकड़ी, मोटा अनाज आदि भी साल में एक बार दिया जाता था। ...शादी-ब्याह के वक्त लकड़ी और अनाज आदि अतिरिक्त मिलता था।'⁶

साईसों को ऊपर की आमदनी भी थी। रहमतुल्ला भी बड़े राय का नौकर है, लेकिन बाद में वह दर्जी की दुकान किराए पर खोलता है और जीवनयापन करता है। ये लोग बड़े घरों में नौकरी ही नहीं करते, अपने मालिकों को ही अपना सब-कुछ समझते हैं और उनकी वफादारी में ही सारी उम्र गुजार देते हैं। रहमतुल्ला कहता है—'मालिक मैं आपका किराया देने लायक कतई नहीं। आप अपनी जूतियाँ मेरे ऊपर झाड़ दें तो मैं तो उसकी धूल में दब जाऊँ। इतने साल आपका दिया खाना खाया, आगे भी खाऊँगा।'⁷ रफीक रघुबर के स्कूल में चपरासी था। रफीक के परिवार का भरण-पोषण ठीक से नहीं हो पाता था, इसी कारण उसका पुत्र रहमान स्कूल के बगीचे से फल चुराकर खाने पर मजबूर है, जिसके कारण रफीक की नौकरी भी चली जाती है।

इसी प्रकार आम आदमी की आर्थिक दशा भयंकर थी और सामंतीवर्ग अपनी तिजोरियाँ भर रहा था। 'मय्यादास की माड़ी' व 'ढाई घर' दोनों ही उपन्यासों में आम आदमी की आर्थिक दुर्दशा का व्यापक चित्रण हुआ है—'भीष्म साहनी जी के कथासाहित्य में मुख्य रूप से मध्यवर्ग की अभिव्यक्ति हुई है, जिसके जीवन में अंतर्विरोधों का विशेष जाल बना रहता है।'⁸

सामंतवादी युग में जहाँ निम्नवर्ग शोषक, अत्याचार व अभावों से जूझते हुए जीवनयापन कर रहा था, वहीं उच्चवर्ग अपना जीवन विलासिता के साथ गुजार रहा था। इसी असमानता का चित्रण 'मय्यादास की माड़ी' और 'ढाई घर' में मिलता है। 'मय्यादास की माड़ी' में जहाँ हरनारायण जैसा व्यक्ति आर्थिक विपन्नता के कारण अपनी विधवा बेटी की पुत्री का विवाह करने में इतना असमर्थ है कि वह अपना टूटा-फूटा मकान बेचकर भी बारात को दो वक्त का खाना नहीं जुटा सकता, वहीं मलिक मंसाराम और धनपत जैसे उच्चवर्गीय लोग विवाह में आवश्यकता से अधिक धन खर्च करते हैं, पानी की तरह पैसा बहाते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—'आमतौर पर शादियों में कौड़ियाँ और पाइयाँ वारी जाती थीं, पर दीवानों की बारात में पहली बार पैसे और अधन्नियाँ भी वारी जा रही थीं।'⁹ वहीं मलिक मंसाराम भी विवाह में अधिक-से-अधिक दहेज लेकर अपना रुतबा दिखाता है।

जहाँ उच्चवर्ग पूरे ऐश्वर्य के साथ रहता है, वहीं आम व्यक्ति को एक टूटा-फूटा घर मिल जाए तो वह आजीवन उसी में जीवन व्यतीत कर लेता है। रामदास पुरोहित व हरनारायण दोनों का घर टूट-फूटा है, जहाँ अँधेरा ही रहता है, जबकि धनपत व मंसाराम जैसे लोग अपनी हवेली में ऐश्वर्यपूर्ण जीवनयापन करते हैं। 'ढाई घर' उपन्यास में भी वही आर्थिक विषमता देखने को मिलती है। जहाँ आम व्यक्ति को तन ढकने के लिए कपड़े जुटाना तक मुश्किल था, वहीं उच्चवर्ग के लोग रोज नया कपड़ा पहनते थे। एक उदाहरण—बड़े राय को अजीबोगरीब झक थी।

वे अपनी पत्नी यानी मेरी माँ से यह चाहते थे कि जब भी वे उनके सामने जाएँ, नई साड़ी बदलकर जाएँ। नई क्या, जो पहले कभी न पहनी गई हो। हरिराय इसी प्रकार ब्रिटिश अधिकारियों को भोज पर आमंत्रित करता है, जिसका इंतजाम वह टाउनहॉल में करता है। इसके लिए दिल्ली से लड्डू, खस्ता, सोहन हलवा मँगाए जाते हैं। बेड़ियाँ, पूरियाँ, कचौरियाँ, सब्जियाँ, पिश्ते की खीर, जाफरान पाक और न जाने क्या-क्या? सभी भोज में शामिल था। हाथ धोने के लिए असली गुलाबजल मँगाया जाता था। दूसरी ओर वह गरीब भिश्ती है, जो इन लोगों की जूठन पर पलता है और उसका खानदान भी इसी प्रकार पला है। जहाँ उच्चवर्ग हाथ गुलाबजल से धोता है, वहाँ गरीब भिश्ती के हाथ पानी में भीगे रहने के कारण गल जाते हैं, जिसमें वह रोज कत्था लगाता है।

‘ढाई घर’ उपन्यास में इस आर्थिक असमानता के साथ-साथ स्वतंत्रता-पश्चात् की उस स्थिति का भी चित्रण है, जब आर्थिक समीकरणों में व्यापक परिवर्तन परिलक्षित होने लगा। लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में जमींदारी खत्म होने के कारण आम जनता का शोषण करनेवाला जमींदारवर्ग आर्थिक रूप से कमजोर होने लगा। उपन्यास में हरिराय व उसके परिवार की गिरती आर्थिक दशा का वर्णन है कि किस प्रकार बाद में वह कर्ज लेकर विवाह करने पर मजबूर है। इस स्थिति के पैदा होने का संकेत लेखक ने पहले ही हरिराय के माध्यम से दिया है। दबे और शोषित लोगों को स्वतंत्र परिवेश में विकसित होने और अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने का अवसर मिला। इसप्रकार संपूर्ण देश में एक नया अर्थतंत्र विकसित हुआ। ‘मय्यादास की माड़ी’ में इस स्थिति के आने के संकेत-भर मिलते हैं।

बहुत सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित नीति अपनाकर ब्रिटिश शासकों ने भारत जैसे विशाल देश को अपने अधीन किया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने शोषण एवं दमनकारी नीति को अपनाया। ‘मय्यादास की माड़ी’ व ‘ढाई घर’ दोनों उपन्यासों में अँग्रेजों के इस शोषण को चित्रित किया गया है।

‘मय्यादास की माड़ी’ में अँग्रेजों द्वारा बनाई जानेवाली नीति को दिखाया है, जो इंडिया हाउस के हॉल में बनाई जाती है। ‘जबसे ब्रिटिश प्रशासन ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकलकर सीधा ब्रिटिश सरकार के हाथ में आया था, इंडिया हाउस का हॉल भारत में होनेवाले क्रिया-कलापों का केंद्र बन गया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शोषण-नीति की पुष्टि मंत्री महोदय का यह कथन करता है—‘साम्राज्य स्थापित करने का काम एक महान राष्ट्रीय ध्येय था और इसके लिए जो भी कुर्बानी दी जा सके कम है—साम्राज्य का विस्तार एक विराट अभियान है—’ *Britania Rules the Waves*¹⁰

अँग्रेजी शासकों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण किया गया। ब्रिटिश सरकार की नीति थी कि भारत को इंग्लैंड का कृषिक्षेत्र बनाया जाए। ब्रिटिश शासकों की अमानवीयता और कूटनीति की पराकाष्ठा का एक उदाहरण—‘मुर्शिदाबाद के बुनकरों के अँगूठे कटवाना, जिससे अँग्रेजों के माल को मेनचेस्टर में खुली मंडी मिल सके।’¹¹

अँग्रेजों ने मालगुजारी कानून बनाया, जिससे साहूकारों को लाभ हुआ। ‘मय्यादास की माड़ी’ के हेनरी पात्र के माध्यम से भीष्म साहनी ने ब्रिटिश शासकों की शोषणकारी व दमननीति का पर्दाफाश किया है। ब्रिटिश सरकार इस सबको भारत का हित बताती है और अपनी-अपनी चाल चलती है। न केवल वह खर्च, जो रेल बिछाने में किया गया बल्कि ‘अफगानिस्तान और चीन में जो लड़ाइयाँ लड़ी गई थीं, उन लड़ाइयों का खर्च भी भारत के नाम डाला गया था।’¹² साथ ही

भारत के कच्चे माल को अपने फायदे के लिए प्रयोग किया। एक उदाहरण देखें—‘जितनी ज्यादा कपास भारत में आती है, उतनी ही बड़ी मंडी भारत में हमारे बुने हुए कपड़ों के लिए खुल रही थी।’¹³

एक अंग्रेज अध्यापक द्वारा ब्रिटिश शासन की इस शोषण-नीति का विरोध किए जाने पर मंत्री महोदय का यह कथन ब्रिटिश शासन की शोषण-नीति की पराकाष्ठा को बताता है—‘आप भी ब्रिटिश नागरिक हैं, और मैं भी ब्रिटिश नागरिक हूँ। हम दोनों की दिलचस्पी अपने देश की उन्नति और विकास में है, और होनी चाहिए।’¹⁴

‘ढाई घर’ में अंग्रेजों की शोषण-नीति को एक अंग्रेज द्वारा ही व्यक्त किया गया है। पौबल प्राइस की दोस्ती छोटे राय से हो जाने के कारण पौबल प्राइस का एक अंग्रेज साथी कहता है—‘तुम इन हिंदुस्तानियों से क्यों दोस्ती रखते हो। वे ‘यूज एंड थ्रो’ के अलावा और किसी लायक नहीं।’¹⁵ लेकिन पौबल प्राइस इसका विरोध यह कहकर करते हैं—‘तुम भारतीय इतिहास पढ़ो तुम उनके बिना नजदीक आए उन्हें कैसे जान सकते हो। ‘हम लोग संसार की सबसे ज्यादा स्वार्थी कौम हैं। हम लोग अपने और अपने देश के सिवाय किसी के बारे में सोचना ही नहीं जानते। हमारे पास खेती की जमीन नहीं थी तो हमने अपने देश का औद्योगीकरण कर लिया। कच्चा माल सस्ता खरीदने के लिए और तैयार माल बेचने के लिए दोहरे बाजार चाहिए थे तो हमने दुनियाभर में अपने उपनिवेश बना डाले। उनकी उन्नति के रास्ते बंद कर दिए। वे उपनिवेश हमारे लिए कच्चे माल और श्रमिकों की खान सिद्ध हुए। हमारे पास ताकत के बल पर संबंध बनाकर उनका शोषण करने की अद्भुत क्षमता है।’¹⁶

अंग्रेजों की शोषण-नीति और किए जा रहे शोषण को उपर्युक्त उदाहरण से अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सका है। इतना ही नहीं अंग्रेजों द्वारा भारत को तकनीकी माध्यम से भी शोषित किया गया। ‘1853 में सबसे पहली लाइन बाणे और बंबई के बीच बिछी थी। वह देश पर अंग्रेजों की तकनीकी गिरफ्त की शुरुआत थी।’¹⁷ एक दूसरा तरीका अंग्रेजी सरकार द्वारा भारतीयों के आर्थिक शोषण का यह था कि वह अपने शिक्षित वफादारों को ऊँचे पद देकर रुपए भी बचाती थी, उनसे अपने लोगों के खिलाफ फैसले भी खिलवाती थी। ‘अंग्रेज अफसर रिटायर होकर जाते और अपने पिट्टुओं को उनकी खिदमत के बदले कुछ-न कुछ देकर रुपए भेजने को कहते थे। मि० विल्टन जो जंगलात के ठेकेदार थे, वे यहाँ से जाते समय घमंडीलाल जो कि उनकी कार चलाया करते थे, उसे ठेकों का काम सौंप देते हैं और बदले में दस हजार रुपए साल सालाना भेजने को कहते हैं।’¹⁸

समाज के वर्ग-वैषम्य को स्पष्ट करने का दोनों ही उपन्यासकारों ने सफल प्रयास किया है। समाज के उच्च, मध्य एवं निम्नवर्ग के जीवन को विभिन्न पक्षों को उपन्यासकारों ने उजागर किया है। सामंती व्यवस्था में आम आदमी की आर्थिक दशा और उसके शोषण के साथ अंग्रेज किस प्रकार भारत का आर्थिक शोषण करते हैं और किन नीतियों को अपनाकर अपनी चाल चलते हैं, इस सबका चित्रण ‘मय्यादास की माड़ी’ तथा ‘ढाई घर’ में सफलतापूर्वक किया गया है किंतु ‘ढाई घर’ में कथा का केंद्रबिंदु राय परिवार होने के कारण उसमें आम आदमी की आर्थिक स्थिति, समस्याओं का चित्रण संकेत रूप में ही हुआ है, जबकि ‘मय्यादास की माड़ी’ में भीष्म साहनी ने समाज के उच्चवर्ग के साथ ही मध्यम व निम्नवर्ग की आर्थिक दशा, गतिविधियों, समस्याओं आदि का चित्रण स्पष्ट रूप से किया है।

संदर्भ

1. ए०एन० अग्रवाल, भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ० 37-47
2. V.V. Bhatt. Aspects of Economic Change of Policy in India, p. 19
3. मय्यादास की माड़ी, पृ० 73
4. वही, पृ० 199
5. ढाई घर, पृ० 38
6. वही, पृ० 101
7. वही, पृ० 97
8. राजेश्वर सक्सेना, सृजनशील यथार्थ और भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना, पृ० 81
9. मय्यादास की माड़ी, पृ० 33
10. वही, पृ० 199
11. वही, पृ० 203
12. वही, पृ० 202
13. वही, पृ० 204
14. वही, पृ० 205
15. ढाई घर, पृ० 58
16. वही, पृ० 59
17. वही, पृ० 42
18. वही, पृ० 108

व्यक्ति नाम : मानव-जीवन के विविध पहलुओं के प्रतिबिंब

राकेशनारायण द्विवेदी

व्यक्ति नामों में हमें मानव-जीवन के विविध पक्षों का प्रतिबिंब दिखता है। ऐसे कुछ पहलुओं को हम अधोलिखित बिंदुओं में देख सकते हैं—

प्रेम एवं घृणा के स्रोत

नाम किसी धर्म, जाति, संप्रदाय या अन्य तत्त्वों से ही संबद्ध नहीं होते। व्यक्ति-नामों को जानकर हमारे मन में प्रेम और घृणा का भाव भी उत्पन्न होता है। जब हम बुंदेलखंड से संबद्ध गोस्वामी तुलसीदास का नाम सुनते हैं, तो उनके नाम के प्रति हमारे मन में श्रद्धा और सम्मान का भाव जाग्रत हो जाता है। यही नहीं, उनसे संबंधित स्थान भी हमारे लिए तीर्थ-सदृश हो जाते हैं। तुलसीदास का जन्मस्थान राजापुर (चित्रकूट) पावन तीर्थ हो गया है। ओरछानरेश जुझारसिंह के अनुज हरदौल के नाम से संपूर्ण बुंदेलखंड में चबूतरा और मंदिर बन गए हैं। वह यहाँ के लोकदेवता हो गए। ओरछा रामराजा सरकार के नाम से जाना जाता है। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का नाम संपूर्ण विश्व में वीरता और साहस का पर्याय बन गया है। वहीं जुझारसिंह जैसे नाम घृणा के कारक भी बन गए हैं, क्योंकि कथित तौर पर उन्होंने अपने अनुज भ्राता उदार और गुणी हरदौल को जहर देकर मरवाया था। रावतपुरा सरकार सहाव सरकार जैसे नाम प्रेम और आदर के स्रोत हैं।

पीड़ा के स्रोत

कोई व्यक्ति जिसने समाज को क्षति पहुँचाई हो, डाकू हो, आततायी हो, उसके नाम से लोगों को पीड़ाजनक भाव उत्पन्न होने लगते हैं। निर्भयसिंह डाकू, कुसमा नाइन, फूलनदेवी, गब्बरसिंह जैसे नाम लोगों को उनके साथ हुए घटनाक्रमों की पीड़ाजनक याद कराते हैं।

गंभीर एवं अवांछनीय परिणामों के स्रोत

एक व्यक्ति का नाम दूसरे व्यक्ति के नाम से अगर मिलता-जुलता है तो पहले वाले नाम के परिवारीजन नाक-भाँ सिकोड़ते हैं। वे बाद वाले नाम के परिजन से संवाद स्थापित करना भी बंद कर देते हैं। उनके बीच कभी-कभी झगड़ा हो जाता है। ग्रामीण क्षेत्र में एक जगह देखा गया कि अरविंद की पत्नी दूसरे परिवार के अरविंद के पिता से झगड़ा करने लगी कि तुम्हें और कोई नाम नहीं मिला अपने लला का नाम रखने के लिए।

सांप्रदायिक तनाव के स्रोत

एक राजनीतिक दल के कार्यकर्ता के यहाँ विभिन्न संप्रदाय के व्यक्ति उपस्थित थे। एक संप्रदाय के व्यक्ति ने हनुमत नाम के व्यक्ति से कहा, तुम्हें लंगूर बना देंगे और बानर रूप भगवान

का नाम लिया। वहाँ शेष दूसरे समुदाय के व्यक्तियों ने इस पर आपत्ति की। तनाव बढ़ते देख उपस्थित कार्यकर्ताओं ने मामले को शांत कराया। देखा होगा कि राम और कृष्ण नामी परिधानों को देखकर लोग भड़कने लगते हैं।

संकट और संरक्षण के स्रोत

1984 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या के बाद बुंदेलखंड के कुछ शहरों में सिख व्यक्तियों से मारपीट की गई। उन्हें अपनी दुकान और प्रतिष्ठान बंद कर छोड़ने को विवश किया गया। दुकानों में रखा सामान लूट लिया गया। सिखों की पहचान दाढ़ी और पगड़ी देखने भर से हो जाती है। इस आशंका में कि सिखों ने कहीं दाढ़ी, पगड़ी हटा न ली हो, सिख सरदारों का नाम माता-पिता के नाम सहित पूछकर चिह्नित किया गया। हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगे बुंदेलखंड कोटरा, उरई, कालपी, कोंच, कदौरा इत्यादि स्थानों पर हुए। दंगाई व्यक्तियों की पहचान नाम समझकर किया करते हैं। इसके साथ ही इन दंगों के समय ऐसे भी व्यक्ति मिलते हैं जो अन्य संप्रदाय के व्यक्ति को संकट के समय अपने घर में छिपा लेते हैं, जिससे उनकी जान का संकट टल जाए। सन् 1947 में देश विभाजन के समय हुए हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगों में 5 लाख से 8 लाख हिंदू, मुस्लिम तथा सिख मारे गए थे। मंटो और राही मासूम रजा के साहित्य से पता चलता है कि किसी व्यक्ति की पहचान उसके नाम से करते हुए उसकी जान बचती है या ले ली जाती है। डॉ॰ इशितयाक अहमद लिखते हैं, '1947 में पूर्वी पंजाब में मुस्लिम नामधारी व्यक्ति पूरी तरह असुरक्षित थे, पश्चिमी पंजाब में यही स्थिति हिंदुओं के साथ थी।'¹

परेशानी के स्रोत

व्यक्ति-नाम परेशानी का कारण भी बनते हैं। एक शिक्षक 'रजिया फँस गई गुंडन में' और 'मुन्नी बदनाम हुई' जैसे उदाहरण देकर शब्दशक्ति पढ़ा रहे थे। कक्षा में उपस्थित रजिया नाम की लड़की ने इस पर घोर आपत्ति प्रकट की कि आप मेरे नाम का उपहास कर रहे हैं। यहाँ तक कि उसकी आँखों में आँसू भर आए। शिक्षक ने खेद प्रकट किया। इस प्रकरण को उस शिक्षक के विरोधी कुछ अन्य लोगों ने कार्रवाई का मामला बनाना चाहा, पर स्वयं रजिया ने अपने शिक्षक के खिलाफ ऐसा करने को उचित नहीं समझा। वस्तुतः उसे अपने नाम से अरुचि है, जिसके लिए वह अपने माता-पिता को दोषी ठहराती है, किंतु रजिया ही क्या! ऐसी परेशानी किसी भी नाम को लेकर हो सकती है। बुद्धसिंह एक प्रोफेसर के पिता का नाम है, लेकिन वह बेबाकी से इसे बताते और लिखते हैं। मुन्नी तो बड़ा सामान्य और बहुप्रचलित स्त्री नाम है, लेकिन फिल्म के गाने की पंक्ति का हिस्सा बनने के बाद मुन्नी के पुत्र-पुत्री झेंप जाते हैं। नाम की ऐसी ही परेशानी के संबंध में एक हास्य कहानी कही जाती है। एक थे छेदीलाल, इज्जत थी, दौलत थी, शोहरत थी, लेकिन घरवालों ने उनका नाम ऐसा रखा, जिसके चलते वह बहुत परेशान रहते। बेचैन रहते कि यह भी कोई नाम है? भला इतना बड़ा आदमी और नाम छेदीलाल। हद तो तब होती जब उन्हें कुछ लोग चिट्ठी लिखते, नाम की जगह पेन से एक छेद बना देते और आगे लिख देते लाल। इस पर छेदीलाल लाल-पीले हो जाते। एक दिन उन्होंने तय किया कि अब नाम बदल लेंगे। पंडितजी के पास गए, पंडितजी ने बताया कि एक बार नाम पड़ गया तो पड़ गया। नाम बदलोगे तो धर्म भी बदलना पड़ेगा। छेदीलाल नाम बदलने पर आमादा थे। उन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया। कलमा

पढ़कर मौलाना ने कहा कि अबसे आप मुसलमान हो गए। आपका नया नाम होगा—सूराखअली। बेचारे छेदीलाल फिर परेशान। अब भी चिट्ठी वैसे ही आती। लोग नाम की जगह सूराख बना देते, आगे लिखते अली। धर्म बदलने के अभी भी छेदीलाल के पास विकल्प थे। उन्होंने इस बार ईसाई धर्म अपना लिया। पादरी ने चर्च में उन्हें ईसाई बना दिया और कहा अब तुम ईसाई बन गए और अबसे तुम्हारा नाम होगा—‘मिस्टर होल’। धर्म बदला, पर नाम की तकदीर नहीं बदली छेदीलाल की। अब चिट्ठियों में छेद मिस्टर के आगे लगने लगा। लोग मिस्टर लिखते और आगे छेद बना देते। बहरहाल, छेदीलाल हार माननेवाले नहीं थे। कुछ दिनों बाद उन्होंने सिख धर्म अपनाने की ठानी। गुरुद्वारे में पहले ही कह दिया कि भाई मेरा नाम ऐसा रखना, जिसमें कोई छेद, होल, सूराख न हो। तय हो गया। छेदीलाल सिख बन गए। गुरुद्वारे में मत्था टेका, पंथी ने कहा—अब तुम सिख हो गए। तुम्हारा नया नाम होगा—गड्ढासिंह। बचपन में मिले नाम से छेद हटाते-हटाते छेदीलाल गड्ढा तक पहुँच गए। मिलते-जुलते नामों से परेशानी का एक वास्तविक उदाहरण देखिए—कोंच में एक दरोगा ने अभियुक्त की जगह किसी और को पकड़कर रातभर लॉकअप में बंद रखा और अगले दिन को उसका चालान न्यायिक मजिस्ट्रेट के यहाँ भेज दिया। मजिस्ट्रेट ने उसकी जमानत स्वीकार करते हुए जाँच मुकद्मा संख्या 555/91 में संतोष पुत्र गंगाप्रसाद, निवासी गांधीनगर, कोंच को प्रस्तुत किया, जबकि मामले में संतोष पुत्र गंगाप्रसाद, निवासी जवाहरनगर, कोंच अभियुक्त था।

भ्रम के स्रोत

बुंदेलखंड के एक गाँव में बासठ वर्षीय रामगुलाम के पिता का नाम नवाज है। रहीस खाँ की बाइस वर्षीय पुत्री मिम्मी है। अनारवती, नत्थू, सज्जो, मुस्लिम व्यक्ति नाम हैं तो राजो, सरी, सबरानी हिंदू व्यक्ति नाम हैं। इन पंक्तियों को लिखते समय यदि इन नामों की सांप्रदायिक पहचान प्रकट न की जाती तो इनके संप्रदाय के बारे में भ्रम ही बना रहता। ऐसे कई व्यक्ति नाम मिलते हैं, जैसे—कैसर-कैसर (उच्चारण में दोनों नाम कैसर हैं), मुन्ना, मन्नो, भूरे, पप्पू, आजाद, निहाल, रीना, गुड्डी, राजू यह नाम संप्रदाय की सीमा से परे हो गए। बुंदेलखंड में चौधरी जैन समाज के व्यक्ति नाम से पहले लगाते हैं, जबकि अहिरवार (चमार) नाम के बाद में चौधरी लिखते हैं। जाट बुंदेलखंड में कहीं से आकर ही बसे हैं, वह सभी संख्या में सीमित हैं। जाट भी अपने नाम में चौधरी लगाते हैं।

आकर्षण और समृद्धि के स्रोत

पहले कई माता-पिता अपनी बेटी के नाम के आगे रानी, देवी, वती, कुमारी जैसे द्वितीय पद जोड़ते थे। पहले पद में भी स्त्री नामों में अर्थगत समृद्धि और आकर्षण दिखाई देता है, हीरादेवी, राजरानी, गिरजारानी, चंद्रकुमारी, फूलारानी, राजेश्वरी जैसे स्त्री नाम देखे जा सकते हैं। पुरुष नामों में भी राजेंद्र भूषण, सुरेंद्रसिंह, लोकेशकुमार, नवनीतकुमार इत्यादि समृद्धिसूचक और आकर्षक शब्द मिलते हैं।

निवासीय पहचान के स्रोत

व्यक्ति जब अपनी पहचान बढ़ा लेता है, तब वह चाहता है कि उसके साथ उसके निवास क्षेत्र का भी यश हो। यह बात बुंदेलखंड क्षेत्र में हाल के वर्षों में दिखने लगी है। अपने गाँव या

शहर का नाम प्रायः कव्वाल या उर्दू शायर ही रखा करते थे, किंतु अब इसकी व्याप्ति बढ़ गई है। दक्षिण के राज्यों में अपने नाम के साथ स्थान का नाम जोड़ने की परंपरा प्राचीनकाल से चली आ रही है। सर्वपल्ली राधाकृष्णन नाम में पहला पद राधाकृष्णन का पूर्वज स्थान है, जो आंध्र प्रदेश राज्य में स्थित है। यद्यपि उनका जन्म तमिलनाडु राज्य के त्रुटानी स्थान में हुआ। ए०पी०जे० अब्दुल कलाम में ए० यानि अपुर स्थान का नाम है। केरल में भी ऐसे ही व्यक्ति-नाम मिलते हैं। के० आर० नारायणन में के० यानि कोचरिल उनके स्थान का नाम है। कर्नाटक के एच०डी० देवगौड़ा में हरदनहल्ली उनके गाँव का नाम जुड़ा है। पी०वी० नरसिंहराव में पामुलपति नरसिंहराव का गाँव है।

बुंदेलखंड में यह पद्धति अब कहीं-कहीं देखी जा रही है। बृजलाल खाबरी में खाबरी उनके गाँव का नाम जुड़ा है। गिल्लू भिटारी में भिटारी गाँव का नाम है। रवींद्र हरौली, सुरेश इकहरा, जयप्रकाश जालौनी, जहीर ललितपुरी, मदन डकोर, मुखिया गाँती जैसे नाम स्थान-नामों को जोड़ते हुए रखे गए हैं। स्थानों का नाम जोड़ने के साथ व्यक्ति अपने जाति नाम को प्रच्छन्न रख लेता है।

मातृभाषा पहचान के स्रोत

बुंदेलखंड में बुंदेली भाषा का प्रयोग होता है, पर इसकी बहुत सी उपबोलिया हैं। कुंद्री बाँदा के दक्षिणी भाग में केन के किनारे, खटोला छतरपुर, टीकमगढ़, दमोह एवं पन्ना जिलों में, तिरहारी जालौन के उत्तरी भाग में यमुना नदी के किनारे, निभहा जालौन के पूर्वी क्षेत्र और यमुना के दक्षिणी तट की ओर, पवारी दतिया, शिवपुरी और गुना जिले में, बनाफरी मुख्यतः जालौन के पश्चिमी भाग बाँदा तथा महोबा एवं आंशिक रूप से मध्य प्रदेश के पन्ना तथा छतरपुर जिलों में बोली जाती है। भदावरी भिंड, मुरैना, ग्वालियर तथा झाँसी जिले में, भदावरी का एक रूप तोमरगढ़ी कहलाता है, लुधांती मुख्यतः राठ (हमीरपुर) जालौन एवं छतरपुर के लोधीबहुल क्षेत्रों में, लुधांती बोली का एक और रूप राठौरी कहा जाता है। लुधांती के विच्छिन्न रूप नरसिंहपुर, बालाघाट, छिंदवाड़ा तथा महाराष्ट्र के भंडारा एवं नागपुर जिलों में पाए जाते हैं, सागरमाडु सागर जिले एवं आस-पास के क्षेत्रों में तथा मिश्रित बुंदेली छिंदवाड़ा, बालाघाट, मुरैना, शिवपुरी, विदिशा, रायसेन, भोपाल, होशंगाबाद एवं गुना के क्षेत्रों में बोली जाती है।

बुंदेलखंड के प्रस्तावित राज्य में उत्तर प्रदेश के झाँसी, ललितपुर, जालौन, बाँदा, चित्रकूट, महोबा व हमीरपुर तथा मध्य प्रदेश के सागर, पन्ना, दमोह, छतरपुर, टीकमगढ़ तथा दतिया जिला सम्मिलित है। इन जिलों में संपूर्ण रूप से बुंदेली संस्कृति विद्यमान है, अन्य सीमावर्ती जिलों में बुंदेली का प्रभाव है, पर वहाँ अन्य भाषा बोली और संस्कृति का प्रभाव अधिक है। इस नाते उसमें विवाद बन सकता है। राठ तथा अन्य क्षेत्रों के कुछ व्यक्ति अपने नाम के आगे लोध, लोधा, लोधी लिखते हैं। उससे उनके बुंदेली के लोधांती रूप की पहचान हो जाती है। महोबा तथा जालौन के कुछ क्षत्रिय जाति के व्यक्ति बनाफर अपने नाम में जोड़ते हैं। उससे उनके उस बोली रूप का भी परिचय मिलता है। भदौरिया उपनाम भदावरी बोली रूप को, तो तोमर तोमरगढ़ी बोली रूप को प्रकट करता है। बोली रूप और जाति-विभेदक परस्पर बोधक भी है अर्थात् जाति के नाम से बोली और बोली के नाम से जाति का संबोध होता है।

क्षेत्रीय पहचान के स्रोत

मातृभाषा पहचान के स्रोत के अंतर्गत कहा जा चुका है कि व्यक्ति की मातृभाषा की पहचान

भी व्यक्ति नामों से होती है। बोलियों के विविध रूपों से व्यक्ति की क्षेत्रीय पहचान भी संभव हो जाती है। क्षेत्रीय पहचान के अन्य स्रोत भी हैं, जैसे कान्यकुब्ज और सरयूपारीण ब्राह्मण झाँसी से आगे मध्य प्रदेश में मूलरूप में नहीं मिलते। इसी तरह चित्रकूट और बाँदा जनपदों में मुख्यतः सरयूपारीण और कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का निवास है, यहाँ जुझौतिया ब्राह्मण नहीं मिलते। सागर और झाँसी जनपदों में महाराष्ट्री ब्राह्मणों का निवास है। बहुत से सनाढ्य ब्राह्मणों के आस्पद 'इया' प्रत्ययांत मिलते हैं जैसे समाधिया, चाचोंदिया, चंसौलिया आदि। सनाढ्य ब्राह्मणों का क्षेत्र जालौन झाँसी, महोबा और ललितपुर मुख्य रूप से है। निरंजन कुर्मी जाति के व्यक्तियों का अंतिम नाम पद है, किंतु कानपुर के आसपास के कुर्मी कन्नौजिया, कटियार इत्यादि लिखते हैं। बुंदेलखंड के कुर्मी निरंजन और सरदार बल्लभभाई पटेल के प्रभाव से पटेल लिखते हैं। राजपूत राजस्थान में क्षत्रिय जाति के व्यक्ति लिखते हैं, जबकि बुंदेलखंड में लोधी जाति के व्यक्ति राजपूत लिखते हैं। कुशवाहा काछी जाति के व्यक्ति हैं, जबकि इस जाति के व्यक्ति अन्यत्र कुशवाहा नहीं, अपितु मौर्य और शाक्य इत्यादि लिखते हैं। बुंदेलखंड में पासी जाति बहुत कम है। यहाँ यह अहिरवार और जाटव अधिक लिखते हैं। मराठा व्यक्ति नाम बुंदेलखंड के उन्हीं क्षेत्रों में मिलते हैं जहाँ मराठा शासकों का राज्य रहा है। जालौन जिला में परमार क्षत्रिय नहीं मिलते। इसी तरह चौरासी गाँव के ठाकुर जालौन के अतिरिक्त बुंदेलखंड में कहीं और नहीं मिलते। सौर या सहरिया आदिवासी मुख्यतः ललितपुर जिले में ही पाए जाते हैं। उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड में यह अन्यत्र नहीं मिलते। ढाँढी जाति जालौन जिले में मिलती है। इस जाति के व्यक्ति राजस्थान के पाली से पालीवालों के साथ या उनके प्रभाव से यहाँ आ गए। पालीवाल ब्राह्मण मुख्यतः जालौन, हमीरपुर और बाँदा जिलों में मिलते हैं। जैन समाज बुंदेलखंड के जालौन, हमीरपुर, महोबा, बाँदा, चित्रकूट में नहीं है, बुंदेलखंड के शेष जिलों में यह बहुत है। जैन समाज के व्यक्ति ललितपुर जनपद में सर्वाधिक हैं। जिले की समूची आबादी में जैन 2 प्रतिशत से अधिक हैं। सामान्यतः मोगिया जाति ललितपुर जनपद में मिलती है। बेड़िया और बेड़नी जो बुंदेलखंड के प्रसिद्ध लोकनृत्य राई के विशेषज्ञ हैं, वे ललितपुर जनपद में निवास करते हैं। फ्रांसीसी जॉन वेप्टिस्ट के वंशज ललितपुर जनपद के ग्राम जरया में रहते आए हैं। पपौरा जैन टीकमगढ़ जिले के पपौरा क्षेत्र के व्यक्ति हैं। वेत्रवती या बेतवा पर जो व्यक्ति नाम मिलते हैं, उनसे उन व्यक्तियों की बुंदेलखंडी पहचान अभिज्ञात होती है। बेतवा बुंदेलखंड की प्रमुख नदी है। इसे बुंदेलखंड की गंगा कहा गया है। झाँसी के आस-पास रानी लक्ष्मीबाई। पन्ना के आस-पास जुगलकिशोर और महामति प्राणनाथ, टीकमगढ़ एवं छतरपुर में कुंडेश्वर और जटाशंकर पर बहुत से नाम वहाँ की स्थानीयता को शामिल करते हैं। मैहर की शारदा, दतिया की रतनगढ़ माता, ओरछा के रामराजा, अछरू माता, छतरपुर के राजा छत्रसाल, दतिया की पीतांबरा माता को यहाँ के व्यक्ति कई रूपों में नाम देकर सुरक्षित किए हुए हैं।

वंश-परंपरा के स्रोत

बुंदेलखंड में व्यक्ति अपनी राजपरंपरा अथवा जो वंश जिस कार्य के कारण ख्याति प्राप्त हुआ, उसके नामों को व्यक्ति नाम के रूप में जीवित बनाए हुए हैं। असलम आतिशबाज लिखते हैं। उनके बाबा/परबाबा ने राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह से उम्दा अतिशबाज होने का प्रशस्ति पत्र पाया था। बुंदेला राजाओं के वंशज बुंदेला, गहरवार वंशी गहरवार लिखते हैं। ओरछा के महाराजा

मधुकरशाह के वंशज अपने तीन पीढ़ियों के नामों को पुनरावर्तित करते हैं। उनके वंशज अभी ओरछा नरेश या ओरछेश लिखते हैं। बुंदेलखंड अंचल से स्नेह और समर्पण के कारण न केवल बुंदेला क्षत्रिय, अपितु अन्य व्यक्ति भी बुंदेला लिखते हैं। शिवानंद मिश्र 'बुंदेला' अपना कवि नाम लिखते रहे। क्षत्रिय परिवार के व्यक्ति परिवार पुच्छ के रूप में 'राजे' लिख रहे हैं। यशोधरा राजे, उषा राजे सिंधिया परिवार की स्त्रियाँ अभी लिख रही हैं।

व्यक्तिनामों की सामाजिक-सांस्कृतिक प्रासंगिकता

ऊपर सामाजिक-सांस्कृतिक बारीकियों एवं उनके विविधायामी स्रोत देखकर स्पष्ट होता है कि बुंदेलखंड में व्यक्ति-नाम हिंदू समाज ही नहीं, सारे भारतीय समाज के विभिन्न परिवर्तनों और प्रभावों के साक्षी हैं। व्यक्ति-नामों में सामाजिक और धार्मिक बारीकियाँ ही परिलक्षित नहीं होतीं, वरन् उनमें हमें व्यक्तियों की आशा-आकांक्षा, अतीत-वर्तमान, प्रेम-घृणा, समृद्धि-आकर्षण-विकर्षण दिखाई देते हैं। विभिन्न सामाजिक स्तर और व्यक्तियों की मानसिक दशाओं को व्यक्ति नाम सामने रखते हैं। उदाहरण के लिए कोई माता-पिता अपने जातक नाम वीर, बहादुर, विक्रम, शौर्य, रिपुदमन, विजय, दिग्विजय, यशवंत रखता है, तो उसकी आशा-आकांक्षा ही ऐसे नामों में झाँकती है। भीम, अर्जुन, अभिमन्यु, कर्ण, राम, लक्ष्मण, रघुवीर कृष्ण जैसे नामों में व्यक्तियों का अतीत और वर्तमान बोलता है।

हमने देखा है कि लाड़-दुलार-प्यार एवं भय-आशंका में बच्चों के विकृत और कर्णकटु नाम रखे जाते हैं, वही उपेक्षा और हिकारत भी व्यक्ति-नामों में गोचरित हुई है। जहाँ व्यक्ति अभिजातवर्ग के हुए उनके जातकों के नामों में सौंदर्य, आकर्षण और सुरुचिसंपन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। जो किसान-मजदूर और श्रमिकवर्ग है उसके नामों में तद्भवता है, तत्सम शब्दों को उनकी मुख ध्वनियों से रगड़ खाते शब्द अपनी तरह का बना देते हैं। वे कृष्ण नहीं बोलते तो क्या उनके 'किसन' में कम लाड़-प्यार और आशा-आकांक्षा नहीं है। नामों के माध्यम से हम धर्म, संप्रदाय, जाति, क्षेत्र, बोली की पहचान आसानी से कर लेते हैं। व्यक्ति-नाम हमारी संस्कृति के जीवंत स्मारक हैं, जिनमें हम संबंधित क्षेत्र के इतिहास, राजनीति, भूगोल, नृतत्वशास्त्र, धर्म, अर्थ-व्यापार जैसी गतिविधियों का अक्स देख सकते हैं। देशों पर विदेशी आक्रमण होते हैं। आक्रांता हमारे राज्य और समूचे तंत्र को अपने अधीन कर लेते हैं। यहाँ तक कि स्थानों के नामों को भी बदल देते हैं, पर व्यक्ति-नामों पर विदेशी आक्रांता अपना प्रभाव नहीं डाल पाते। व्यक्तियों की मुख ध्वनियों में वह नाम सुरक्षित रहता है। ब्रिटिश राज-व्यवस्था में हमारे स्थानों के नाम बदल गए, ऐसा परिवर्तन अँग्रेजों की अपनी ध्वनि-व्यवस्था के कारण भी हुआ। किसी भाषा में ध्वनि-परिवर्तन होता ही है, ब्रिटिशकाल में उनकी भाषा अँग्रेजी की ध्वनियों के परिणामस्वरूप कई स्थानों के नामों का उच्चारण बदल गया। कई स्थान-नामों को अब अपनी मूल ध्वनि के अनुरूप रखा जा रहा है जैसे कोलकाता, मुंबई, चेन्नई, पुडुचेरी, बेंगलुरु, गुवाहाटी (गौहाटी) आदि नाम अपने वास्तविक रूप में आ गए हैं। बुंदलेखंड के उरई को अँग्रेजी में ओरई लिखा जाता है, जिसकी स्थानीय ध्वनि व्यवस्था से संगति नहीं बैठती। व्यक्ति-नाम व्यक्ति की मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं, लेकिन उनका कमाया हुआ यश नहीं मरा करता। अतः जो व्यक्ति नाम ऐतिहासिक हैं, उन्हें छोड़ भी दें तो अन्य व्यक्ति-नाम भी भाषा-बोली की ध्वनियों को सुरक्षित करते हुए आगे बढ़ रहे हैं। व्यक्ति

नाम हमारे समकालीन समाज की नामकरण-पद्धति को भी सम्मुख रखते हैं। व्यक्ति अब किन शब्दों को नामों के लिए अपना रहा है। बुंदेलखंड में व्यक्ति अपने जाति-विभेदक नामों को त्यागकर स्थान-नाम जोड़ने लगे हैं। जाति-व्यवस्था के कारण अनिवार्य रहे विभेदक तत्त्वों को त्याज्य समझा जाने लगा है। नई पीढ़ी जाति, धर्म और क्षेत्र की संकीर्णताओं से ऊपर उठने लगी है। अगर वह इन्हें मानती भी है तो किसी को हेय समझने के लिए नहीं, वरन् अपनी अस्मिता मात्र के लिए। सुरुचिपूर्ण नामों का आकर्षण अब सभी जातियों के व्यक्तियों के लिए होने लगा है। उपेक्षा और हिकारत के नामों को अब व्यक्ति नापसंद करने लगे हैं। अंधविश्वास के कारण कर्णकटु और भद्दे नामों से व्यक्ति दूरी रखने लगे हैं। पारंपरिक रूप में व्यक्ति की पहचान उदारीकरण के कारण तिरोहित हो गई है, इसलिए वह उस पहचान को नए सिरे से स्थापित करने में लगा है। बुंदेलखंड की स्त्रियाँ भी अब अपनी पुरानी पहचान के साथ नई पहचान को जोड़ रही हैं या फिर उन्होंने दोनों पहचानों को अनावश्यक मान लिया है। अब वे श्रीमती और सुश्री के भेद से भी बाहर आने लगी हैं कि आखिर उनकी वैवाहिक स्थिति का पता होना क्यों आवश्यक है! विविध क्षेत्रों में हो रहे समकालीन परिवर्तनों से व्यक्ति नाम अछूते नहीं हैं।

245 शब्दार्णव, नया पटेलनगर
कोंच रोड, उरई (जालौन) उ०प्र०
मो० 9236114604

विश्वकल्याण एवं भारतीय ज्ञान-परंपरा

डॉ० कविता भट्ट

एफ०डी०सी० पी०एम०एम०एम०एन०एम०टी०टी०

हे०न०ब० गढ़वाल विश्वविद्यालय

श्रीनगर (गढ़वाल) उत्तराखंड

वैज्ञानिक विकास के चरम की वर्तमान सदी भौतिकता की पराकाष्ठा पर है। ऐसा होने से वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप मानव का जीवन भौतिक रूप से सरल किंतु नैतिक तथा आध्यात्मिक रूप से निम्नतम अवस्था में जाने के कारण जटिल हो गया। मानव मानसिक एवं नैतिक समस्याओं के पाश में निबद्ध है, जिससे वैश्विक परिदृश्य में अनेक सामाजिक समस्याएँ आज चिंता का विषय हैं। आज मानव-समाज पर आतंकवाद, युद्ध, अशांति, असुरक्षा, वैमनस्य, अपराध, चोरी, हिंसा, वर्गसंघर्ष, विभेद, शोषण, अनाचार, बलात्कार एवं अत्याचार आदि जैसे संकट हैं। इनके मूल में मानव की असीम भौतिक इच्छाएँ तथा उसका चारित्रिक पतन है। आज पुनः उन मूल्यों के अनुगमन की आवश्यकता है, जिनके द्वारा भारतीय ज्ञान-परंपरा में विश्वकल्याण का पथ प्रशस्त किया गया है। आज पुनः 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः।' जैसी मंगलकामनाओं से युक्त भारतीय ज्ञान-परंपरा को समझने एवं उसमें निहित नैतिक मूल्यों को अपनाने से ही विश्वकल्याण संभव है।

उल्लेखनीय है कि भारतीय ज्ञान-परंपरा भारतीय दर्शन में ही समाहित है। जब पाश्चात्य संस्कृति राजनीति, समाज, कला, इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान आदि विषयों का प्रथम सोपान विकसित कर रही थी, उससे सदियों पूर्व ही भारतीय सभ्यता उपनिषदों के द्वारा 'ब्रह्मविद्या नित्य-विषय' ज्ञान को अन्य सभी विषयों के आधारस्वरूप प्रस्तुत कर चुकी थी। डॉ० राधाकृष्णन् ने उल्लेख किया है कि कौटिल्य का कथन है, 'दर्शनशास्त्र (आन्विकी-दर्शन) अन्य सब विषयों के लिए प्रदीप का कार्य करता है। यह समस्त कार्यों का साधन और समस्त कर्तव्यकर्मों का मार्गदर्शक है।'¹

इसको तीन प्रकार से समझना आवश्यक है, प्रथम-भारतीय ज्ञान-परंपरा के आधारभूत तथ्य। द्वितीय-भारतीय ज्ञान-परंपरा की ज्ञान-मीमांसा एवं नीति-मीमांसा तथा तृतीय इसी आधार पर विश्वकल्याण हेतु नैतिक उन्नयन-संबंधी सार्वभौम नियम एवं उनकी वर्तमान प्रासंगिकता। हम उपर्युक्त तीनों विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए भारतीय ज्ञान-परंपरा को विश्वकल्याण के संदर्भ में स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम भाग

भारतीय ज्ञान परंपरा के आधारभूत तथ्य

भारतीय ज्ञान-परंपरा यहाँ के दर्शन में समाहित है। इसलिए पहले दर्शन-संबंधी सामान्य तथ्यों को समझने का प्रयास करेंगे। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् यह वह प्रक्रिया, जिसके अंतर्गत देखा जाए अर्थात् विश्लेषण, चिंतन या मनन किया जाए। चिंतन की एक संज्ञा 'मीमांसा' भी है। मीमांसा के अर्थ हैं—गहन विचार, परीक्षण एवं अनुसंधान आदि² इस दृष्टि से ज्ञान-परंपरा या दार्शनिक चिंतन तीन अनुभागों में वर्गीकृत है—तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमीमांसा। इनके क्रमशः सत्, प्रकाश एवं अमरत्व ये तीन लक्ष्य के रूप में निरूपित किए गए हैं। सत् या तत्त्व सृष्टि का मूल कारण; ज्ञान या प्रकाश उस सत् को जानने की प्रक्रिया तथा अमरत्व या परमशुभ हेतु निर्धारित आचरणगत नियम या नीति; ये तीनों ही भारतीय ज्ञान-परंपरा का सार हैं। भारतीय वाङ्मय में मानव-जीवन के भी ये तीन लक्ष्य ही निरूपित हैं। भाव यह है कि ज्ञान एवं नीति के द्वारा व्यक्ति सत् की खोज करे; यही भारतीय ज्ञान-परंपरा में निर्देशित है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय चित् या चेतना की उच्चतम अवस्था तक उन्नति के पथ का समर्थक रहा है। कहा भी गया है 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् जो मुक्ति का पथ प्रशस्त करे, वही विद्या या ज्ञान है। ज्ञान मात्र भौतिक जीवन को सुखी बनाने हेतु नहीं, अपितु वह है जो शरीर में निबद्ध चेतना को ब्रह्मांडीय चेतना के स्तर पर प्रतिष्ठापित करे। भारतीय ज्ञान-परंपरा के सार माने जानेवाले उपनिषदों में से एक मुंडक उपनिषद् में ज्ञान का स्पष्ट एवं उत्कृष्ट वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण इतना उच्चस्तरीय है। कि संसार की किसी भी सभ्यता में ऐसा विवेचन प्राप्त नहीं। इस उपनिषद् में मनुष्य-जीवन के समस्त ज्ञान को विद्या कहा गया है। इसे दो भागों में विभाजित किया गया है—अपराविद्या एवं पराविद्या। मुंडक उपनिषद् में एक प्रसंग है कि शौनक ऋषि के पूछने पर महर्षि अंगिरा बोले कि मनुष्य के लिए जानने योग्य दो विद्याएँ हैं—अपराविद्या एवं पराविद्या³ जिसके द्वारा इस लोक तथा परलोक-संबंधी भोगों की स्थिति, रचना तथा नानाविधि उनकी प्राप्ति हेतु साधनों का ज्ञान प्राप्त किया जाए, वह सभी प्रकार का ज्ञान अपराविद्या में आता है।⁴ पराविद्या-ब्रह्मविद्या या अध्यात्मविद्या वह है, जिसमें उपर्युक्त सभी लौकिक ज्ञान के स्थान पर ब्रह्म अर्थात् जगत् के मूल कारण का ज्ञान हो। वस्तुतः पराविद्या एवं अपराविद्या का वर्गीकरण आध्यात्मिक ज्ञान एवं व्यावहारिक ज्ञान के रूप में किया गया है। इसे इसप्रकार समझा जा सकता है कि गणित एवं तकनीक के ज्ञान द्वारा व्यक्ति भौतिक सुख-सुविधा के साधनों का आविष्कार तो कर सकता है, किंतु भौतिक सुख-सुविधाओं द्वारा आत्मिक शांति प्राप्त नहीं होती। आत्मिक शांति की प्राप्ति हेतु आवश्यक है—व्यावहारिक जीवन को सुव्यवस्थित करते हुए आत्मज्ञान हेतु निरंतर प्रयास करना। इस आवश्यकता का प्रतिपादन उपनिषद् साहित्य में भी एक प्रार्थना के माध्यम से किया गया है, जिसमें कहा गया है कि हे परमात्मा! हमें असत् से सत् की ओर ले चलो, अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो एवं मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।⁵—बृहदारण्यक उपनिषद्, 1/3: 27 (असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतम् गमय।)

ज्ञान-परंपरा जिसमें से सत् तत्त्वमीमांसीय प्रत्यय है। तत्त्वमीमांसा भारतीय ज्ञान-परंपरा या दर्शन की वह शाखा है, जिसमें सृष्टि के मूल कारण पर विचार किया जाए। इसका मूल कारण

‘तत्त्व’ है, जो दो पदों से निष्पन्न है—तत् एवं त्व अर्थात् तुम वही हो। वही का तात्पर्य जिससे समस्त सृष्टि का निर्माण हुआ है। ज्ञान एवं आचारगत उन्नयन ही व्यक्ति की उच्चतम चेतना को ब्रह्मांडीय चेतना में समाहित करके मूलतत्त्व का बोध करवाने के साधन हैं। तत्त्व-संबंधी अनेक प्रकार के मत हैं। एक, दो, तीन तथा अनेक तत्त्वों को सृष्टि का मूल कारण माननेवाले दर्शन क्रमशः एकतत्त्ववादी, द्वैतवादी, त्रैतवादी एवं बहुतत्त्ववादी कहलाते हैं। इसप्रकार कुछ दर्शन मात्र चेतन को, कुछ मात्र जड़ को एवं कुछ दोनों को तथा कुछ इनके अतिरिक्त अन्यो को भी मूल तत्त्व मानते हैं। भारतीय परंपरा में माना गया है कि तत्त्व ही सत् है। इस सत् को खोजना ही जीवन का उद्देश्य है। इस सत् की खोज ज्ञान के द्वारा ही संभव है तथा इसके फलस्वरूप ही आनंद की प्राप्ति होती है। इस सत् को खोजने की ज्ञान-प्रक्रिया एवं उसका सुंदर विवेचन ही भारतीय वाङ्मय की सुंदरता है। संपूर्ण वाङ्मय इस ज्ञान-प्रक्रिया को सत् तक पहुँचने के साधन के रूप में विवेचित करता है।

ज्ञान-प्रक्रिया द्वारा सत् को प्राप्त करने हेतु उसे ज्ञान के साथ ही नैतिक नियमों के पालन की आवश्यकता भी होती है। मानव-समाज की समरसता, प्रेमपूर्णता, सुदृढ़ता एवं एकीभावयुक्त रूपरेखा तैयार करना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही ‘भ्रातरा मानवे सर्वा, एकेव मानुशीः जातिः’ का आदर्श चरितार्थ हो सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थ वातावरण प्रदान करने हेतु भारतीय वाङ्मय में आचरणगत नियमों का निर्देश है (नीतिमीमांसा के अंतर्गत रखे गए हैं) जो समस्त मानव समाज हेतु उपयोगी हैं। वस्तुतः भारतीय ज्ञान-परंपरा का सार ज्ञान-प्राप्ति तथा नीतिगत नियमों को जानकर उनका अनुपालन करते हुए सत् या तत्त्व बोध तथा इसकी प्राप्ति ही है।

अब हम भारतीय ज्ञान-परंपरा एवं उसमें ज्ञान तथा नीति को समझने का प्रयास करेंगे। तत्पश्चात् विश्व-कल्याण हेतु भारतीय ज्ञान-परंपरा द्वारा प्रदत्त नीतिगत आचरण के साररूप सार्वभौम नैतिक नियमों का उनकी प्रासंगिकता के साथ संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण करेंगे।

द्वितीय भाग

भारतीय ज्ञान मीमांसा एवं ज्ञान-परंपरा

भारतीय ज्ञान-परंपरा को समझने हेतु पहले ज्ञानमीमांसा एवं ज्ञान को समझना होगा। विभिन्न इंद्रियों के अनुभवों तथा अंतःप्रज्ञा या बुद्धि के तर्कों आदि के आधार पर किसी प्रत्यय अथवा वस्तु का प्रमाणीकरण ज्ञान से होता है। इस प्रकार ज्ञानमीमांसा⁶ में ज्ञान के उद्भव, स्वरूप, प्रमाणीकरण तथा सीमा आदि पर चर्चा या विचार किया जाता है। इसके अंतर्गत वे समस्त ज्ञान के साधन व प्रक्रियाएँ आती हैं जिससे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में सहयोग प्राप्त हो। ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान तीन अवयवों के द्वारा समग्र ज्ञान प्रक्रिया संपन्न होती है। इन तीनों को सम्मिलित रूप से त्रिपुटीसंवित् कहा जाता है। ज्ञानमीमांसा में इन तीनों को ही विवेचन किया जाता है। आत्मा ही ज्ञाता होती है। इसके लिए प्रमाता तथा विषयी जैसी संज्ञाएँ भी उपयोग में लाई जाती हैं। जड़-चेतन का विभेद करते हुए विशुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानना ही तत्त्वज्ञान कहलाता है। भारतीय दर्शन के अनुसार, ‘आत्मा, शरीर, इंद्रियाँ, अर्थ, बुद्धि-ज्ञान-उपलब्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेतभाव, फल, दुःख एवं अपवर्ग—ये 12 ज्ञेय या प्रमेय या साध्य या ज्ञान के विषय हैं।’⁷

ज्ञेय या प्रमेय हेतु प्रमाण साधनस्वरूप हैं। सामान्य रूप से माना जाता है कि ज्ञान इंद्रियों से

प्राप्त होता है किंतु भारतीय वाङ्मय मानता है कि इंद्रियाँ तो मात्र वातावरण की सूचनाओं को ग्रहण करती हैं तथा ये सूचनाएँ मन के द्वारा संवेदित होती हैं। तदुपरांत व्यक्ति के भीतर उपस्थित आत्मा या चेतना (जो कि ब्रह्मांडीय चेतना का एक अंश है) ही ज्ञान का वास्तविक ज्ञाता या प्रमाता होता है। 'इसकी चार अवस्थाएँ हैं—जागृत, स्वप्न, सुशुप्ति एवं तुरीया'⁸ प्रमाता या विषयी के रूप में शरीरी आत्मा, तैजस आत्मा, प्रज्ञारूप आत्मा तथा तुरीयावस्था स्थित आत्मा के प्रमेय क्रमशः ब्रह्मांड-व्यवस्थित विश्व, विश्व की आत्मा, आत्मप्रज्ञ-ईश्वर तथा आनंद- ब्रह्म हैं।⁹ तुरीय विशुद्ध चैतन्य की अवस्था है जिसका संबंध पराज्ञान से है। इसके अतिरिक्त तीन अवस्थाएँ—व्यावहारिक या भौतिक जीवन से जुड़ी हैं। जितने भी इस आत्मा के विषय होते हैं लौकिक या आध्यात्मिक सभी प्रमेय होते हैं। इन प्रमेयों की सिद्धि हेतु जो प्रक्रिया अपनाई जाती है—वह है प्रमा। अशोककुमार वर्मा ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'प्रमेय जैसा हो वैसा ही दिखाई दे तो उसे प्रमा या यथार्थ ज्ञान कहा जाता है जबकि यदि वह वैसा न दिखाई दे अर्थात् उसमें कोई भ्रम हो तो उसे अप्रमा या अयथार्थ ज्ञान कहा जाता है।'¹⁰ 'जो प्रमा का कारण हो वही प्रमाण है'¹¹ जो ज्ञान के साधन हैं। सामान्य रूप से तीन मुख्य प्रमाण माने गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम।¹² इंद्रियों की क्रियाशीलता से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। जब कोई पदार्थ, जैसे कि एक बड़ा घड़ा दृष्टिपथ में आ जाता है तो बुद्धि में इसप्रकार का परिवर्तन होता है कि वह घड़े का रूप धारण कर लेती है और आत्मा घड़े के अस्तित्व से अभिज्ञ हो जाता है। प्रत्यक्ष दो प्रकार के हैं—निर्विकल्प एवं सविकल्प। अनुमान दो प्रकार का बताया गया है—विध्यात्मक (वीत) और निषेधात्मक (अवीत) तथा शब्द में वेद व आप्तवचन आते हैं। वीत अनुमान के दो—सामान्यतः दृष्ट एवं पूर्ववत् तथा अवीत अनुमान का एक ही प्रकार शेषवत् बताया है।¹²

यों तो भारतीय वाङ्मय में प्रमाणों की संख्या पर भी पर्याप्त मतभेद है किंतु प्रत्यक्ष प्रमाण को सभी मानते हैं। अनुमान को मात्र चार्वाक परंपरा में स्वीकार नहीं किया अन्य ने किया है। इसके अतिरिक्त अन्य दर्शनों में अर्थापत्ति तथा उपमान आदि प्रमाण भी स्वीकार किए गए हैं। भारतीय ज्ञान-परंपरा में मुख्य निर्धारक है—शब्द प्रमाण। शब्द का अर्थ है—वेद या आगम तथा आप्तपुरुष। वेद भारतीय ज्ञान-परंपरा के प्रारंभिक ज्ञान स्रोत हैं और इनके साथ ही अपराविद्या में शिक्षा, व्याकरण, छंद, ज्योतिष एवं निरुक्त समाहित हैं। मानव-सभ्यता के प्रारंभिककाल में इंद्रिय-सुख के अतिरिक्त चिंतन या मनन भी मानव का स्वभाव है। यहीं से दर्शन की नींव पड़ी। तत्त्व, ज्ञान एवं नीति जैसे अनुभागों में व्यवस्थित यह चिंतन अत्यंत उच्चकोटि का था। वेद संख्या में चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद। इनमें अधिकांशतः प्रकृति, दुःख से बचने के लिए प्रकृति की शक्तियों की उपासना, मनुष्य के अच्छे आचरण या व्यवहार को चिंतन का मुख्य विषय रखा गया तथा कल्याण हेतु मार्ग खोजे गए। ऐसा माना जाने लगा कि संसार की सभी व्यवस्थाओं को एक सर्वशक्तिमान सत्ता नियंत्रित करती है। इसके लिए किसी अज्ञात शक्ति से प्रार्थनाएँ भी की जाने लगीं। संक्षेप में कहा जाए तो वेद तत्त्व, ज्ञान एवं नीति के पवित्र संगम हैं।

वेदों या शब्द प्रमाण के आधार पर ही भारतीय ज्ञान-परंपरा का वर्गीकरण दो भागों में किया गया—वेदों में विश्वास करने वाले अर्थात् आस्तिक एवं इनमें विश्वास न करनेवाले अर्थात् नास्तिक। आस्तिक वाले अधिक थे और इन्होंने वेदों की विचारधारा को आगे बढ़ाने का काम किया। महाकाव्य, पुराण तथा उपनिषद् जैसी ज्ञान-परंपराएँ वेदों से ही निःसृत हैं। यह चिंतन धारा

आगे बढ़ी और इनके साररूप में उपनिषद् दर्शन निःसृत हुआ। उपनिषदों की संख्या एक सौ आठ है जिनमें से ग्यारह उपनिषद् (प्रश्न, कठ, केन, मुंडक, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, ईश, ईशवास्य, मांडूक्य, तैत्तिरीय तथा वृहदारण्यक) प्रमुख हैं। उपनिषद् का अर्थ होता है—ज्ञान प्राप्त करने हेतु गुरु के समीप बैठना। ऐसा माना गया कि 'ज्ञानेन मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति से ही मुक्ति संभव है। मुक्ति का अर्थ है—व्यक्ति भौतिक सुख एवं दुःख के भाव से मुक्त होकर आत्मिक आनंद को परमशुभ के रूप में प्राप्त करे। भारतीय ज्ञान-परंपरा मानती है कि मुक्ति एकमात्र मार्ग है जिससे कि व्यक्ति दुःख के सभी कारणों से निवृत्त हो सकता है। आगे चलकर इनका सार आस्तिक परंपरा के षड्दर्शन के रूप में प्रस्फुटित हुआ। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदांत षड्दर्शन कहलाते हैं। चार्वाक, जैन एवं बौद्ध नास्तिक दर्शन हैं। साथ ही उल्लेखनीय है कि श्रीमद्भगवद्गीता को तो वेद और उपनिषदों का सार माना जाता है। यह गंथ इतना श्रेष्ठ है कि इसके पढ़ने एवं अनुकरण करने से व्यक्ति जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान खोज सकता है। उल्लेखनीय है कि नास्तिक विचारधारा वाले दर्शन शब्द को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं करते किंतु किसी-न-किसी रूप में इनसे प्रभावित होने के कारण सभी भारतीय दर्शन शाखाएँ (चार्वाक दर्शन को छोड़कर) विश्वकल्याण हेतु नैतिक उन्नयन को आवश्यक मानते हैं। बौद्ध एवं जैनदर्शन भी विश्वकल्याण हेतु आचारगत नियमों का निर्देश देते हैं। कालांतर में ये धर्मों के रूप में भी प्रतिष्ठापित हुए जिनका प्रसार विश्व के विभिन्न भू-भागों में हुआ।

भारतीय ज्ञानपरंपरा में विश्वकल्याण हेतु निर्देशित इन नैतिक नियमों को समझने हेतु अब हम मुख्य आचारगत नियमों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

तृतीय भाग

विश्व-कल्याण हेतु भारतीय ज्ञान परंपरा प्रदत्तसार्वभौम नियम एवं उनकी वर्तमान प्रासंगिकता

'नी' धातु एवं क्तिन् प्रत्यय के सम्मिलन से नीति शब्द का निर्माण हुआ है, जिसके अर्थ हैं—निर्देशन, दिग्दर्शन, प्रबंध, आचरण, व्यवहार, चालचलन, औचित्य एवं शालीनता¹³ इसप्रकार नीतिमीमांसा का अर्थ हुआ जिसके अंतर्गत यथोचित आचरण तथा दिग्दर्शन आदि के नियमों के संबंध में गहनता के साथ विचार किया जाए। आचरण के नियमों के अनुसार चलनेवाला व्यक्ति ही समाज के लिए कल्याणकारी है। व्यक्ति के ऐसे ही आचरण-संबंधी या नीतिमीमांसीय नियमों के मापदंडों को भारतीय नीतिशास्त्र में प्रस्तुत किया गया है। इसमें सर्वांगीणता व सनातनता पर विशेष बल दिया गया है। नीतिशास्त्र को शुभ का विज्ञान भी कहा गया है। शुभ का सामान्य अर्थ है वांछित या जिसकी इच्छा रखी जाए। यहाँ यह भी प्रश्न उठ सकता है कि यदि व्यक्ति को मात्र इंद्रिय सुख ही वांछित है तो क्या वह भी शुभ है। परंतु इसका सीधा उत्तर है कि ऐसा वांछित जो दीर्घकाल तक वांछित हो अर्थात् जिसमें आत्मिक कल्याण भी हो। इसप्रकार मात्र आत्मिक कल्याण को ही परमशुभ कहा जा सकता है। ऐसे नियम या कर्म जो सार्वभौमिक व कल्याणकारी हों वे ही नैतिक कहलाएँगे। नीतिशास्त्र के अंतर्गत व्यक्ति को श्रेयस की ओर प्रवृत्त करने हेतु उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, सकारात्मक-नकारात्मक प्रयासों के निर्णय संबंधी जिन नियमों का

निर्देशन किया गया है, वे सभी नैतिकता की श्रेणी में हैं। नैतिकता जीवन को सुखमय व श्रेष्ठ बनाते हुए पारलौकिक जीवन को भी कृतार्थ करती है ऐसा भारतीय दर्शन का नीतिशास्त्र निर्विवाद रूप से मानता है।

प्राचीनकाल में मानव के अंतःकरण की पवित्रता नैतिकता का सबसे बड़ा कारक थी। भौतिक लक्ष्यों से अधिक व्यक्ति आध्यात्मिक लक्ष्यों पर केंद्रित था। आत्म-संतुष्टि व संयम उसके चरित्र में सम्मिलित थे। विषयों के प्रति उसका झुकाव मात्र जीविकोपार्जन तक ही सीमित था, लालच हेतु नहीं। कालांतर में मानसिक विकृतियों, प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण तथा अत्यंत विषय-वासना ने नैतिकमूल्यों का हास कर मानव को अनैतिकता की ओर अग्रसर कर दिया। वासनाओं को नियंत्रित करने के लिए प्रत्याहार के रूप में योगदर्शन का लक्ष्य आध्यात्मिक कल्याण तो है ही। इसके साथ ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से नैतिक लाभ प्राप्त होना इसका स्वाभाविक लक्षण है।

यदि हम पौराणिक भारतीय मीमांसाओं पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि हमारी सभ्यता का मूल मंत्र समभाव है। इस संबंध में डॉ० राधाकृष्णन् ने ऋग्वेद को उद्धृत करते हुए उल्लेख किया है कि भारतीय दर्शन का सार है—एकेव मानुषी जातिः। भ्रातरो मानवाः सर्वे अर्थात् संपूर्ण मानवजाति एक ही है सभी मनुष्य भाई हैं। इसके विपरीत वैश्विक परिदृश्य में मानव समाज आज परस्पर संघर्ष में ही अपनी शक्ति को स्वाहा कर रहा है।¹⁴ अतःविश्व-कल्याण हेतु भारतीय ज्ञान-परंपरा द्वारा मानव कल्याण हेतु निर्देशित सार्वभौम नैतिक महाव्रतों के अनुपालन की सर्वाधिक आवश्यकता है। इन सार्वभौम नैतिक नियमों को संक्षेप में अग्रांकित विवेचन द्वारा समझा जा सकता है।

अहिंसा (प्राणिमात्र को किसी भी प्रकार से पीड़ा न पहुँचाना), सत्य (मन, कर्म व वचन से सत्याचरण), अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य (कामेच्छा पर नियंत्रण) तथा अपरिग्रह (अनावश्यक द्रव्य का संग्रह न करना) ये ऐसे नैतिक नियम हैं जिनका सभी ने एकमत से समर्थन किया। आज वैश्विक स्तर पर लोकप्रिय भारतीय दर्शन की एक शाखा योगदर्शन ने भी योग का प्रारंभिक अभ्यास इन पाँच नैतिक प्रत्ययों को ही माना है। योगदर्शन ने इन्हें यम की संज्ञा दी है।¹⁵ प्रत्येक जाति, देश, काल एवं प्रत्येक परिस्थिति में बिना व्यवधान के निरंतर इनका पालन करना अनिवार्य है। इसीलिए इन्हें सार्वभौम महाव्रत भी कहा जाता है।¹⁶ सार्वभौम महाव्रत इसलिए कहा गया क्योंकि (इसको धर्म, जाति, राष्ट्र, भूत-वर्तमान-भविष्य और किसी भी परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के लिए पालनीय हैं। इन्हें निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

अहिंसा

यह प्रथम अभ्यास है। अहिंसा शब्द हिंसा पद में 'अ' उपसर्ग लगने से बना है। जिसका अर्थ है हिंसा न करना। इसके अनुसार प्राणिमात्र को मन, कर्म या वचन के द्वारा कृत, कारित या अनुमोदित किसी भी प्रकार से पीड़ा न देना। व्यासभाष्य में विवेचन मिलता है कि पाँचों यमों में से सब प्रकार से सदैव किसी भी प्राणि को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। अहिंसा के पश्चात् वाले सभी यमांग और नियम अहिंसामूलक ही होते हैं। अहिंसा-सिद्धिपरक होने के कारण अहिंसा की निश्पत्ति के लिए ये चारों यम और पाँचों नियम ग्रहण किए जाते हैं। उसी अहिंसा को सर्वथा

निर्मल या निर्दोश करने के लिए ही इनका अभ्यास या अनुष्ठान किया जाता है। वैसे ही कहा भी गया है—वह यह ब्राह्मण जैसे-जैसे अनेक व्रतों का पालन करता जाता है, वैसे-वैसे असावधानी से होनेवाली हिंसा के कारणों से दूर होता हुआ उस अहिंसा को अत्यंत निर्मल करता जाता है।¹⁷

वैश्विक परिदृश्य में अहिंसा का अनुपालन सर्वाधिक प्रासंगिक है। अहिंसाव्रत पालन के भारतीय शास्त्रों में महान फल बताए गए हैं। महर्षि पतंजलि का मानना है कि अहिंसा का पालन करने से वैरभाव या शत्रुता का त्याग होता है।¹⁸ अहिंसा के अनुपालन से व्यक्तित्व में सत्त्वगुण का प्रभाव बढ़ता है। ऐसा होने से क्रोध शांत होता है। इसप्रकार यह दूसरों के लिए ही नहीं, अपने लिए भी अतिमहत्त्वपूर्ण है। इससे तनाव, अशांति, मानसिक द्वंद्व, चिड़चिड़ापन आदि समस्याओं का निदान होता है। अहिंसा का पालन मनसा, वाचा एवं कर्मणा करने पर आतंकवाद, अशांति, वैमनस्य, हिंसा, युद्ध, शोषण तथा वर्ग-संघर्ष आदि समस्त वर्तमान विसंगतियों पर नियंत्रण होना निश्चित है। अहिंसा के उपरांत यम का अगला अभ्यास सत्य है इसे संक्षेप में इसप्रकार समझा जा सकता है।

सत्य

सत्य ही विजयी होता है, झूठ नहीं क्योंकि वह देवयान नामक मार्ग सत्य से परिपूर्ण है जिससे पूर्णकाम ऋषिजन गमन करते हैं, जहाँ उस सत्यस्वरूप परमात्मा का परमधाम है।¹⁹ सत्यमेव जयति सत्य का अर्थ है जो प्रत्यय यथार्थता/वास्तविकता में जैसा है मन, कर्म व वचन से उसको वैसे ही ढंग प्रस्तुत करना। अर्थात् स्वार्थवश प्रत्ययों/वस्तुओं/कथनों आदि को असत्यता/अयथार्थता के साथ प्रस्तुत न करना। व्यास भाष्य में बताया गया है कि प्रत्यक्षप्रमाणरूप इंद्रियों से प्रत्यक्ष किया गया हो, जैसा तर्क से अनुमान किया गया हो और जैसा आगम से सुना गया हो, उसे यथार्थ कहते हैं। अर्थात् जैसी वाणी है वैसे ही मन होना चाहिए। अतः वक्ता अपने चित्तनिष्ठ ज्ञान के सदृश ज्ञान को अन्य पुरुष के चित्त में स्थापित करने के लिए जो वाणी कहता है और यदि वह वाणी विपरीतबोधजनिका न हो तो सत्य कही जाती है।²⁰

जब असत्याचरण मन, कर्म अथवा वचन में सम्मिलित हो जाता है तो व्यक्ति का चित्त नकारात्मक प्रवृत्तियों में ही उलझ जाता है। जब असत्य का अनुकरण किया जाता है तो एक असत्य को सत्य सिद्ध करने हेतु अनेक असत्य तथ्यों को बार-बार दोहराना होता है। इससे एक प्रकार की नकारात्मकता सदैव ही व्यक्ति को घेरकर रखती है। ऐसा होने से इंद्रियों की बाह्य-विषयों में अतिसंलग्नता होती है। व्यास ने कहा है कि बुद्धि का सत्त्व जिसका सारतत्त्व प्रकाश है, जब अशुद्धि के मल से उन्मुक्त हो जाता है तो एक स्फटिक के सदृश निर्मल तथा स्थिर प्रवाह का रूप धारण कर लेता है जिस पर रजोगुण तथा तमोगुण अपना आधिपत्य नहीं कर सकते।²¹ सत्य में भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाने पर क्रिया में फल का आश्रय होता है।²² योग की शब्दावली में इसे वाणीसिद्धि कहा जाता है। जब साधक सत्य की साधना द्वारा उसमें भली प्रकार स्थित हो जाता है। देश, काल व परिस्थिति आदि द्वारा जरा भी विचलित नहीं होता है तो उसके भीतर एक प्रकार का दिव्य बुद्धि का विकास होना प्रारंभ होता है। इससे दो प्रकार के प्रभाव होते हैं—पहला, व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है, वह सबका-सब पूरी तरह सत्य होता है और द्वितीय यह कि उसके कार्यों का फल उसकी अपनी इच्छा के अधीन होता है। वह अन्यथा हो ही नहीं सकता।²³ वर्तमान युग में

वैयक्तिक एवं सामाजिक विश्वसनीयता में वृद्धि हेतु यह अत्यंत उपयोगी अभ्यास है। इसके उपरांत तीसरा अभ्यास अस्तेय है। इसे संक्षेप में निम्न प्रकार समझा जा सकता है।

अस्तेय

स्तेय क्रिया में 'अ' उपसर्ग लगने से अस्तेय शब्द व्युत्पन्न है, जिसका सामान्य अर्थ 'चोरी न करना' समझा जाता है, परंतु तत्त्ववैशारदी में इसका व्यापक अर्थ समझाया गया है। इसके अनुसार शास्त्र विहित पद्धति का उल्लंघन करते हुए दूसरे के द्रव्य का ग्रहण स्तेय कहलाता है। अर्थात् शास्त्रानुसार द्रव्य के ग्रहण को अस्तेय कहते हैं। वाचिक तथा कायिकव्यापार मानसव्यापार पूर्वक होते हैं। अतः मानसव्यापार की प्रधानता होने से मन से भी किसी अन्य के पदार्थ ग्रहण की इच्छा न होना अस्तेय है।²⁴

इस तथ्य को इसप्रकार भी समझा जा सकता है। मन, वाणी एवं कृति से अन्य व्यक्ति के किसी भी प्रकार के अधिकार को, स्वत्व को अथवा वस्तु को उसकी अनुमति के बिना न चाहना, न कहना, न लेना, न अपहृत करना तथा न चुराना अस्तेय है। इसी प्रकार अपहृत वस्तुओं का संग्रह न करना तथा उपयोग न करना भी अस्तेय कोटि में आता है। इस व्रत की सिद्धि से साधक के निकट सर्वरत्नों का उपस्थान होता है। तात्पर्य सभी लोगों का वह विश्वासपात्र होता है। इसप्रकार उपरोक्त विवेचन से अस्तेय का आशय स्पष्ट हो जाता है। अस्तेय के पश्चात् ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक है, इसलिए अब हम इसे विवेचित करेंगे।

महर्षि पतंजलि ने इसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हुए उल्लेख किया है कि चोरी न करने के नियम का जो साधक अनुशासनपूर्वक पालन करता है व किसी भी परस्थिति में चोरी नहीं करता है—उसके पास समस्त रत्नों की उपस्थिति होती है।²⁵ इसका अर्थ यह है उस अस्तेय पालन करनेवाले व्यक्ति को किसी की वस्तुओं को ग्रहण करने का कोई लोभ नहीं होता, तो वह सभी का विश्वासपात्र होता है। सामाजिक अस्थिरता, चोरी, डाका, भ्रष्टाचार तथा अन्यान्य आपराधिक प्रवृत्ति को नियंत्रित करने हेतु यह उत्तम साधन है। यम के अभ्यास का अगला चरण ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्म एवं चर्य दो पदों से निर्मित है जिसका अर्थ है—ब्रह्म के समान आचरण करना। इस शब्द को यथोचित ढंग से समझने हेतु हमें योग के भाष्यों के संदर्भ में इस शब्द को विवेचित करना होगा। ब्रह्मचर्य को विवेचित करते हुए तत्त्ववैशारदी में उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मचर्य का स्वरूप गुप्त है। उपस्थेन्द्रिय में संयत (जिसने जननेन्द्रिय के आवेगों को नियंत्रित कर लिया है) व्यक्ति भी ब्रह्मचारी नहीं कहलाता है, यदि वह स्त्रीपेक्षण अर्थात् स्त्री को सस्पृह देखता है अथवा प्रेमपूर्वक वार्तालाप तथा कामोत्तेजक अंगस्पर्श में आसक्ति रखता है। इसलिए इन सब प्रेमपूर्ण प्रसंगों के निराकरण के लिए ब्रह्मचर्य के अभ्यासी को उपस्थेन्द्रिय की भाँति उद्विग्नकारी समस्त अन्य इंद्रियों को भी नियंत्रित करना चाहिए।²⁶ ब्रह्मचर्य के पालन से वीर्यलाभ होता है।²⁷

आधुनिकयुग में अनियंत्रित यौन-संबंधों द्वारा होनेवाले रोगों जैसे—एड्स आदि के नियंत्रण के साथ ही यह जनसंख्या नियंत्रण हेतु भी उपयोगी है। इसके उपरांत अपरिग्रह का अभ्यास आवश्यक है।

अपरिग्रह

अपरिग्रह शब्द परिग्रह का विपरीतार्थी है। परिग्रह का तात्पर्य है—अनावश्यक पदार्थ संग्रह को भी लोभ-मोह पूर्वक अर्जित/संग्रहीत करना। ऐसा माना गया है कि बारंबार भोगों को भोगने से व्यक्ति की भोगेच्छा या राग और इंद्रियों की भोगविषयिणी पटुता बढ़ती है। प्राणियों की हिंसा किए बिना विषयों का उपभोग संभव नहीं है। इसके द्वारा विषयभोग में हिंसासंबंधी दोष बताए हैं। प्रतिग्रहादिरूप अर्जनदोष होने से तथा शास्त्रविहित पद्धति से प्राप्त विषयों में भी रक्षणादि दोष होने से विषय ग्रहण के प्रति होनेवाली अस्वीकृति को अपरिग्रह कहते हैं।²⁸ श्रीमद्भगवद्गीता में आसक्ति के अभावादि को ज्ञानप्राप्ति के लक्षणों के रूप में निर्देशित किया गया है। पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना ये सभी आत्मज्ञान प्राप्ति के लक्षण हैं। यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है कि आसक्ति के अभाव से आत्मज्ञान प्राप्ति होती है। आत्मज्ञान प्राप्ति से हम इंद्रियों को विषयाभिमुख होने के स्थान पर चित्त में समाहित करने की ओर अभिमुख होते हैं।²⁹

आधुनिकयुग में अधिकाधिक संग्रह के कारण होनेवाले सामाजिक असंतोष एवं वर्ग विभेद तथा पूँजीवादी मानसिकता, निर्धनता, बेरोजगारी, रिश्वतखोरी तथा भ्रष्टाचार पर अंकुश हेतु अपरिग्रह एक अच्छा अभ्यास है।

इसप्रकार उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि भारतीय ज्ञान-परंपरा के नैतिक आचार्यों द्वारा मानवता के कल्याण हेतु निर्देशित नैतिक मूल्यों का संवर्धन एवं अनुगमन करने से ही विश्वकल्याण होना संभव है। इससे वर्तमान युग की अनेकानेक समस्याओं का निवारण किया जा सकता है। अतः वैश्विक स्तर पर भारतीय ज्ञान-परंपरा का अध्ययन एवं प्रचार-प्रसार होना अपेक्षित है।

1. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन भाग 1, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2004, पृ० 18
2. जयदेवसिंह, पाश्चात्य दर्शन की मुख्य अवधारणाएँ, विकास पब्लिशिंग हाउस, गाजियाबाद (उ०प्र०), 1980, पृ० 17
3. मुंडकोपनिषद्, 1/1 : 4, तस्मै च होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥
4. उपर्युक्त, 1/1 : 5 तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यातिषमिति अथ परायया तदक्षरमधिमधिगम्यते॥
5. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1/3 : 27, असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतम् गमय।
6. जयदेवसिंह, पाश्चात्य दर्शन की मुख्य अवधारणाएँ, विकास पब्लिशिंग हाउस, गाजियाबाद (उ० प्र०), 1980, पृ० 17
7. पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2067, पृ० 60-61
8. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/ 4 : 3
9. मुंडक उपनिषद्, 3/13 : 3
10. अशोककुमार वर्मा, तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 2010, पृ० 211
11. उपर्युक्त
12. महर्षि पतंजलि, पातंजलयोगसूत्र, 1/7 प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

13. वामन शिवराम आपटे, संस्कृत-हिंदी शब्दकोश, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ० 533
14. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, भारतीय संस्कृति : कुछ विचार, हिंदू पॉकेट बुक्स, 2004, पृ० 12, 16, 21
15. महर्षि पतंजलि, पातंजलयोगसूत्र, 2/30, श्रीमन्माधव योग मंदिर समिति, लोनावला, पुणे, 2001, अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
16. उपर्युक्त, जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।
17. उपर्युक्त
18. उपर्युक्त, अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।
19. मुंडकोपनिषद्, 3/1 : 6
20. व्यास भाष्य (पातंजलयोगसूत्र), 2/30 व्याख्याकर्त्री डॉ० विमला कर्नाटक, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय व रत्ना प्रकाशन, वाराणसी, 1992, तत्रहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्राहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तस्मिद्धिपरतयै व सत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यान्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते।
21. उपर्युक्त, पृ० 963-64, यथार्थे वामनसे इति। यथाशब्दं साकांक्षं पूरयति-यथा दृष्टमिति। प्रतिसम्बन्धिनं तथाशब्दं प्रतिक्षिपति तथा वामनध्येति। विवक्षायां कर्त्तव्यायामिति। अन्यथा तु न सत्यम्।
22. महर्षि पतंजलि, पातंजलयोगसूत्र 2/36, सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।
23. महर्षि पतंजलि, पातंजलयोगसूत्र, 2/36, श्रीमन्माधव योग मंदिर समिति, लोनावला, पुणे, 2001, सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।
24. तत्त्ववैशारदी, 2/36, व्याख्याकर्त्री डॉ० विमला कर्नाटक, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय व रत्ना प्रकाशन, वाराणसी, 1992
25. महर्षि पतंजलि, पातंजलयोगसूत्र, 2/36, अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नापस्थानम्।
26. तत्त्ववैशारदी, 2/36, व्याख्याकर्त्री डॉ० विमला कर्नाटक, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय व रत्ना प्रकाशन, वाराणसी, 1992
27. महर्षि पतंजलि, पातंजलयोगसूत्र, 2/38, ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।
28. तत्त्ववैशारदी, 2/39, व्याख्याकर्त्री डॉ० विमला कर्नाटक, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय व रत्ना प्रकाशन, वाराणसी, 1992
29. श्रीमद्भगवद्गीता, 13/9, गीता प्रेस गोरखपुर, सम्बत् 2062, असक्तिरनभिश्चंगः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

Email mrs.kavitabhatt@gmail.com

शिवमंगलसिंह 'सुमन' के काव्य में प्रेमभाव

डॉ० अलका प्रचंडिया

उपनिदेशक, जैन शोध अकादमी

अलीगढ़ (उ०प्र०)

प्रिय का भाव ही प्रेम है। प्रिय-संबंधी भाव जिसमें आनंद व्याप्त है, प्रेम हुआ। प्रेम का व्युत्पत्त्यर्थ हुआ—जो प्रीति दे, तृप्ति दे, वही प्रेम है। तृप्ति देने की क्रिया प्रिय से संबद्ध होकर ही संपन्न हो सकती है।¹ किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति प्रेम का कारण उस वस्तु या व्यक्ति के सौंदर्य अथवा उपयोगिता में निहित है। जब सह्य व्यक्ति मनोनुकूल सुंदर अथवा उपयोगी वस्तु, व्यक्ति या दृश्य को देखता है, तो उसके प्रति उसे प्रेम हो जाता है। जब सारे मान समान हो जाते हैं, तब प्रेम की उत्पत्ति होती है।² किसी वस्तु के प्रति विशिष्ट प्रकार का लगाव ही प्रेम है।³ इस लगाव में प्रेम के अनेक रूप हो सकते हैं, परंतु इसमें रागात्मक संबंध ही प्रेम का वास्तविक रूप है। शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने स्वीकार किया है कि मैंने कभी फैशन या प्रदर्शन के लिए कविता नहीं की। अपने प्रत्यक्ष बोध (परसेप्शन) के आधार पर ही काव्यसृष्टि की है, प्रेम में अव्यक्त सौंदर्याकर्षण, साहचर्य, अनुनय, उपासना, व्यग्रता, आग्रह और आलोकन मेरा निजी है।⁴ भारतीय चिंतन के क्षेत्र में काम प्रेम का पर्याय बनकर ही आया है और उसे अलौकिक धरातल पर ही केवल भगवत् प्रेम से पृथक् माना गया है। यहाँ प्रेम का उपयोग अलौकिक प्रेम के अर्थ में और काम का उपयोग लौकिक प्रेम के अर्थ में किया गया है।⁵ कबीर का प्रेम पौरुष का पर्याय है, जो संपूर्ण अस्तित्व को दाँव पर लगा देता है।⁶ प्रेमचंद प्रेम का केंद्रीयभाव 'भावना' मानते हैं।⁷ भावना में ही उसका जन्म होता है, उसी में पालन-पोषण के साथ विकास की तरफ वह उन्मुख होता है और अंत में भावना में ही समाप्त हो जाता है।

सुविज्ञों ने प्रेम के अनेक रूप स्वीकार किए हैं। डॉ० रामेश्वरलाल 'तरुण' ने प्रेम के बारह रूपों का उल्लेख किया है—देव या ईश्वरविषयक, कांताविषयक, बालविषयक, प्रकृतिविषयक, देशविषयक, विषयविषयक या प्रेम, कुटुंबविषयक, मित्रविषयक, श्रद्धाविषयक, सेव्यविषयक, सूक्ष्मविषयक, पदार्थ अथवा स्थूलविषयक।⁸ उक्त प्रेम के रूपों में मातृ-प्रेम को नहीं लिया गया है। संक्षेप में प्रेम के तीन आयाम हो सकते हैं—वैयक्तिक, उदात्तीकृत, आध्यात्मिक। साहित्य जीवन का दर्पण है और प्रेम जीवन की मूलशक्ति। प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन समय तक के साहित्य में प्रेम का कोई-न-कोई रूप दृष्टिगत होता है। जीवन की प्रेरणाशक्ति, मानव-अस्तित्व का मूलाधार होने के कारण प्रेम सहज ही साहित्य का सबसे सशक्त अंग बनकर काव्य से गठबंधन कर बैठा है। काव्य और प्रेम और प्रेमभावना का वही संबंध है, जो हृदय और उसकी धड़कनों का होता है। कौनसा ऐसा कवि है, जो प्रेम-देवता के चरणों में अर्घ्य समर्पित किए बिना कवि की

संज्ञा का अधिकारी बना सका है।⁹ इस प्रकार प्रेम का संबंध आत्मा से है। आत्मा और प्रेम का संबंध होने के कारण रचनाकार अपनी रचनाओं में प्रेम को सर्वोच्च स्थान देता है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' के काव्य का प्रमुख स्वर प्रणय है। 'हिल्लोल' में प्रेम का स्वरूप दीवानापन और उन्माद के रूप में प्रकट होता है—

हम दीवानों का क्या परिचय
कुछ चाव लिए, कुछ चाह लिए
कुछ कसकन और कराह लिए
कुछ दर्द लिए, कुछ दाह लिए
हम नौसिखिए, नूतन पथ पर चल दिए
प्रणय का कर विनिमय।¹⁰

प्रणयभाव के अतिरिक्त इस जगत में अन्य सब-कुछ नश्वर है। इस प्रणयभाव में कवि सुमन बह जाना चाहते हैं।¹¹ प्रणय चाहे भक्ति, दांपत्य, वात्सल्य या श्रद्धा किसी प्रकार का हो, किंतु इसका मुख्य लक्षण आत्मा को तृप्त करना है। सुमन जी प्रेम के इसी रूप को स्वीकार करते हैं।

प्रेम सत्य है, प्रेम शिव है और प्रेम सुंदर है। हमारी समस्त कल्याण-भावना का संचालन प्रेम करता है। प्रेम ही व्यक्तिगत स्वार्थ का नाश कर पारिवारिक कर्तव्य, सामाजिक उत्तरदायित्व, पारस्परिक सहयोग और विश्वबंधुत्व की नींव डालता है। प्रेम वह कल्याणकारी दीपक है, जिससे समस्त अशिव का अँधेरा दूर हो जाता है। प्रेम का पावन प्रकाश समस्त कालिमा को नष्ट कर सौंदर्य की ज्योति विकीर्ण करता है—

महमहा उठे कलि अलि माली
चहचहा उठी डाली-डाली
खुल गए सृष्टि के चक्षु, भिक्षु से कोक, कोकनद फुल्लगात।
कल शिथिल पड़ी थी रात विवश
अब रागरंजिता रही विहँस
सेविता के स्वागत में फूटें, फिर सामगान के स्वर प्रपात।¹²

यहाँ प्रातःकाल के सौंदर्य का अद्भुत चित्रण हुआ है। यामिनी के समाप्त हो जाने के पश्चात् व्योम को चीरते हुए भगवान भास्कर का आगमन होता है। इनके आगमन से सर्वत्र सुंदरता की लहर बिखर जाती है। उपवन में सारी कलियाँ खिल जाती हैं। द्रुमों पर खगकुल कलरव गान शुरू कर देते हैं। सरोवर में राजीव प्रफुल्ल हो उठते हैं। कल तक शिथिल पड़नेवाली निशा आज राग-रागिनियों की भाँति विहँस रही है। यहाँ सुमनजी की भाव-कल्पना सुंदर ढंग से अभिव्यक्त हुई है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' की कविता में प्रेमी-प्रेयसियों के संयोग-शृंगार का भव्य चित्रण सुलभ है। प्रेयसी-प्रिय का, एक-दूसरे का अंकन, अवलोकन, वचनों का श्रवण, स्पर्श, आलिंगन तथा अधरपान तक के संयोग शृंगार के विविध रूपों की सुंदर अभिव्यक्ति सुमनजी के काव्य में हुई है। कवि प्रेयसी के शरीर की सुंदरता पर मुग्ध हो जाता है। सुमनजी ने प्रेयसी के घुँघराले केशों के आकर्षण में बंदी हाने के भय को व्यक्त करते हैं—

सुंदरि! मुझको बंदी न करो
अपने कुंचित कच-जालों में।¹³

काले और लंबे बाल नारी की सुंदरता में चार-चाँद लगा देते हैं। कवि ने अपनी प्रेयसी की वेणी तथा नशीली आँखों के प्रभाव को अपने मन पर दिखाया है—

वेणी के बंदों में लिपटा मलयगिरि का वास था।
आँखों की पाँखों में सिमटा सपनों का मधुमास था।
कैसी बही बयार कि मेरा मन पीपल का पात था।
आज हमारा और तुम्हारा बस इतना ही साथ था।¹⁴

प्रिय-प्रेयसी के भाव वाणी का रूप धारण कर लें, इसके पूर्व ही उनमें आंगिक प्रदर्शन प्रारंभ हो जाता है।¹⁵ आंगिक हाव-भाव के पश्चात प्रेमी और प्रेयसी निकट आकर प्रणय-भावनाओं को व्यक्त करते हैं।¹⁶ स्पर्श, संभोग शृंगार की अंतिम अवस्था है। सुमनजी ने संभोग शृंगार की दशा का अत्यंत मादक चित्रण किया है—

वह भी दिन था मेरे पथ पर जब प्रिय ने रंगरेलियाँ की थीं।
गोल-गोल गोरी बाहों से ग्रीवा में गलबहियाँ दी थी।¹⁷

सुमनजी के काव्यों में नारी-प्रेम को हम निम्न रूप में देख सकते हैं—प्रेयसी के रूप में, पत्नी के रूप में, माता के रूप में। 'प्रलय-सृजन' में प्रेयसी के प्रति कवि के प्रेमभाव को देखिए—

चुनरी लाल, नीला लहंगा, बिखरे कुंतल, सहमे उरोज
जिस चपल कन्हैया को उनकी कजरारी आँखें रहीं खोज।¹⁸

गाँव की एक ग्वालिन गुनिया के मदमाते यौवन को देखकर कवि सुमन यौवन के रस में रस-विभोर हो जाते हैं। सुमनजी अपनी प्रेमिका को देखकर मन-ही-मन स्वप्नों की दुनिया बसाने लगते हैं—

तुमको आँखों के आगे पा
जब मैं हो उठता हूँ चंचल,
जब बैठ संजोने लगता हूँ
अपनी मधुस्मृतियों के कुछ पल,
झीने अंचल की ओट किए
तुम रह-रह मुसका देती हो
क्या प्यार इसे ही मैं समझूँ।¹⁹

सुमनजी को अपने परिवार के प्रति अत्यंत लगाव रहा। सन् 1956 ई० में सुमनजी को नेपाल के भारतीय दूतावास में सांस्कृतिक और सूचना सचिव का काम सौंपा गया, जिसके कारण उन्हें परिवार-बिछोह बहुत दुखदायी लगा। अपनी अर्द्धांगिनी की याद करके सुमनजी भावाकुल हो उठते हैं और अनायास कविता फूट पड़ती है—

कभी जब काम से थककर
अकेला बैठ जाता हूँ
तुम्हारी याद आती है
तरसता हूँ मिले फुरसत
तुम्हारे गीत गाऊँ मैं
कभी झगड़ो, कभी रूठो

ठठली कर मनाऊँ मैं²⁰

दांपत्य-जीवन का बड़ा ही सहज, स्वाभाविक और सरल चित्रण किया गया है। 'काठमांडू की पहली साँझ' नामक कविता में कवि ने पत्नी के साथ होनेवाले प्रतिदिन के क्रियाकलापों का रोचक वर्णन किया है—

न जाने बात क्या है
साँझ होते ही
तुम्हारी याद आती है
लजीली लालिमा के पार
सपनों की तरी-सी तैर जाती है।²¹

इसीप्रकार पूरी कविता में पत्नी के साथ नाराज होने, चाय पीने, रोचना और अर्पणा नामक पुत्रियों के साथ खेलने आदि का वर्णन मिलता है। इसमें पत्नी और परिवार के प्रति कवि के अटूट प्रेम के अभिदर्शन होते हैं। 'मिट्टी की बारात' कविता में पति-पत्नी का ऐसा प्रेम अन्यत्र दुर्लभ है—

थककर जब सोता था
तेरी याद कभी-कभी
बरबस आ जाती थी
जिसका राज मालूम है
गूँगे नक्षत्रों और
सहमी-सी रातों को
चाँद से तो मन की बात
कहते भी डरता था।²²

नेपाल में माता के देहांत का समाचार पाकर सुमनजी को महान कष्ट हुआ। 'माँ गई' कविता में सुमनजी की भावाभिव्यक्ति देखिए—

आज मुझे प्यार करे
कोई नहीं, कोई नहीं
अब मैं दे सकता हूँ
आंशिक सहानुभूति
जग के अनार्थों को।²³

माँ का स्वर्गवास हो जाने पर सुमनजी अपने को अनार्थों की श्रेणी में महसूस करते हैं। आज संसार में उन्हें मातृप्रेम देनेवाला कोई नहीं है। कवि को विश्वास है कि माता के प्रेम में आत्मबल होता है।

सुमनजी शोषितों की दशाओं का यथार्थ चित्रण करके उनके प्रति अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करते हैं। शोषितों की मंगलकामना करनेवाले सुमनजी साधना के पथ पर आगे बढ़ते हुए कहते हैं—

तुम पी रहे गरल
कि देख नीलकंठ मुग्ध है
सधा लजा गई
अमर पतित असुर विक्षुब्ध हैं

मगर अभी तो पग प्रथम
कहाँ समाप्त साधना²⁴

शोषितों के प्रति अत्यधिक स्नेह और उनकी दयनीय स्थिति का वर्णन सुमनजी की कविता 'वाह री वाग्मिता'²⁵ और 'रूखा-सूखा वर्ष'²⁶ नामक कविताओं में मिलता है। सुमनजी का विचार है कि हमें अपनी सारी सहानुभूति और प्रेम सर्वहारा वर्ग के प्रति अर्पित करना चाहिए। सुमनजी ने श्रमिकों को उपेक्षित दृष्टि से नहीं देखा, अपितु उनके दुख-दर्द को सीने से लगाए रखा।

सुमनजी के काव्य में प्रकृति-चित्रण के अनेक रूप उनके प्रकृति-प्रेम के प्रमाण हैं। सुमनजी के हृदय में प्रकृति के प्रति अगाध ममता है, वह प्रकृति के अनन्य उपासक हैं। इस ममता को सुमनजी ने विंध्य और हिमालय की छवि में अंकित किया है। हिमालय के श्वेत निर्मल शुभ्र कर्पूरी कपाल पर उसकी आँख की पुतली फिसल रही है। कवि ने हिमालय के अनिच्छ सौंदर्य का वर्णन किया है—

तुम्हारे श्वेत, निर्मल, शुभ्र
कर्पूरी कपोलों पर
फिसलती आँख की पुतली
किसी की स्निग्ध सुधि की राशि सम
तुम जम गए कैसे²⁷

सुमनजी ने अपने काव्यों में ऋतुओं का भरपूर चित्रण किया है। कवि ने प्रकृति-सौंदर्य के विविध पक्षों का अत्यंत सूक्ष्म निरीक्षण किया है। प्रकृति के प्रति अपने अनन्य अनुरागवश उसका मानवीकरण करते हुए सुमनजी उसे अनेक रूपों में चित्रित करते हैं। सुमनजी ने अपनी कविताओं में संध्या-वर्णन को विशेष महत्त्व दिया है—

साँझ ढली, नभ के कोने में
कारे मेघा छाए
ये विरहिन के ताप, काम के शाप
गरज इतराए
दीप छिपाए चली समेटे निशा दिशा का आँचल
आज रातभर बरसे बादल।²⁸

रजनी का मानवीकरण करते हुए कवि सुमन लिखते हैं कि तारों के दीपकों को रजनी ने अपने दिशांचल में समेटकर छिपा रखा है। 'पर आँखें नहीं भरी' में प्रकृति के रमणीय चित्र प्रस्तुत करते समय कवि सुमन ने लोकशैली को अपनाया है—

ताल-तलैया भरे चहुँओर
झकोर हिलोर में डोले हिया²⁹

'चाँदनी छाई किसकी याद आई' और 'फागुन में सावन' आदि कविताओं में उक्त भावों के अभिदर्शन होते हैं।

सुमनजी के हृदय में अपनी जन्मभूमि के प्रति अपार श्रद्धा का भाव है। कवि का राष्ट्रप्रेम किसी प्रकार की दलीय, प्रादेशिक, धार्मिक, जातिगत संकीर्णता से संबद्ध न होकर पूर्णतः सांस्कृतिक आधार पर प्रतिष्ठित है। सुमनजी के हृदय में स्थित प्रेम का उदात्त रूप देशकाल के

घेरे में ही बँधकर नहीं रह जाता, अपितु वह समस्त विश्व के कल्याण की कामना से अभिभूत दिखाई पड़ते हैं। सुमनजी की भक्ति का झुकाव 'स्वांतःसुखाय' न होकर 'परहिताय' पर अधिक है। कवि सुमन इस भक्ति का स्वरूप विश्वकल्याण की भावना में देखते हैं।

संदर्भ

1. डॉ० रामकुमार खंडेलवाल, हिंदीकाव्य में प्रेम-भावना, पृ० 28
2. डॉ० महेंद्रसागर प्रचंडिया, सूक्तसुधा, संगृहीत ग्रंथ-संपादक प्रो० आदित्य प्रचंडिया
3. डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा, संस्कृत कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति, पृ० 26
4. डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय, वक्तव्य के घेरा में, सुमन : मनुष्य और स्रष्टा, पृ० 8
5. विजयमोहन सिंह, आधुनिक हिंदी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना, पृ० 60
6. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० 194
7. मुंशी प्रेमचंद, रंगभूमि, पृ० 492
8. डॉ० रामेश्वरलाल खंडेलवाल 'तरुण', आधुनिक हिंदी-कविता में प्रेम और सौंदर्य, पृ० 113
9. डॉ० रामकुमार खंडेलवाल, हिंदीकाव्य में प्रेमभावना, पृ० 21-22
10. हिल्लोल, पृ० 17
11. वही, पृ० 52
12. विंध्य-हिमालय, पृ० 74
13. हिल्लोल, पृ० 20
14. विंध्य-हिमालय, पृ० 10
15. प्रलय सृजन, पृ० 26
16. हिल्लोल, पृ० 54
17. वही, पृ० 79
18. प्रलय सृजन, पृ० 25
19. जीवन के गान, पृ० 32
20. विंध्य-हिमालय, पृ० 98
21. वही, पृ० 83-86
22. मिट्टी की बारात, पृ० 46
23. विंध्य-हिमालय, पृ० 111
24. विश्वास बढ़ता ही गया, पृ० 7
25. वाणी की व्यथा, पृ० 22
26. वही, पृ० 69
27. विंध्य-हिमालय, पृ० 89
28. पर आँखें नहीं भरी, पृ० 23
29. वही, पृ० 25

मंगलकलश
394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड
अलीगढ़ 202001 (उ०प्र०)

हिंदी हाइकु में जीवनमूल्यों के समसामयिक संदर्भ

डॉ० कुँवर दिनेशसिंह

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है—इस विषय में कोई संशय नहीं है, किंतु सामाजिक होने के साथ-साथ मनुष्य बहुत कुछ वैयक्तिक भी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मनुष्य अपनी वैयक्तिकता में भी अत्यधिक रहस्यमयी है। निःसंदेह परस्पर अंतर्निर्भरता के कारणवश प्रत्येक मनुष्य को सामाजिकता का निर्वहन अनिवार्यतः करना पड़ता है, किंतु आचार-व्यवहार में, सोच में, विचार में, वैयक्तिकता, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में सन्निहित रहती ही है। अत एव सामाजिकता और वैयक्तिकता के मध्य एक समन्वय के धरातल की खोज व अपेक्षा हमेशा अनुभव की जाती है। इसी खोज व अपेक्षा की पूर्ति के लिए जीवनमूल्यों का निर्धारण किया जाता है जो जीवन, समाज एवं व्यक्ति को उचित दिशा प्रदान कर सकें। अस्तु, व्यष्टि और समष्टि में सामंजस्य बिठाने के लिए जीवनमूल्यों का युगानुरूप/समीचीन होना भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

आज का युग यांत्रिक युग है, जिस कारण जीवन में यांत्रिकता अत्यधिक प्रभावी हो गयी है। इसमें जीवन-शैली तो प्रभावित हुई ही है, साथ ही जीवन-मूल्यों में भी भारी परिवर्तन हुआ है। आज के साइबर युग में रूढ़िवादी मूल्यों को साथ लेकर चलना भी वर्तमान समाज से व्यक्ति को विलग कर सकता है, लेकिन जटिल विषय यह है कि पुरानी मान्यताओं, धारणाओं, विश्वासों एवं विचारों का सर्वथा परित्याग कर देने से भी अस्तित्व एवं अस्मिता में बिखराव आ सकता है। अतएव प्राचीन तथा अर्वाचीन के मध्य समन्वय बिठाते हुए जीवन को सफलतापूर्वक, प्रसन्नतापूर्वक व शान्तिपूर्वक ढंग से जीने के निमित्त जीवनमूल्यों में तद्वत् परिणति लाना अपेक्षित लगता है।

जीवनमूल्यों पर चर्चा से पूर्व यह आवश्यक है कि 'जीवनमूल्य' को परिभाषित कर लिया जाए। 'जीवनमूल्य' वह विश्वास अथवा धारणा है, जिससे जीवन को जीने की दिशा मिले; जिससे जीवन-यापन की विविध समस्याओं का निराकरण हो सके; जिससे अस्तित्व-संबंधी प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकें तथा जिससे निज-जीवन को आगामी पीढ़ी के लिए अनुकरणीय बनाया जा सके। जीवन में जिन आदर्शों/सिद्धांतों की बात की जाती है, जो प्रायः अव्यवहार्य प्रतीत होते हैं, उनको व्यावहारिकता में अपनाने में हमारे जीवनमूल्य ही सहायता करते हैं। अतः जीवनमूल्य बेहद मूल्यवान् हैं और इनका व्यक्ति के जीवन में होना नितांत आवश्यक है। प्रश्न यह भी उठता है कि ये जीवनमूल्य कहाँ मिलते हैं; इस विषय में हमारे पूर्वज, महान् आत्माएँ, महान् कवि, महान् नेता, महान् ऐतिहासिक व्यक्तित्व ही जीवनमूल्यों के अमूल्य स्रोत होते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, नानक, कबीर, सूर, तुलसी, इत्यादि ना जाने विश्वभर में कितनी ही महान् युगंकर आत्माएँ हुई हैं, जिन्होंने जीने की राह दिखाई है। कवियों की सारगर्भित सर्जना में भी युगीन जीवन

के मूल्य सन्निहित रहते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

हिंदी साहित्य की बात करें तो इस विषय में साक्षात् प्रमाण मिलते हैं कि भक्तिकालीन कवियों ने भटकते समाज को नए जीवनमूल्य प्रदान कर एक नई दिशा दी, और गुलाम भारत में राष्ट्रवादी कवियों ने स्वदेश के प्रति प्रेम व सम्मान की भावना जगाकर एक नवल क्रांति का सूत्रपात किया। यही नहीं जीवन की छोटी-छोटी बातों और समस्याओं माँ भी कवि-समाज का मार्गदर्शन करते हैं—ऐसा उनकी रचनाओं से स्वतः होता रहता है; कदाचित् किसी पूर्वनियोजित प्रयासवश नहीं होता।

समकालीन हिंदी कविता में भी जीवनमूल्यों की सरिता सतत प्रवाहशील है; आवश्यकता है उसके घाटों पर जाकर उसमें से अँजुलि भर लाने की। पैठ लगानेवाले को इस नदी की धारा में बहुत से हाइकु-रत्न मिलेंगे, जिनमें हाइकुकार-कवियों के जीवनानुभवों की द्युति विद्यमान है। डॉ० भगवतशरण अग्रवाल, डॉ० सुधा गुप्ता, रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', डॉ० सतीशराज पुष्करणा, डॉ० नीलमंदु सागर, डॉ० नलिनीकांत, कमलेश भट्ट 'कमल', डॉ० भावना कुँअर, डॉ० हरदीप कौर संधु, डॉ० मिथिलेश दीक्षित, कमला निखुर्पा, डॉ० कुँअर दिनेशसिंह, ज्योत्स्ना प्रदीप, कुमुद बंसल, डॉ० ज्योत्स्ना शर्मा, रचना श्रीवास्तव, डॉ० जेन्नी शबनम, कृष्णा वर्मा, अनिता ललित, डॉ० कविता भट्ट इत्यादि हाइकु कवियों ने सृजन-कर्म में विविध समसामयिक जीवनमूल्यों के संदर्भ द्रष्टव्य हैं।

आज के समय की सबसे बड़ी समस्या है पर्यावरण के प्रति मनुष्य की उदासीनता एवं विमुखता। कंक्रीट का जंगल फैलता जा रहा है, साइबर क्रांति के चलते तारों-टॉवरों का जाल सा बिछा जा रहा है, विद्युत-चुंबकीय तरंगों का सागर-सा उफनने लगा है, जिससे न केवल मानव-जीवन खतरे में आ चुका है, अपितु विविध पक्षी-जीव-जंतु भी त्राहि-त्राहि की रट लगाने लगे हैं। पर्यावरण एवं प्रकृति के संरक्षण से ही मानवीय जीवन को बचाया जा सकता है। इसलिए सबसे महत्वपूर्ण जीवन-मूल्य है मनुष्य द्वारा पर्यावरण के संरक्षण को प्राथमिकता दिया जाना। इस मूल्य पर हिंदी हाइकुकारों का अत्यधिक बल देखे बनता है। यथा डॉ० सुधा गुप्ता का यह हाइकु बढ़ते शरीकरण से उत्पन्न संकट को मार्मिक ढंग से उकेरता है—रोती तितली/ कंक्रीट जंगल में/ फूल कहाँ हैं। (खोई हरी टेकरी, पृ० 16)

अंधाधुंध निर्माण से कंक्रीट का जंगल बनते जा रहे शहर में न केवल मानव अपितु पशु, खग, कीट इत्यादि के लिए भी जीवन-यापन अत्यधिक दारुण होता जा रहा है। इसी बिंदु को डॉ० भावना कुँअर का निम्न हाइकु भी छूता है—'सूखती नदी/ बेघर होते पंछी/ आज की सदी।' (धूप के खरगोश, पृ० 34)

इसी तरह का कटाक्ष वंदना सहाय की बानगी में देखें—'सूख रहा है/ नदिया के साथ ही/ आँखों का पानी।' (हिंदी हाइकु)।

आज लोग अत्यधिक भौतिकतावादी हो गए हैं, जिसके चलते उन्हें आर्थिक लाभ के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता। दौलत के लिए अंधे हो गए हैं। बड़े-बड़े भवन-निर्माता व उपनिवेशी मानसिकता वाले धनाढ्य व्यवसायी मात्र ऊँचे-ऊँचे टॉवर, अपार्टमेंट, भवन खड़े करने में मशगूल हैं; इस कारण जो प्रास्थितिकी का संकट उत्पन्न हो रहा है, उसके प्रति वे कतई चिंतनशील नहीं हैं। वे आनेवाली पीढ़ी के प्रति अपने दायित्व को बिल्कुल नहीं समझ पा रहे हैं।

रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु' का निम्न हाइकु मस्तिष्क पर एक वृहत् अनुत्तरित प्रश्नवाचक चिह्न अंकित कर देता है—'उठते गए/ भवन फफोले-से/ हरी धरा पे।' (मेरे सात जनम, पृ० 83)

डॉ० गोपालबाबू शर्मा के हाइकु में भी ऐसा ही प्रश्न विद्यमान है—'यहाँ या वहाँ/ पत्थरों के शहर/ आदमी कहाँ?' (काफिले रोशनी के, पृ० 15)

प्रश्न है 'हरी धरा' पे निरंतर निर्माण का क्रम, जो थमने का नाम नहीं ले रहा है। हरेराम समीप ने प्रकृति के प्रति मानव की बेरुखी व बेपरवाही से सम्भावित त्रासदी का पूर्वाभास इस कटूक्ति के माध्यम से व्यक्त किया है—'हलकान है/ अकाल में चिड़िया/ दाना ना पानी।' (हिंदी हाइकु)

भारतीय सामाजिक व सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में गत कुछ दशकों से एक महत्वपूर्ण जीवन-मूल्य का उत्तरोत्तर क्षरण देखने को मिल रहा है—वह है विदेशी संस्कृति के प्रभाव में निज संस्कृति की अनदेखी एवं अवहेलना। एक ओर जहाँ आर्थिक, व्यावसायिक अथवा शिक्षा-संबंधी कारणों से भारतीयों ने विदेशों की ओर ब्रजन किया, तो वहीं दूसरी ओर कितनी ही विदेशी कंपनियों ने भारत में अपने व्यापारिक लाभ हेतु बाजारवाद फैला दिया, जिससे पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भारतीयों पर, वे चाहे आवासी हों या प्रवासी, दिखाई पड़ रहा है। परिधान में, व्यवहार में, विचार में—पश्चिमी सभ्यता प्रभावी हुई जा रही है, जिससे भारत के पारंपरिक जीवन-मूल्यों का ढाँचा चरमराया है। परिवार बिखरने लगे हैं, राष्ट्रवादी सोच खंडित हो रही है, भौतिकता बढ़ती जा रही है, शहरीकरण बढ़ रहा है, ग्रामीण संस्कृति दम तोड़ रही है, साइबर क्रांति के चलते यांत्रिकता पनप रही है—इन सभी कारणों से जीवन-शैली में बहुत से परिवर्तन दृष्टिगोचर हैं। कृष्णा वर्मा का यह हाइकु भौतिकतावादी सोच के दुष्परिणाम को इंगित करता है—निगोड़ा धन/ मिटा आत्मीयता, दे अकेलापन। (हिंदी हाइकु)

धन के प्रति अत्यधिक झुकाव रखने से आत्मीय संबंधों का हास व अकेलेपन की वृद्धि सहज है। ऐसी ही एक अन्य परिस्थिति कृष्णा वर्मा के इस हाइकु में देखी जा सकती है—'उड़ी संतान/ युग की हवा-संग/ सौंप एकांता।' (हिंदी हाइकु)

आज संतान घर-परिवार से दूर होती जा रही है, चाहे विद्योपार्जन के लिए अथवा व्यवसाय के लिए; किंतु पारिवारिक मूल्य खोते जा रहे हैं। गुंजन अग्रवाल का निम्न हाइकु परिवारों के खंडन की व्यथा कुछ इस तरह बयान करता है—'दूर अपने/ रूठे-रूठे त्योहार/ देखें सपने।' (हिंदी हाइकु)

वंदना सहाय वृद्ध माँ-बाप की बच्चों की प्रतीक्षा की वेदना को बड़े मार्मिक शब्दों में कहती हैं—'अम्मा पोंछती/ चश्मे की धूल आज/ बच्चे आएँगे।' (हिंदी हाइकु)। इसी प्रकार अनिता ललित का निम्न हाइकु वृद्धावस्था के एकाकीपन को व्यक्त करते हुए वृद्धों के प्रति विशेष ध्यान देने बारे एक नितांत समीचीन मूल्य को स्थापित करता है—'चलो जलाएँ/ बूढ़ी, सूनी आँखों में/ आस के दीप।' (हिंदी हाइकु)

परिवार व त्योहार आत्मीयता की संवृद्धि एवं पुष्टि करते हैं, किंतु आज विदेशी सभ्यता के प्रभाव में अपने मानी ही खोते जा रहे हैं। अकेलापन एक बहुत बड़ा संकट बनता जा रहा है, जिससे न केवल पारिवारिक अपितु सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भी क्षत-विक्षत होने के कगार पर हैं। ऐसे में सकारात्मक जीवनमूल्यों का पोषण करना नितांत आवश्यक है।

पारिवारिक स्तर पर आज दो पीढ़ियों की रस्साकशी देखी जा सकती है। एक ओर युवा पीढ़ी शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण से आगे बढ़ रही है, उसे व्यवसायेतर परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति लेशमात्र भी चिंता नहीं है, तो दूसरी ओर वृद्ध हैं जो युवापीढ़ी को रोक भी नहीं सकते और अपने अकेलेपन को झेल भी नहीं पाते। यहाँ कारण आर्थिक/व्यावसायिक हों अथवा कोई और, वृद्धावस्था में अकेले पड़े लोग अपनों का सहारा पाने की तीव्र कामना तो कर ही रहे हैं। डॉ० विद्याविंदु सिंह के इस हाइकु में अकेलेपन का दर्द देखे बनता है—‘नीम बसेरा/ चिड़िया नहीं आती/ नीड़ उदास।’ (हिंदी हाइकु)

दूसरी ओर, विदेशों में रहने वाले प्रवासी भारतीयों की, चाहे स्वेच्छा से अथवा विवशता से प्रवासगत हुए हैं, मनोदशा की जटिलता/ क्लिष्टता देखे बनती है। विदेशी धरा पर निज देश की संस्कृति किंचित् भी विस्मृत नहीं हुई है; विदेशी सभ्यता की चकाचौंध में पूर्वजों के संस्कार अपने अस्तित्व को संघर्षरत हैं। जैसा कि सुदर्शन रत्नाकर का यह हाइकु इंगित करता है—‘कहीं भी जाऊँ/ बिसरा न पाऊँ मैं/ देश की माटी।’ (यादों के पाखी, पृ० 93)

रामायण में एक प्रसंग आता है—जब लंका को विजित कर लेने के पश्चात् लक्ष्मण राम से आग्रह करते हैं कि क्यों न लंका में ही अपना राज्य स्थापित किया जाए जो अत्यधिक सुंदर एवं आकर्षक है। इस संदर्भ में रामचंद्र ने यह उत्तर दिया: ‘अपि स्वर्णमयी लंका न मे रोचते लक्ष्मण। जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।’ अर्थात् निज माता व जन्मभूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ हैं। डॉ० सुधा ओम ढोंगरा के हाइकु में देश की धूप में, वह चाहे कितनी भी प्रचंड/ उग्र हो, मातृ-अंचल की शीतलता की अनुभूति मिलती है—‘देश की धूप/ थपथपाये तन/ दे माँ का प्यार।’ (हाइकु काव्य : शिल्प एवं अनुभूति, पृ० 101)

समकालीन जीवन-शैली अत्यधिक भौतिकतावादी तथा यांत्रिक-सी हो गयी है, हर जगह गति द्रुत से द्रुततर होती जा रही है। जीवन-यापन जटिल होता जा रहा है। ऐसे में नित्यचर्या की व्यस्तता भी इतनी अधिक बढ़ गई है कि व्यक्ति के पास दूजे से टिककर बात करने की फुर्सत तक नहीं है। परिणामतः एकाकीपन बढ़ता जा रहा है और व्यक्ति कुंठा से ग्रसित हुआ जा रहा है और भीतर ही भीतर टूटता-बिखरता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में अवसाद/ विषाद से बचे रहने के लिए सकारात्मक सोच को विकसित किया जाना अपेक्षित है। डॉ० जेन्नी शबनम के हाइकु में आत्मबल एवं जिजीविषा की अभिव्यक्ति देखे बनती है—‘खिलता रहा/ गुलमोहर फूल/ पतझड़ में।’ (हाइकु काव्य, पृ० 77)

स्वयं संघर्षरत रहकर कष्ट सहन कर दूसरों को प्रसन्नता ही देने तथा हर हाल में परोपकार के लिए उद्यत रहने का भाव हरकीरत हीर के इस हाइकु में देखें—‘आँधी से लड़ा/ हँस-हँस के मिटा/ अकेला दिया।’ (हाइकु काव्य, पृ० 130)

इस प्रकार परहित के लिए निजी स्वार्थ का परित्याग व अहम् का बलिदान करना श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों में परिगणित किया जाता है। ऐसी ही मूल्यपरक चेतना रामेश्वर काम्बोज ‘हिमांशु’ के इस हाइकु में भी देखी जा सकती है—‘आतप सहें/ फिर भी दमके हैं/ अमलतास।’ (हाइकु काव्य, पृ० 77)

डॉ० भावना कुँअर का ‘गुलमोहर’ परहित में निरत व्यक्ति का प्रतीक बनकर उभरता है—‘छतरी बना/ गुलमोहर घना/ राहगीरों का।’ (हाइकु काव्य, पृ० 68)

कमलेश भट्ट 'कमल' के हाइकु में 'पलाश' परोपकारिता के साथ-साथ कर्तव्यपरायणता, निष्ठा, संयम, नियम एवं सुदृढ़ निश्चय जैसे जीवन-प्रेरक मूल्यों का सशक्त बिंब बना है—'कड़ी धूप में/ मशाल लिये खड़ा/ तन्हा पलाश। (हाइकु काव्य, पृ० 35)

इसी तरह डॉ० सुधा गुप्ता के निम्न हाइकु में 'नदी' भी कर्तव्य के प्रति निष्ठा-भाव की संवाहिका बनी है—'चुप है नदी/ कुछ भी न कहती/ बस बहती।' (हाइकु काव्य, पृ० 89)

डॉ० कुँवर दिनेशसिंह के इस हाइकु में 'आकाश' सर्वजनहिताय, समता एवं ममता का सबल प्रतीक बना है—'समता भरी/ आकाश की आँखें हैं/ ममता भरी।' (पगडंडी अकेली, पृ० 12)

इसी प्रकार डॉ० ज्योत्सना शर्मा ने भी 'गगन' को एक सज्जन के मन सा आम्लान, शान्त एवं स्थिर कहा है, जो सभी को सुख व प्रसन्ता प्रदान करनेवाला है—'शांत निर्मल/ ज्यों सज्जन का मन/ क्वार गगन।' (हाइकु काव्य, पृ० 95)

कई हाइकुकारों ने भारत की समसामयिक राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार पर भी तंज कसे हैं। आज चाटुकार एवं भ्रष्टाचारी लोगों के प्रभाव में योग्यता को दरकिनार कर दिया जाता है। छलबल की राजनीति में सुपात्र लोग पिस रहे हैं। इस प्रकार जनतांत्रिक व्यवस्था के मूलभूत सिद्धांतों की अवमानना हो रही है। डॉ० गोपालबाबू शर्मा ने अपने इस हाइकु में कटु व्यंग्योक्ति के माध्यम से समसामयिक जनतन्त्र, समाज व राजनीति पर चोट की है—'कौवों की चोंच/ मढ़ी जाती सोने से/ बेचारा हंस!' (काफिले रोशनी के, पृ० 8)

डॉ० गोपालबाबू शर्मा का एक अन्य हाइकु आज भारतीय समाज में व्याप्त भय एवं भ्रष्ट तंत्र पर, जिसका कोई ठोस हल नहीं हो पा रहा है, कुछ इस प्रकार टिप्पणी करता है—'अंधेरी बस्ती/ बदनुमा चेहरे/ आईना मौन।' (वही, पृ० 19)

भारतीय समाज में नारी का बेहद महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक युग में उसे समुचित आदर प्राप्त था। उसका स्थान देवी के तुल्य माना गया है। मनुस्मृति में नारी के आदर को प्राथमिकता दी गई है—'यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते, रमन्ते तत्र देवताः' (III-56); परंतु आज के सामाजिक परिदृश्य में नारी का शोषण एवं तिरस्कार श्रेष्ठ जीवन मूल्यों के लिए ख्यात भारत देश के लिए कलंक समान है। आज इस देश के पुरुष-प्रधान समाज में नारी जीवनपर्यंत उत्पीड़न का शिकार बनी रहती है और स्थिति और अधिक शोचनीय हो जाती है, जब उसे भ्रूण में ही समाप्त कर दिया जाता है। बेटी के प्रति भेदभाव माँ-बाप के घर पर ही शुरू हो जाता है, तो आगे उसे सम्मान किस प्रकार मिल सकता है। माता-पिता का आँगन ही एक ऐसा स्थान है, जहाँ बेटी को भरपूर प्यार, दुलार, आत्मसम्मान, आदर, सुरक्षा, अभय एवं आत्मबल प्राप्त हो सकता है। जैसा कि डॉ० शैल रस्तोगी के इस हाइकु में प्रकट है—'अलस धूप/ आँगन में लेटी है/ रानी-सी बेटी।' (हाइकु काव्य, पृ० 85)

डॉ० कुँवर बेचैन के निम्न हाइकु में जहाँ एक ओर आज के संसार में आतंक, संत्रम, असुरक्षा, अविश्वास एवं अनास्था के वातावरण का विकर्षण देखा जा सकता है, वहीं दूसरी ओर नारी की शोचनीय परिस्थिति एवं वेदना/ व्यथा भी प्रतिबिंबित होती है, जिसमें यह संसार उसके जीवन व अस्तित्व के लिए असुरक्षित बन चुका है—'किरन परी/ डरी-डरी नभ से/ फिर उतरी।' (हाइकु काव्य, पृ० 91)

भारतीय समाज में जहाँ एक ओर तो रोज नारीशक्ति / मातृशक्ति के नारे लगाए जाते हैं, नारी को देवी-तुल्य कहा जाता है; वहीं दूसरी ओर, उसी नारी का शोषण-उत्पीड़न किया जाता है, इस ढोंग व दिखावे के चलते नारी-सुरक्षा का प्रश्न ज्यों का त्यों बना हुआ है। जिस घर-परिवार में बेटी होती है, वहाँ उसकी सुरक्षा की चिंता उसके जन्म के साथ ही घर कर जाती है। लिंगभेद व नारी-शोषण की यह परिस्थिति स्पष्ट कर देती है कि हमारे जीवन मूल्य कितने खोखले, दोगले व आडंबरपूर्ण हैं।

डॉ० शैल रस्तोगी ने बेटी के युवा होते ही माता-पिता की चिंता बढ़ जाने की स्थिति को 'करेला बेल' का बिंब प्रयोग करते हुए कुछ इस तरह चित्रित किया है—'बढ़ने लगी। करेला बेल हुई/ प्यारी बिटिया।' (हाइकु काव्य, पृ० 185)

नारी के प्रति हमारे जीवनमूल्यों का एक नकारात्मक पक्ष दहेज-प्रथा के रूप में भी देखने को मिलता है। आज भी धन के लोभ में दहेज माँगा जाता है, वरन् नारी को उत्पीड़न झेलना पड़ता है, ताने सहने पड़ते हैं और अत्युग्र रूप में तो प्राणों की आहुति भी देनी पड़ जाती है। इस स्थिति को कमलेश भट्ट 'कमल' के इस हाइकु में देखा जा सकता है—'फूल-सी पली/ ससुराल में बहू/ फूस-सी जली।' (हाइकु काव्य, पृ० 187)

गुंजन अग्रवाल का हाइकु एक प्रश्न उठाता है कि जब नारी पर हो रहे अत्याचारों में नारी स्वयम् सम्मिलित है, तो नारी की सुरक्षा व सम्मान की बात करना सर्वथा निरर्थक है—'वंश की आस/ नारी, नारी को मारे/ कैसा विकास।' (हाइकु काव्य, पृ० 212)

भारतीय समाज में औसत नारी के दूसरों के लिए आत्मत्याग के जीवनोद्देश्य को अनिता ललित कुछ इस प्रकार कहती हैं—'तेरा जीवन/ सदा ही महकाऊँ/ मैं धूप-बाती।' (हाइकु काव्य, पृ० 187)

'धूप-बाती' के सबल बिंब में स्पष्ट है कि किस प्रकार स्वयं जलकर भी औसत नारी परिवार में खुशबू ही बिखेरती हुई अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है। बदले में नारी को अपमान, तिरस्कार, दुत्कार, उत्पीड़न, अत्याचार-यह कैसे जीवनमूल्य हैं; यह एक चिंतनीय विषय है। नारी-जीवन की व्यथा को उजागर करते ये तीन हाइकु देखें—

1-नारी जीवन/ असि पर चलना/ मूक हवन।

(ललित भावर, हाइकु काव्य, पृ० 190)

2-समझौतों के/ हवनकुंड, नारी/ समिधा बनी।

(डॉ० उर्मिला अग्रवाल, हाइकु काव्य, पृ० 190)

3-जीवन बीता/ वो कभी बनी राधा/ तो कभी सीता

(ज्योत्स्ना प्रदीप, हाइकु काव्य, पृ० 190)

अज्ञानता के अंधकार से लड़कर ज्ञान के आलोक की प्रसृति से जीवनमूल्यों को समृद्ध बनाया जा सकता है। ज्ञान के संवर्धन से ही जीवन के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सकता है, जीवन-यापन के लिए सही मार्ग का चयन किया जा सकता तथा इस जीवन के उद्देश्य/लक्ष्य को समझकर सफलतापूर्वक जिया जा सकता है। अपेक्षित है व्यक्ति तमस् को विजित करके आलोक का प्रश्रय ले यह मनोवैज्ञानिक के साथ-साथ आध्यात्मिक दोनों प्रकार के आलोक का प्रश्न है, जैसा कि कमला निखुर्पा के इस हाइकु में भणित है—'दीप ने थामी/ लौ की तलवार तो/ भागा

अँधेरा।’ (हाइकु काव्य, पृ० 92)

समय के साथ बदलते हुए समाज में जीवनमूल्यों में भी यथोचित/ यथायथ बदलाव अपेक्षित हो जाता है, अन्यथा व्यक्ति समाज में अस्पृश्य-सा होकर रह जायेगा। समीचीन यथार्थ को समझते हुए पुरातन रूढ़ियों को यथासंभव बदलते हुए जीवन के नए मूल्य गढ़ना समय की आवश्यकता बन जाता है। सुनीता अग्रवाल ने इस मुद्दे को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—‘चीर के बढ़ी/ रूढ़ियों का पर्वत/ घायल नदी।’ (हाइकु काव्य, पृ० 06)

डॉ० शैलजा सक्सेना का यह हाइकु मानव के मूल स्वरूप को व्याख्यायित करता है, जो युगों की परिणति के बावजूद अपनी सहज प्रवृत्तियों को नहीं बदल सकता—‘युग बदले/ दुनिया भी बदली/ आदमी वही।’ (हाइकु काव्य, पृ० 220)

यह एक मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक तथ्य है कि काम, लोभ, मोह, ईप्सा, लिप्सा, अहम, राग, द्वेष, इत्यादि मनोभाव सहज रूप से मानव-मन में उफनते रहते हैं, शेष जैसा भी विकास वह करता है, इन्हीं मनोवृत्तियों पर आधृत रहता है। अतएव जीवन को समयानुरूप सही दिशा प्रदान करने के लिए युगीन जीवनमूल्यों का निर्धारण करना अनिवार्य हो जाता है।

परस्पर निःस्वार्थ प्रेम, सौहार्द, सद्भाव, शांति, सत्कार, सहकार एवं समष्टिभाव मानवता को सब प्रकार के दोषों से मुक्त बना सकते हैं। मानव यदि इन जीवनमूल्यों को आत्मसात कर ले, तो निःसंदेह इस संसार को हिंसा, भय, भ्रम तथा घृणा से बचाया जा सकता है। यह न केवल वैदिक शास्त्रों का अपितु विश्व के सभी धर्मशास्त्रों का सार है। ‘पंचतंत्र’ के इस श्लोक में उदारता को समष्टिभावयुक्त जीवनादर्श के रूप में पुष्टि मिली है—‘अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुंबकम्।’ अर्थात् यह अपना है या पराया है, ऐसी गणना छोटी मानसिकता एवं विचारों वाले लोगों की होती है; उदात्तहृदय के लिए सारी पृथ्वी ही एक परिवार होती है। अथर्ववेद में एक प्रसंग आता है—‘माताभूमि पुत्रौहम् पृथिव्याः’ (12.1.12) अर्थात् भूमि माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ; यहाँ एक ओर भूमि एक भूखंड के लिए प्रयुक्त हुआ है, परंतु पृथ्वी समग्रतः पूरे विश्व की व्याप्ति लिए हुए है—जिससे एक ओर तो जन्मभूमि को माता कहा गया तो दूसरी ओर स्वयं को पूरी पृथ्वी का पुत्रस्वरूप माना है। स्पष्टतः ‘भूमि’ से जहाँ स्थानिकता का सत्कार है, वहीं ‘पृथ्वी’ से सार्वभौमिकता को समादृत किया है, जिसमें सारे संसार की एकता एवं क्षेम कामना निहित है। विश्वशांति की कामना की पूर्ति के लिए जीवन में परस्पर प्रेम, सत्कार व सहकार को अनिवार्यतः स्थान देना होगा। समग्र सृष्टि में एक ही शाश्वत सत्य की व्याप्ति है, अतः इसे यदि अहं के भाव से ऊपर उठकर देखें तो संपूर्ण मानवता एक सूत्र में बाँधी जा सकती है; मानव एक-दूजे के लिए दुआ करे तो संसार सुखागार बन सकता है, इसमें संदेह नहीं। निम्न हाइकु में ऐसे ही जीवन मूल्यों की परिकल्पना की गई है—

1-धरा-आकाश/ अणु-परमाणु में/ तेरा आभास। (जया नर्गिस, पृ० 210)

2-‘मैं’ का अंत/ युगों-युगों तक हो/ मन-बसंत। (ज्योत्सना प्रदीप, पृ० 198)

3-खोल के देखो/ दुआ के दरवाजे/ चैन मिलेगा। (डॉ० सरस्वती माथुर, पृ० 205)

समसामयिक युग की अत्यधिक व्यस्तता व भागदौड़ में व्यक्ति अपने अस्तित्व के संघर्ष में इस प्रकार फँसा है कि उसके पास जीवनमूल्यों के बारे में सोचने का समय तक नहीं है; ऐसे में वह आगामी पीढ़ी को भला क्या देगा? अपनी समृद्धि, अपनी प्रगति, अपनी प्रतिष्ठा, अपना लाभ,

केवल यही आज व्यक्ति का उद्देश्य बन गया है, जिस कारण करुणा, प्रेम, सहानुभूति जैसी भावनाएँ दम तोड़ चुकी हैं। हर ओर अवसरवादिता, स्वार्थपरता व अहंमन्यता का प्रभाव देखा जा सकता है। घर-परिवार से लेकर समाज, राजनीति व सामुदायिक स्तर पर भ्रष्टाचार व्याप्त है। अनैतिकता, मर्यादाहीनता, मिथ्याचार, उच्छृंखलता, उदंडता, आडंबर, फूहड़पन व अश्लीलता जैसे विकार आज सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों का अतिक्रमण करते हुए देखे जा सकते हैं। जरूरतमंद की कोई परवाह नहीं, शिकायतों की कोई सुनवाई नहीं, अपराध के लिए यथोचित दंड नहीं, प्रजा के प्रति न्यायपूर्ण राजधर्म नहीं, सत्य का सत्कार नहीं, संबंधों में मर्यादा नहीं, नेतृत्व में निष्ठा नहीं, धर्म में सच्चाई नहीं, चरित्र में शालीनता नहीं, कुल मिलाकर नैतिकता के मानदंड बदल चुके हैं और जीवनमूल्य भी तदनुसार बदलते जा रहे हैं। इन्हीं मूल्यों के समसामयिक संदर्भों को हिंदी हाइकुकारों ने किसी न किसी रूप में गहन वैचारिकता एवं गंभीर चिंतन के साथ मुखरित किया है। आलेख की सीमा को ध्यान में रखते हुए अधिक उद्धरण नहीं दिए जा सकते, परंतु विषय और गंभीर एवं गहन अनुशीलन व शोध के लिए खुला है।

संदर्भ

1. डॉ. कुँवर दिनेशसिंह, पगडंडी अकेली (हाइकु संग्रह), अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, 2013
2. डॉ. गोपालबाबू शर्मा, काफिले रोशनी के, अरविन्द प्रकाशन, अलीगढ़, 2014
3. डॉ. भावना कुँअर, धूप के खरगोश, अयन प्रकाशन, दिल्ली, 2012
4. रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', मेरे सात जनम, अयन प्रकाशन, दिल्ली, 2011
5. रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', डॉ. भावना कुँअर, डॉ. हरदीप कौर संधू (सं), यादों के पाखी, अयन प्रकाशन, दिल्ली, 2012
6. रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', डॉ. भावना कुँअर (सं), हाइकु काव्य : शिल्प एवं अनुभूति, अयन प्रकाशन, दिल्ली, 2015
7. डॉ. सुधा गुप्ता, खोई हरी टेकरी, पर्यावरण शोध एवं शिक्षा संस्थान, मेरठ, 2013
8. डॉ. हरदीप कौर संधू, रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु' (सं), हिंदी हाइकु (अंतर्जाल)।

रु ३, सिसिल क्वार्टर, चौड़ा मैदान
शिमला 171004 हिमाचल प्रदेश
मो० 09418626090

विष्णु प्रभाकर के नाटकों में चित्रित मनोवैज्ञानिक समस्या

प्रा० दादासाहेब नारायण डांगे

हिंदी विभाग

ए०एस०सी० कॉलेज, राहाता

डॉ० पोपट विट्ठल कोटमे

हिंदी विभागाध्यक्ष

के०टी०एच०एम० कॉलेज, नासिक

मानव-प्रतिमा के अंतःबाह्य स्तरों का अध्ययन मनोविज्ञान में किया जाता है। मनोविज्ञान में मानव केशरीरिक गठन, शक्ल-सूरत, व्यक्तिगत उपलब्धि, ज्ञान, संवेद तथा सामाजिक गुणों के साथ-साथ मानव के व्यवहार का भी अध्ययन किया जाता है। आधुनिक साहित्य को मनोविज्ञान ने पर्याप्त प्रभावित किया है। मनुष्य के अचेतन मन में दमित रहनेवाली अनुभूतियाँ, स्मृतियाँ एवं विचार ही कुछ समय के बाद भय, आशंका, मृत्यु जैसी स्थितियों के रूप में जन्म लेती हैं। मानव के मन में उत्पन्न हीनभावना उसमें अहंभाव का निर्माण करती है, जिससे मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है। वस्तुतः मानव का अंतर्जीवन ही उसके बहिर्जीवन का प्रेरक एवं परिचालक है। अंतर्मन के अतल में दबी प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक जीवन को ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करती हैं। विष्णु प्रभाकर समकालीन युग के प्रमुख मनोवैज्ञानिक लेखकों में से एक हैं। व्यक्ति-मन की सभी दबी हुई इच्छाओं एवं भावनाओं का सूक्ष्म चित्रण उन्होंने अपने नाटकों में किया है। उनके अनुसार मनुष्य के असामान्य व्यवहार का प्रेरक उसके अंतर्जगत की विकृतियाँ ही हैं। उन्होंने मनुष्य के मन में उत्पन्न विभिन्न मानसिक समस्याओं जैसे—अंतर्द्वंद्व, पागलपन, अतृप्त इच्छा, विद्रोह, घृणा, कुंठा एवं घुटन, अनास्था, आत्महंता की प्रवृत्ति, निराशा एवं भय आदि का अत्यंत सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है। उनके नाटकों में प्रस्तुत इन समस्याओं को मनोविज्ञान के धरातल पर जानने का प्रयास प्रस्तुत आलेख में हुआ है।

प्रभाकरजी की नाट्य रचना-प्रक्रिया में जीवन एवं उसकी घटनाएँ उन्हें नाटक-लेखन की ओर प्रेरित करती हैं। वे विचारों से अधिक जीवनानुभवों के माध्यम से नाटकों की रचना करते हैं। यद्यपि उन्होंने राष्ट्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, समस्या-प्रधान एवं मनोवैज्ञानिक आदि कई प्रकार के नाटकों की रचना की है, परंतु उनकी संरचना मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के आधार पर होती है। इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'सामाजिक, राजनीतिक, घरेलू जैसा भी कथानक हो, मैं ताना-बाना अपने सामर्थ्य के अनुसार मनोवैज्ञानिक आधार पर ही बुनता हूँ। मेरे लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अर्थ है, मनुष्य जो कुछ दिखाई देता है, वह नहीं है, उसके

अतिरिक्त भी बहुत-कुछ है।¹¹

समाज के उच्च तथा निम्नवर्ग की अपेक्षा प्रभाकरजी के नाटकों में मध्यवर्गीय मानव का जीवन अपने मानसिक संघर्ष तथा द्वंद्व के साथ उभरकर आया है। उनकी संपूर्ण मानव-सृष्टि मनोविज्ञान पर ही टिकी हुई है और इसीलिए वह पाठकों को उद्वेलित तथा आंदोलित करती है। उनके नाटकों में चित्रित मनोवैज्ञानिक समस्याओं को निम्न रूप से देखा जा सकता है—

1. अंतर्द्वंद्व की समस्या

प्रभाकरजी के नाटकों में चित्रित कई पात्र इस अंतर्द्वंद्व की समस्या से जूझते दिखाई देते हैं। उन्होंने स्वयं नाटक की व्याख्या करते हुए कहा है कि, 'नाटक है भी क्या? मानव के बाह्य तथा आंतरिक संघर्ष की कहानी है, जो मंच पर से प्रस्तुत की जाती है। इसलिए वह इतनी सशक्त है और वह मानव समाज को प्रभावित करती है।'¹²

प्रभाकरजी का 'डॉक्टर' इसी प्रकार का नाटक है, जिसमें एक नारी के आंतरिक संघर्ष का चित्रण किया गया है, जो एक समय में अनपढ़ होने के कारण अपने पति द्वारा परित्यक्त कर दी गई थी। डॉक्टर नाटक की डॉ० अनिला के मन में कर्तव्य और भावना के बीच संघर्ष चलता है। डॉ० अनिला के इसी मानसिक द्वंद्व का नाटक में बड़ा ही सुंदर विधान हुआ है। डॉ० अनिला का यह कथन, 'आखिर ऑपरेशन करना ही होगा, पर मैं वह ऑपरेशन नहीं करूँगी...लेकिन सब इंतजाम हो चुका है...और मैं क्या करूँ।'¹³ उसके मानसिक संघर्ष को विश्लेषित करने में सफल है। यहाँ डॉ० अनिला ऑपरेशन के समय भयानक मानसिक संघर्ष से जूझती है।

प्रभाकरजी के नाटकों में भावनात्मक चिंतन अधिक मिलता है। उनमें लंबे-लंबे स्वगत कथनों के माध्यम से मानवीय संघर्ष को स्पष्ट किया गया है। 'डॉक्टर' नाटक में अनिला की अवचेतना ऑपरेशन करते समय उसे बार-बार कचोटती है। वह स्वयं से कहती है—'डॉ० अनिला! शाबास, यह सुनहरा अवसर है। अपनी इच्छा पूरी करो। अपना बदला लो, नारी के अपमान का बदला लो...मैं ही तुम्हारे जन्म का, तुम्हारी प्रगति का, तुम्हारी शोहरत का कारण हूँ। मैं बदला चाहती हूँ। पुरुष को तड़पते देखना चाहती हूँ...बह जाने दो रक्त...निकल जाने दो प्राण..सईदा को हटा दो...नहीं, नहीं, रुको, रुको...तू नहीं सुनती, नहीं...सुनती...तूने मुझ पर ही छुरी चला दी...तूने मधुलक्ष्मी की हत्या कर दी, तू अपने अपमान को भूल गई, अपनी प्रतिज्ञा को भूल गई।'¹⁴ इसीप्रकार 'नवप्रभात' नाटक का सम्राट अशोक उद्विग्न मन शून्य में दृष्टि गढ़ाए स्वयं से कह उठता है—'...मेरी आत्मा निर्मल होने लगी, पर...पर हाहाकार, वह दारुण चीत्कार, वह असंख्य जीवित चिंताओं से उठनेवाली संतप्त आहें...वह आबाल-वृद्ध, वनिताओं के नेत्रों से बहती हुई ज्वाला, वह...वह क्या मुझे नई सृष्टि करने देगी।'¹⁵ उक्त कथन से अशोक के मन में उत्पन्न मानसिक द्वंद्व को प्रभाकरजी ने उजागर करने का प्रयास किया है।

विष्णु प्रभाकर जी अंतर्द्वंद्व का चित्रण करने के लिए प्रायः स्वगत-कथन का प्रयोग करते हैं। इन संवादों के माध्यम से पात्रों के मानसिक संघर्ष, बेचैनी तथा व्याकुलता स्पष्ट होती है। अवचेतन मन की पीड़ा, तनाव एवं द्वंद्व का चित्रण प्रभाकरजी के नाटकों में प्रमुखता से मिलता है। 'युगे-युगे क्रांति' में देवीप्रसाद का उक्त कथन उसके अंतःसंघर्ष को उजागर करता है। वह नींद में बड़बड़ाता है, 'नहीं-नहीं। यह नहीं हो सकता। मैं इसी क्षण उसके पास जाऊँगा। मैं उसका पिता

हूँ। मैं उसे अभी लेकर जाऊँगा। मुझे समाज में रहना है, और...।⁶

भारतीय समाज में पुरुष-प्रधान संस्कृति है। दांपत्य संबंधों में पति की इच्छा सर्वोपरि होती है। पत्नी सदा से पति को परमेश्वर मानकर अपनी इच्छाओं को दबाती रही हैं। जीवन के प्रत्येक मोड़ पर वह पुरुष की इच्छा पर जीने को विवश है। परंतु इससे वह भीतर से कितनी टूट जाती है, इसे समझ पाना सहज नहीं है। प्रभाकर जी ने अपने कई नाटकों में नारी की इस मनोदशा का सूक्ष्म अंकन किया है। 'अब और नहीं' नाटक की शांता का उक्त कथन स्त्री की इसी मनःस्थिति को उजागर करता है। शांता अपनी इस घुटन-भरी जिदगी से ऊबकर अपनी बेटी शुभ्रा से कह उठती है, 'तुझे उनसे लड़ना होगा। खिड़कियों को जबरदस्ती खोल देना होगा, चाहें उँगलियाँ ही क्यों न घायल हो जाएँ। अपने बच्चों को अन्याय का विरोध करना सिखाना होगा। मुझे तो देर हो गई, फिर भी मैं अपना पथ खोज लूँगी।' शांता के इस कथन से जीवनभर अपने आपसे संघर्ष करनेवाली एक अस्वस्थ स्त्री की मनोदशा चित्रित हुई है।

प्रभाकरजी हमेशा से नारीमुक्ति के पक्षधर रहे हैं। 'बंदिनी' नाटक में उन्होंने नारीमुक्ति की माँग की है। 'बंदिनी' में एक स्त्री को देवी के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे अंधविश्वास की क्रूर कारा में जकड़ लिया जाता है और उसका पति सुरेंद्र उसे इस घुटन से छुटकारा दिलाने की कोशिश करता है। परंतु वह विवश है। क्योंकि अंधश्रद्धा उसकी बाधा बनती है। ऐसी स्थिति में सुरेंद्र अपने-आपसे लड़ता है। उसके इसी मानसिक द्वंद्व को प्रभाकरजी ने उक्त संवाद के द्वारा व्यक्त किया है। सुरेंद्र कहता है—'तुम्हारी संपूर्ण चेतना को अंधविश्वास ने ग्रस लिया है। तुम उमा नहीं हो! तुम देवी नहीं हो। तुम बंदिनी हो! काश मैं तुम्हें अंधविश्वास की इस क्रूर कारा से मुक्त कर पाता।'⁸

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रभाकरजी ने अपने नाटकों में विभिन्न पात्रों के माध्यम से व्यक्ति के आंतरिक द्वंद्व का सूक्ष्म चित्रण किया है।

2. अकेलेपन की समस्या

समकालीन जीवन में औद्योगिकता के दबाव, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना, महानगरीय संबंधगत निपेक्षता तथा परिवार एवं कार्यक्षेत्र के तनावों ने व्यक्ति को भीतर तक इतना झकझोर दिया है कि परिवार में माता-पिता, पति-पत्नी, बच्चों, पड़ोसियों तथा रिश्तेदारों के साथ रहते हुए भी वह अपने आपको मन के किसी-न-किसी कोने में एकाकीपन से ग्रस्त पाता है। पारिवारिक, आर्थिक दबावों तथा सामाजिक जीवन की विसंगतियों से त्रस्त होकर व्यक्ति दिखावटी लगने लगता है और धीरे-धीरे उसका यह अकेलापन उसकी आत्मा पर हावी होता है। अतः उसका अंतर्मन इस एकाकीपन के साथ-साथ शोक, दुःख, घुटन, अवसाद, निराशा तथा संताप जैसी मनोवृत्तियों से भर जाता है।

प्रभाकरजी के नाटकों में अकेलेपन से जूझते व्यक्ति की मनोदशा का अत्यंत सूक्ष्म अंकन हुआ है। 'टूटते परिवेश' नाटक इसी समस्या को प्रस्तुत करता है। इस नाटक में विश्वजीत के परिवार के सभी सदस्य एक-एक कर घर से बाहर निकल गए हैं। वे और उनकी पत्नी दोनों अपने घर में अकेले रह गए हैं। विश्वजीत से यह अकेलापन सहा नहीं जाता। वे अपनी इस व्यथा को अपने बेटे विवेक से कहते हैं—'सब अकेले अपने लिए ही जीना चाहते हैं। दूसरे की किसी को

चिंता नहीं रह गयी है। एक हमारा जमाना था कि बड़ों की इजाजत के बिना कुछ कर ही नहीं सकते थे।⁹ यहाँ प्रभाकरजी व्यक्ति के अकेलेपन की समस्या को उठाने के साथ ही मूल्यों में आई गिरावट को भी स्पष्टता से चित्रित करते हैं।

इसीप्रकार 'टूटते परिवेश' की करुणा बच्चों की ओर से होनेवाली अवहेलना के कारण भीतर-ही-भीतर टूट जाती है। ऐसी स्थिति में उसकी वैयक्तिक संवेदना एकाकीपन से ग्रस्त दिखायी देती है। वह अपने-आपको अत्यधिक अकेला अनुभव करती हुई कहती है—'...मैं कहती हूँ, तुम सबको अपनी-अपनी पड़ी है। दीप्ति भी चार दिन से घर छोड़कर छात्रावास में जाकर रहने लगी है। लेकिन कभी किसी ने यह भी सोचा कि माँ बूढ़ी हो गई है, खाना पकाते समय उसके हाथ काँपते हैं।'¹⁰ 'टूटते परिवेश' में प्रभाकरजी ने विश्वजीत और करुणा के द्वारा वृद्धों की मानसिक स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है।

वर्तमान युग में महानगरीय मध्यवर्गीय परिवारों में कितनी शुष्कता आती जा रही है। परिवार के सदस्य परस्पर एक-दूसरे के लिए अजनबी होते जा रहे हैं। पारिवारिक एकता का दायरा सिकुड़ते-सिकुड़ते एकल व्यक्ति में समाहित हो गया है और इस एकाकीपन के कोहरे से भरे परिवेश में व्यक्ति समूह के मध्य अपने-आपको तलाश रहा है। प्रभाकरजी ने 'टूटते परिवेश' के विश्वजीत के माध्यम से व्यक्ति की इस यांत्रिकता से भरी अकेलेपन की छटपटाहट को प्रमुख रूप से उभारने का प्रयास किया है। विश्वजीत कहते हैं—'क्या ऐसा नहीं लगता कि जैसे मैं किसी बेगाने प्रदेश में आ निकला हूँ, जहाँ कहीं अपना पता नहीं होता। जीने के अर्थ खोजते-खोजते कैसा हो जाता है, आदमी अर्थहीन, असंगत, अकेला, अजनबी, निर्वासित, बेगाना एक ही सिक्के के ये कितने नाम हैं?'¹¹

स्वातंत्र्योत्तर वर्षों के दबाव-तनाव के कारण मनुष्य न केवल जरूरतों का ढेर बनकर रह गया, अपितु अपनी पहचान भी खो बैठा है। फलतः वह अजनबी और आत्मनिर्वासित भी हो गया है। विश्वजीत का उक्त कथन इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। आज वर्तमान युग में यह अकेलापन व्यक्ति को मिला एक अभिशाप है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति भोगने के लिए विवश है।

3. कुंठा एवं घुटन की समस्या

प्रभाकरजी मूलतः मानवतावादी लेखक हैं। उनके अधिकांश नाटक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक हैं, जिसके माध्यम से प्रभाकरजी कभी जागृति का मंत्र फूँकते हैं तो कभी नारी-शोषण को मुखरित करते हैं। कहीं इनमें पीढ़ीगत संघर्ष उभरता है तो कहीं समाज में पनप रही विकृतियों का चित्रण मिलता है। उनके नाटकों के पात्र अधिक सजीव लगते हैं। वे जीवन की कठिनाइयों से तथा यथार्थ से जूझते हैं। आधुनिक सभ्यता एवं पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण भारतीय समाज का ढाँचा चरमरा गया है, जिसके फलस्वरूप समाज में विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। व्यक्ति मन पर इन समस्याओं का असर पड़ा है, जिसके कारण उत्पन्न कुंठा एवं घुटन को प्रस्तुत करना विष्णुजी का उद्देश्य है।

प्रभाकरजी के 'अब और नहीं' नाटक का शशांक इसी कुंठा एवं घुटन का शिकार हुआ है। उसके पिता वीरेंद्रप्रताप के तानाशाही व्यवहार से उसकी और उसकी माँ शांता की सारी आशा-आकांक्षाओं का दमन हुआ। वे दोनों मानसिक संत्रास से ग्रस्त हैं। शशांक स्वयं अनुभव करता है

कि जीवन में पग-पग पर अपने पिता के निर्देशों का पालन करते-करते वह कितना लाचार एवं बेबस हो गया है। अपनी इसी घुटन को व्यक्त करता हुआ शशांक कहता है, 'माँ पागल हो गई है, जैसे ही एक दिन हम भी हो सकते हैं, पागल विद्रोही। लिजलिजे तो हो ही गए हैं। क्या यह नहीं हो सकता था कि अगर हमें अपनी इच्छानुसार चलने दिया जाता तो हम अधिक उपयोगी और कुशल प्रमाणित हुए होते?'¹² इसी प्रकार 'टूटते परिवेश' में प्रभाकरजी विश्वजीत के माध्यम से व्यक्ति-मन की घुटन को व्यक्त करते हुए कहते हैं—'अच्छा तो है स्वतंत्र होना! पर मैं ठहरा दुनियादार आदमी। स्वतंत्र और सुखी होने के लिए कभी माथा-पच्ची नहीं की। स्वार्थ के अलावा कुछ को प्यार करने का वक्त नहीं मिला। ऐसी ही मजबूरियों से चिपका रहा। स्वभाव की मजबूरी, बच्चों को प्यार करने की मजबूरी...बाप होने की मजबूरी, उनको खो देने पर यह आशा करने की एक दिन वे लौट आएँगे।'¹³ विश्वजीत का यह कथन वर्तमान युग में नई पीढ़ी की ओर से बुजुर्गों की दुर्दशा और उससे बुजुर्गों में उत्पन्न हीनभावना को व्यक्त करता है।

इसी प्रकार 'अब और नहीं' नाटक में प्रभाकरजी ने शांता के द्वारा पति के दबाव में जीनेवाली स्त्री की घुटनभरी जिंदगी को अभिव्यक्त किया है। शांता जीवनभर अपने पति की इच्छाओं को सर्वोपरि मानकर जीती रही और इसी कोशिश में वह निरंतर मानसिक स्तर पर टूटती रही। उसे अपनी समस्त इच्छाओं का दमन करना पड़ा। उसकी इसी कुंठा एवं घुटन को उक्त संवाद के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वह कहती है—'मैं विश्राम चाहती हूँ। मैं अवकाश चाहती हूँ। कोल्हू के बैल की तरह बहुत चक्कर काटे, बहुत पत्थर तोड़े, बागों में पानी दिया (दोनों हाथ आगे करके) देखो तो मेरे हाथ कितने सख्त हो गए हैं। (पैर आगे करके) देखा यह मेरे पैरों में बेड़ियों के कितने गहरे दाग हैं। मैं कैदखाने से अब बाहर जाना चाहती हूँ। मैं मुक्ति चाहती हूँ। वह मुक्ति मुझे कोई नहीं देना चाहता। डॉक्टर साहब! मेरे चारों ओर हवा बंद है। मैं मुक्त हवा चाहती हूँ।'¹⁴ शांता का यह कथन नारी की घुटन को सूक्ष्मता से उद्घाटित करता है। इसीप्रकार 'श्वेतकमल' की बिंदु का उक्त कथन उसकी कुंठा एवं निराशा को उद्घाटित करता है, 'मैं एक असहाय और असमर्थ नारी, दरिदों के संसार में निपट अकेली।'¹⁵

इस प्रकार प्रभाकरजी ने अपने नाटकों में विभिन्न पात्रों के माध्यम से व्यक्ति की कुंठा, घुटन, निराशा एवं उसके मानसिक विघटन को अत्यंत सूक्ष्मता से चित्रित किया है।

4. विद्रोह की भावना

विद्रोह की भावना तब उत्पन्न होती है, जब कोई व्यक्ति अपना जीवन सरल रूप से जी रहा होता है और उसमें किसी अन्य व्यक्ति या परिस्थिति के कारण अवरोध का निर्माण हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति कुछ हद तक यह प्रभाव सहता रहता है, परंतु अतिरिक्त हो जाने पर वह एक तो पागल हो जाता है, या फिर उसका मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और वह विद्रोह कर बैठता है। प्रभाकरजी के नाटकों के कई पात्र ऐसी परिस्थिति में विद्रोह करते हैं। प्रभाकरजी ने अत्यंत मार्मिकता से अपने पात्रों के माध्यम से विद्रोह की भावना को अभिव्यक्त किया है।

समाज में पुरुष-प्रधान संस्कृति प्रचलित है, जिसके चलते पुरुष स्त्री को हीन समझता है। उसे अपने दबाव में रखना चाहता है, जिससे स्त्री प्रताड़ित हो जाती है। प्रभाकरजी के नाटकों में अधिकतर नारीपात्रों के माध्यम से विद्रोह को चित्रित किया गया है। 'युगे-युगे क्रांति' की शारदा

एक विद्रोही नारी के रूप में हमारे सम्मुख आती है। सिर से साड़ी का पल्ला उतर जाने पर उसे पिता द्वारा थप्पड़ मारे जाने पर वह समाज के खोखले रीति-रिवाजों का विरोध करते हुए कहती है—‘मैं पूरे विश्वास के साथ आपसे कहती हूँ कि जिस दिन मेरे सुधारक पिता श्रीमान प्यारेलालजी ने भरे बाजार में मेरे गाल पर इसलिए थप्पड़ मारा था कि मेरी साड़ी का पल्ला सिर से उतर गया था। तो मैंने उसी दिन निश्चय कर लिया था कि मैं इन पुराने दकियानूसी रीति-रिवाजों को अब और नहीं मानूँगी।’¹⁶

इसी प्रकार ‘टगर’ नाटक की टगर के मन में ऐसी ही कसक है, जो उसे विद्रोह के लिए विवश करती है। वह समाज के पुरुषवर्ग से निरंतर प्रताड़ित होती है। इसीलिए पुरुषों से प्रतिशोध लेने की कोशिश में वह निरंतर पतन के गर्त में फँसती चली जाती है। उसकी यह विवशता विद्रोह का रूप धारण कर लेती है। वह नाजिम से कहती है—‘पहले मैंने भी यही सोचा था। तभी तो प्रतिहिंसा की आग भभक उठी थी। मैंने उसकी हत्या करने का विचार किया था। सोचा था, पुरुष जाति से बदला लूँगी। उसने मुझे एक बार छोड़ा है, मैं बार-बार पुरुषों को छोड़ूँगी।’¹⁷

इसी प्रकार प्रभाकरजी ने ‘श्वेतकमल’ नाटक में एक कामकाजी नारी की प्रताड़ना से उत्पन्न विद्रोह की भावना को अभिव्यक्त किया है। ‘श्वेतकमल’ की बिंदु नौकरी करने के लिए विवश है, क्योंकि उसके पिता की असमय मृत्यु हो जाने से परिवार की जिम्मेदारियों का भार उस पर आता है। परंतु घर से बाहर निकलने पर उसे कदम-कदम पर पुरुषवर्ग से अपमानित होना पड़ता है, जिससे वह भीतर से टूट जाती है और एक दिन इन परिस्थितियों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने का प्रयास करती है। वह कहती है—‘कब तक साँप-सीढ़ी का यह खेल खेलती रहूँगी, आखिर कबतक? मेरे लिए जीवन का क्या केवल इतना ही अर्थ रह गया है कि एक नौकरी छोड़कर दूसरी करूँ? फिर तीसरी छोड़ूँ...कहाँ खत्म होगा यह सिलसिला, कहाँ आखिर?’¹⁸

इसीप्रकार ‘होरी’ नाटक में पंचों द्वारा होरी पर सौ रुपये नकद और तीन मन अनाज डाँड लगाने का फैसला कर उस पर अन्याय किया जाता है, तब होरी की पत्नी धनिया अपने पर किए गए अन्याय के कारण अत्यंत क्रोधित होकर पंचों के विरुद्ध विद्रोह करते हुए कहती है—‘मैं न एक दाना अनाज दूँगी, न एक कौड़ी डाँड! जिसमें बूता हो चलकर मुझसे ले। हमें नहीं रहना है बिरादरी में। बिरादरी में रहकर हमारी मुकुल न हो जाएगी।’¹⁹ प्रभाकरजी ने धनिया के चरित्र के द्वारा एक ऐसी भारतीय श्रमिक नारी की वैयक्तिक मानवीय संवेदना को उठाने का प्रयास किया है, जो निरंतर रूप से साधारण जीवन जीनेवाले अपने परिवार पर किए जानेवाले अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करती रही है।

आज शिक्षा-व्यवस्था में भ्रष्टाचार पनप रहा है, जिसके परिणामस्वरूप युवापीढ़ी निराश एवं हताश होकर दर-दर की ठोकरें खाने के लिए विवश है। नौकरी न मिलने के कारण पढ़े-लिखे बच्चे बेकार हो गए हैं, जिससे उनको मानसिक संत्रास से गुजरना पड़ रहा है। प्रभाकरजी ने ‘टूटते परिवेश’ में इसी परिस्थिति के शिकार हुए विवेक की मानसिक घुटन एवं विद्रोह को व्यक्त किया है। नौकरी न मिलने से आई निराशा विवेक को व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए मजबूर कर देती है। उसका उक्त कथन—‘मुझमें यदि कुछ प्रतिभा है तो बस अर्जियाँ लिखने की। आज का युवक अर्जियाँ लिखते-लिखते मशीन बन गया है। लेकिन मैं नहीं बनूँगा मशीन। मैं नहीं लिखूँगा अर्जियाँ।’²⁰ उसकी निराशा तथा उसके विद्रोह को प्रकट करता है। विवेक के माध्यम से

प्रभाकरजी ने समकालीन युग की वास्तविक एवं गंभीर समस्या का भाष्य किया है।

‘अब और नहीं’ नाटक में शांता की छोटी बेटी शुभ्रा के साथ वही घटित होता है, जो कुछ समय पहले उसके साथ घटित हुआ था। अपने समान अपने पुत्री की दुर्दशा देखकर शांता उद्विग्न हो उठती है। यहाँ प्रभाकरजी ने शांता के माध्यम से नारी की छटपटाहट को दिखाते हुए पुरुष-प्रधान समाज पर तथा पुरुषी अहंकार पर प्रहार किया है। नारीमुक्ति का स्वप्न देखनेवाले विष्णु जी नारी को विद्रोहिणी रूप में देखना चाहते थे। शुभ्रा के उक्त संवाद से हम इसे समझ सकते हैं। शुभ्रा कहती है—‘लेकिन मैं अपने मन को इस तरह नहीं टूटने दूँगी। आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह करने से भी पीछे नहीं हटूँगी।’²¹ इस प्रकार प्रभाकरजी के नाटकों के पात्र, खासकर नारीपात्र किसी-न-किसी घटना, व्यक्ति या परिस्थिति से प्रताड़ित होकर अंत में उसके विरुद्ध विद्रोह करते दिखाई देते हैं। प्रभाकरजी ने अत्यंत मार्मिकता से इन पात्रों के माध्यम से विद्रोह की समस्या को उठाकर उसका मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्लेषण किया है।

5. अन्य समस्या

प्रभाकरजी मनोवैज्ञानिक नाटकों की रचना करते समय व्यक्ति के अंतर्मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावदशाओं का अध्ययन करते हैं। व्यक्ति-मन की उन्हें अच्छी परख है। व्यक्ति-मन की कुंठा, घुटन, दुःख एवं पीड़ा, निराशा, अकेलापन, अजनबीयत, अंतर्द्वंद्व, विद्रोह जैसी विभिन्न मानसिक विकृतियों का उनके नाटकों में चित्रण हुआ है। साथ ही जीवन के प्रति अनास्था का भाव, आत्महंता की प्रवृत्ति, जिज्ञासा एवं पागलपन जैसी अन्य विकृतियों को भी उन्होंने अपने नाटकों में बखूबी प्रस्तुत किया है। प्रभाकरजी ने स्वयं तत्कालीन जीवन में पारिवारिक विघटन की संवेदना को भोगा था। पारिवारिक विघटन ही अंत में मानसिक विघटन की समस्या को उत्पन्न करता है। वर्तमानयुग में औद्योगीकरण, आर्थिक दबाव तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना ने पारिवारिक व्यवस्था को तोड़ दिया है। परिणामस्वरूप व्यक्ति के जीवन में बिखराव सा आ गया है। प्रभाकरजी ने व्यक्ति के इसी बिखराव को अपने नाटकों में अभिव्यक्त किया है। ‘टूटते परिवेश’ उनका ऐसा ही एक नाटक है, जिसमें युवापीढ़ी की आत्मकेंद्री एवं अर्थकेंद्री बनने की इच्छा ने बुजुर्गों के मन पर चोट की है। अब बुजुर्गों को अपने जीवन के प्रति अनास्था होने लगी है। ‘टूटते परिवेश’ के विश्वजीत को अपने बच्चों के उपेक्षित व्यवहार से अपना अस्तित्व फालतू लगने लगता है। वे अपने जीवन के प्रति अनास्था प्रकट करते हुए कहते हैं—‘लोग कहते हैं कि मैं 65 वर्ष की आयु में भी पचास से ऊपर नहीं लगता। नहीं लगता हूँगा, पर मन से तो मैं 75 का हूँ। कोई सुनता है मेरी बात, सभी समझते हैं धरती पर बोझ हूँ, बेकार का। कैसा वक्त आ गया है।’²²

इसीप्रकार प्रभाकरजी ने अपने एक और नाटक ‘कुहासा और किरण’ में पति के कूकर्मों का पता लगने पर अत्यंत व्यथित हुई स्त्री का, जो अंत में अपना जीवन समाप्त करती है, चित्रण किया है। नाटक की मालती अपने पति को सही मार्ग पर लाने का भरसक प्रयास करती है, परंतु अंत में वह हार जाती है। इसीलिए वह इस कलांकित जीवन से मुक्त होना चाहती है। वह आत्महत्या करने से पूर्व अपने पति कृष्णचैतन्य के नाम पत्र लिखकर रखती है। उसके पत्र में लिखे संवाद उसकी निराशा एवं अनास्था को प्रकट करते हैं—‘आपको रोकने के भी परोक्ष-अपरोक्ष प्रयत्न मुझसे जाने-अनजाने हुए। ऊपर से न चाहकर भी जब हम कुछ करते हैं तो वह अनायास नहीं होता, हमारी पूरी

चेतना उसमें जुड़ी रहती है। मैंने बार-बार अनुभव किया कि मेरी चेतना मर नहीं गई है...बहुत सोचती की वह शक्ति कहाँ से पाऊँ, जो आपको रोक सके। सुना था बलिदान में बड़ी शक्ति होती है...।²³ मालती के उक्त कथन से उसकी अनास्था एवं उसकी आत्मत्याग की भावना ही व्यक्त हुई है।

इस प्रकार प्रभाकरजी ने अपने नाटकों में निर्जीव पारिवारिक संबंध, नीरसता तथा उदासीन परिवेश, निरर्थक टकराहट, जीवन का ठहराव, व्यक्ति की विवशता, ऊब तथा संत्रास से भरे जीवन, बेगानेपन, अजनबीयत, निराशा, असुरक्षा की भावना, निर्वासन आदि समस्याओं को चित्रित किया है। इन समस्याओं का मूल आधार मनोविज्ञान है। प्रभाकरजी ने अपने नाटकों में मन का विभिन्न कोनों से सूक्ष्म अध्ययन कर उसकी प्रत्येक दशा को सुंदरता से अभिव्यक्त किया है और एक सफल मनोवैज्ञानिक नाटककार होने का परिचय दिया है।

संदर्भ

1. डॉ० सुभाष रस्तोगी, विष्णु प्रभाकर का साहित्य, पृ० 75
2. वही, पृ० 76
3. विष्णु प्रभाकर, डॉक्टर, पृ० 81
4. वही, पृ० 199
5. विष्णु प्रभाकर, नवप्रभात, पृ० 105
6. विष्णु प्रभाकर, विष्णु प्रभाकर, संपूर्ण नाटक, भाग-4, युगे-युगे क्रांति, पृ० 338
7. वही, अब और नहीं, पृ० 287
8. वही, भाग-6, बंदिनी, पृ० 105
9. वही, भाग-2, टूटते परिवेश, पृ० 33, 34
10. वही, भाग-4, वही, पृ० 234, 235
11. वही, पृ० 230
12. वही, भाग-4, अब और नहीं, पृ० 281
13. वही, भाग-4, टूटते परिवेश, पृ० 241
14. वही, भाग-4, अब और नहीं, पृ० 275, 276
15. वही, भाग-6, श्वेतकमल, पृ० 46
16. वही, भाग-4, युगे-युगे क्रांति, पृ० 312
17. वही, भाग-4, टगर, पृ० 16
18. वही, भाग-6, श्वेतकमल, पृ० 15
19. वही, भाग-5, होरी, पृ० 373
20. वही, भाग-2, टूटते परिवेश, पृ० 28
21. वही, भाग-4, अब और नहीं, पृ० 289
22. वही, भाग-4, टूटते परिवेश, पृ० 228
23. वही, भाग-6, कुहासा और किरण, पृ० 175

मंजुल भगत के साहित्य में नारी के विविध रूप

मोना शर्मा, शोध-छात्रा

कन्या गुरुकुल परिसर, हरिद्वार

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रो० सुचित्रा मलिक

निर्देशिका, हिंदी विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

हिंदी साहित्य की प्रसिद्ध लेखिका मंजुल भगत का रचनाकाल लगभग तीन दशक का है। अपने अल्पकालिक जीवन में वह साहित्य में अविस्मरणीय योगदान दे गई है। इनके कथासाहित्य में कुल सात उपन्यास व ग्यारह कहानी-संग्रह हैं। उपन्यास क्रमशः 'टूटा हुआ इंद्रधनुष', 'लेडीज क्लब', 'अनारो', 'बेगाने घर में', 'खातुल', 'तिरछी बौछार' व 'गंजी' हैं। इसी प्रकार कहानी-संग्रह 'गुल मोहर के गुच्छे', 'क्या टूट गया', 'आत्महत्या से पहले', 'कितना छोटा सफर', 'बावन पत्ते और एक जोकर', 'सफेद कौआ', 'दूत', 'चर्चित कहानियाँ', 'बूँद', 'आखरी चोट' और 'अंतिम बयान' हैं। इनका संपूर्ण साहित्य नारी-जीवन की गहन पड़ताल है। नारी के विविध रूपों की अभिव्यक्ति इनके कथासाहित्य में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। समाज हो या साहित्य, नारी के बिना उसकी कल्पना अर्थहीन है। ऋग्वेद ने तो नारी को वह स्थान दिया, जो राष्ट्रध्वज का तथा शरीर में मस्तक का है। यजुर्वेद का कथन है कि स्त्री! तू द्यौ के समान उच्च शिरोभाग पर स्थित, सूर्य के समान तेजस्विनी, ध्रुव के समान अटल, सबकी पोषक, धारक तथा पृथ्वी के समान गृहस्थ को धारण करने वाली है।

मूर्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धात्र्यसि धरणी।¹

वेदों में नारी के रूपों का उल्लेख हमें गार्गी, अपाला, घोषा और लोपामुद्रा आदि के रूपों में मिलता है। वैदिककाल में नारी के सम्मान की स्थिति मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट होती है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रौतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्रफलाः क्रिया।²

अर्थात् जिस कुल में नारी की पूजा अथवा मान-सम्मान होता है, उस कुल में देवता निवास करते हैं और जिस कुल में स्त्रियों को सम्मान नहीं मिलता है, वहाँ सभी प्रकार के कर्म निष्फल हो जाते हैं।

आधुनिककाल के साहित्य में भी नारी को देवी की तरह पूजा गया है। प्रसाद ने कितनी सुंदर पंक्तियों में नारी का चित्रण किया है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में।³

नारी का जो आदर्श पुरातनकाल में था, वही रूप आधुनिककाल के रचनाकारों ने भी चित्रित किया है। मंजुल भगत की रचनाओं में ऐसे नारीपात्र हैं, जो समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं। अपने परिवार को अपनी प्राथमिकता मानते हुए अपना स्वस्व उस पर न्योछावर करने को तत्पर हैं। 'अनारो' इसका ठोस उदाहरण है। वह अपने परिवार के लिए दिन-रात मेहनत करती है और पति से दो बात अपने सम्मान की सुनकर सब कष्ट झेलने को तैयार है। वह कहती है, 'देखा है किसी का मरद जो इत्ती बड़ी बात कह दे, वह भी भरी सभा के आगे। कैसा मान! किन्ती बड़ी बात की अनारो उसकी घरवाली ही नहीं, भाई बरोबर है। सब किया-धरा वसूल हो गया, कर्ज का क्या है। कर्ज तो चुटकियों में उतर जाएगा, पर उसका मान, उसकी कदर बनी रहे, उसके मरद की नजर में।'⁴ इसी तरह 'नालायक बहू' की कामिनी अपने पति के आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देती है और सफल होती है। माँ के रूप में भी मंजुल भगत के पात्र अपनी संतान के लिए संघर्षरत दिखाई पड़ते हैं। अनारो, गंजी, झरोखे से मुँडेर तक व शैतान बाजा के नारीपात्र ममतामय रूप लिए हुए हैं।

निर्मल जैन के शब्दों में, 'मंजुल के स्त्रीपात्रों का भरा-पूरा संसार है। मंजुल की कहानियों में विकल्पों की तलाश करती नारियाँ, निर्णय लेती नारियाँ, समस्याओं के स्थायी-अस्थायी समाधान खोजती नारियाँ और कभी-कभी अस्मि यानी 'मैं हूँ' के अहसास में अपनी सार्थकता तलाश कर आश्वस्त होती नारियाँ हैं।'⁵

मंजुल के साहित्य में नारी के आदर्श रूप की ही कल्पना नहीं की गई है, वरन् उसमें नैतिक मूल्यों को चुनौती देती नारी का भी चित्रण किया गया है। मंजुल के नारीपात्र समाज की मर्यादा को तोड़ते हुए बाहर आए और अपने को अलग पंक्ति में स्थापित किया। कमलकिशोर गोयनका के शब्दों में, 'मंजुल भगत की स्त्री भरापूरा समाज है। वह पूरे समाज को जीती है। उनके स्त्रीपात्र संबंधों की मधुरता की अपेक्षा कटुता और विसंगतियों में जीते हैं और हर परिस्थिति में अपने जीवट एवं अपनी जिजीविषा को बनाए रखते हैं। मंजुल भगत की स्त्रियाँ परंपरा एवं आधुनिक जीवनमूल्यों के द्वंद्व और तनाव में घिरी हैं, पारिवारिक परिवेश में प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रति सजगता एवं अस्वीकृति का तीव्र भाव भी उनमें है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मंजुल के स्त्रीपात्र किसी भी प्रकार के अपराधबोध और कुंठा से मुक्त हैं। स्त्री के साथ अपराधबोध का जो मिथक बना हुआ था, वह इन स्त्रीपात्रों में नहीं मिलेगा। स्त्री की यह मुक्ति एक बड़ी उपलब्धि है।'⁶ इस प्रकार की नारी को हम आधुनिक नारी की संज्ञा दे सकते हैं, जो परिवार व समाज के अलावा अपने सुखों के लिए भी लड़ती है। वह केवल अपने समाज में अपने ऊँचे स्थान के लिए आदर्श नहीं बनना चाहती है। मंजुल की नारी विवाह के संबंध में अपनी स्वतंत्र सोच रखती है। 'टूटा हुआ इंद्रधनुष' की पात्रा शोभना प्रेमी का पति नहीं बनाना चाहती और कहती है, 'तुम्हारे और मेरे बीच में जो भी है, मैं उसे रिश्ता नहीं बनाना चाहती। रिश्ते ऊब जाया करते हैं।'⁷

'त्यागमयी' की पात्रा कामना भी अपने पति को उसकी बेवफाई की सजा देती है और उसकी हत्या कर देती है। अन्य कहानी जैसे मोहरा, लेडीज क्लब व बावन पत्ते एक जोकर के आदि के नारीपात्र करुणा व ममत्व के भाव से कोसों दूर हैं। इनके साहित्य में उच्चवर्ग के

नारीपात्र खोखली आजादी के लिए अपने परिवार व बच्चों की अनदेखी करते हैं।

मंजुल भगत के साहित्य में वेश्याओं का चित्रण भी है, जो समाज की सच्चाई पाठक के सामने प्रस्तुत करती हैं। 'बुआ जी' कहानी में बुआ जी जैसे पवित्र संबंध से पुकारी जाती है परंतु वास्तविकता में मालिक की रखैल है और उसकी एक अवैध संतान भी है। लेखिका बुआ जी के माध्यम से कहती है, 'जरा सी परिस्थिति परिवर्तन से यही कुलदेवी है और यही कोठे की नर्तकी'⁸ अनारो, गंजी व त्यागमयी आदि कहानियों में भी वेश्या के चरित्र द्रष्टव्य हैं। समाज में स्त्री का ये रूप स्वीकार्य नहीं है। बदलते परिवेश व आर्थिक स्थितियों के चलते महिलाओं को घर की दहलीज लॉघनी पड़ती है। इसका मतलब यह बिल्कुल भी नहीं है कि स्त्री सदा ही अपने चरित्र से गिर जाती है। आज की आधुनिक नारी प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ बराबर की सहभागिता निभाती है।

उनके नारीपात्र प्रेम-प्रसंग में भी पुरानी मान्यताओं से बाहर निकले हैं। वह प्रेम की नई परिभाषा गढ़ते नजर आए हैं। तभी तो टूटे हुए इंद्रधनुष की शोभना कहती है, 'मनीष जीवन का वह सरस, मादक अंश जो स्वप्न की सी वास्तविकता लिए है। मनीष, जिससे उसे विवाह नहीं किया, माँ-बाप और समाज की अनुमति के बावजूद। किसी भी बाहरी रुकावट के न होने के बावजूद। केवल इसलिए कि आठों पहर एक साथ जीकर, जीवन से जूझते रहने के लिए मनीष की आवश्यकता नहीं। उसके लिए कोई भी एक पुरुष काफी हो सकता है। प्रभात उसके लिए बहुत काफी है। बहुत कुछ ऐसा है जो प्रभात के, भर-भर हाथ ले लेने पर भी बचा रहता है। बहुत गहरे दूर के रत्न-सा वही मनीष का है।'⁹

नायिका शोभना पति प्रेम के साथ-साथ प्रेमी का प्यार भी पाना चाहती है। प्रेम का ऐसा रूप लेखिका की कुछ अन्य कहानियों में भी परिलक्षित होता है। आधुनिक नारी का जो चित्रण मंजुल भगत ने तीन दशक पहले किया था, वह आज के संदर्भ में प्रासंगिक होता जा रहा है। आधुनिकता के नाम पर जो नारी की सोच में खोखलापन आ गया है, लेखिका ने उसे अपने पात्रों के माध्यम से दर्शाया है। मंजुल भगत के नारीपात्र इतनी विविधता लिए हुए हैं कि एक पात्र में ही कई अलग-अलग रंग दिखाई पड़ते हैं। समाज में नारी की वास्तविक स्थिति से पाठकों का परिचय करवाया। मंजुल भगत ने नारी को सिर्फ पूजनीय ही नहीं बनाया, बल्कि सच्चाई के धरातल पर खड़ा करने का कार्य किया। नारी के विविध रूपों का अद्भुत संगम मंजुल भगत के साहित्य में सर्वदा मौलिक व विशिष्ट रहेगा।

संदर्भ

1. यजुर्वेद 14/21
2. मनुस्मृति, श्लोक सं० 56, पृ० 123
3. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ० 114
4. मंजुल भगत, अनारो, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 101
5. मंजुल भगत, समग्र कथासाहित्य, अंतिम बयान, निर्मल जैन, पृ० 110
6. कमलकिशोर गोयनका, मंजुल भगत : समग्र कथासाहित्य भूमिका, पृ० 18
7. मंजुल भगत : समग्र कथासाहित्य, टूटा हुआ इंद्रधनुष, कमलकिशोर गोयनका, पृ० 24
8. मंजुल भगत : समग्र कथासाहित्य, बुआ जी, कमलकिशोर गोयनका, पृ० 66
9. वही, टूटा हुआ इंद्रधनुष, पृ० 23

विद्यापति के काव्य के भावपक्ष के सौंदर्य पक्ष का विश्लेषण 'विद्यापति वैभव' के संदर्भ में डॉ० दीप्ति

हिंदी साहित्य के महान पंडित विद्यापति उत्तर भारत के प्रसिद्ध गीतकवि के रूप में विख्यात हैं। विद्यापति एक ओर जहाँ हिंदी साहित्य के वीरगाथाकाल का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर हिंदी में भक्ति की परंपरा के प्रवर्तक हैं। आदिकाल की अंतिम कड़ी के जनकवि विद्यापति के चिंतन की मणिरश्मियाँ सौंदर्यबोध, शृंगार-वर्णन, भक्ति-भावना, प्रकृति-चित्रण, समकालीन मिथिला संस्कृति एवं जनजीवन उनके काव्य में सजीव हो उठे हैं।

प्रसिद्ध विद्वान डॉ० रामसजन पांडेय ने प्रतिभासंपन्न कवि विद्यापति के व्यक्तित्व और कृतित्व पर 'विद्यापति वैभव' पुस्तक में प्रकाश डाला है। प्रस्तुत शोधपत्र में 'विद्यापति वैभव' के संदर्भ में विद्यापति की कृतियों के भावपक्ष का मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयास है।

'विद्यापति वैभव' में सृजनात्मक व्यक्तित्व के स्वामी विद्यापति की तीन भाषाओं—संस्कृत अवहट्ट तथा मैथिली भाषा में रचित रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृत भाषा में रचित उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—भू-परिक्रमा, पुरुष-परीक्षा, लिखनावली, शैवसर्वस्वसार, शैव-सर्वस्वसार-प्रमाणभूत-पुराणसंग्रह, गंगावाक्यावली, विभागसार, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्तितरंगिणी, गयापत्तलक, वर्षकृत्य, मणिमंजरी। अवहट्ट भाषा में रचित 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' वीरकाव्य उनकी ख्याति का आधार बने। मैथिली भाषा में विद्यापति द्वारा रचित पद आते हैं, जो 'विद्यापति पदावली' के नाम से अभिहित हैं। यह रचना विद्यापति की कीर्ति का आधार है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'गोरक्षविजय' नामक एक एकांकी नाटक भी लिखा है। इस प्रकार विद्यापति ने हिंदी साहित्य को बेजोड़ रचनाएँ प्रदान कर साहित्य की श्रीवृद्धि में बहुमूल्य योग दिया है।

कोमल एवं भावुक हृदय का स्वामी कवि सौंदर्य का साधक होता है और अपनी साधना रूप-सौंदर्य की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में करता है। एच०एच० परखूरष्ट के अनुसार, 'कला का मुख्य ध्येय अपने शब्दों के माध्यम से विश्वजनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है। वह प्रत्येक वस्तु सुंदर है, जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है।' कवि विद्यापति की रचनाओं में सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति स्पष्टतः परिलक्षित है। 'विद्यापति वैभव' में सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति मानवीय रूपवर्णन तथा प्रकृति के रूपवर्णन द्वारा की गई है। मानवीय रूप-सौंदर्य वर्णन के अंतर्गत राधा की नासिका, ग्रीवा, भौंह, केश, उरोज, कटि तथा वाणी आदि का चित्रण है। राधा के रूपवर्णन में उनकी प्रसिद्ध रूढ़ियों के आश्रय में अभिजात्य परिलक्षित है। उदाहरणस्वरूप इन्होंने राधा के मुख के लिए चंद्र, अधर के लिए बिंबाफल तथा

भौहों के लिए धनुष तथा ग्रीवा को शंख की उपमा दी है। श्री दिनेशचंद्र सेन लिखते हैं, 'भारतवर्ष में उपमा का यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति नहीं होगी। विद्यापति की राधा सौंदर्य-समूह की चित्रपटी है।² विद्यापति की सुंदर राधा के निर्माण में जैसे विधाता ने सारे संसार का सौंदर्यसार लगा दिया है। वह जिधर से निकलती है, लोगों के अंतस में पुलक-प्रीति पैदा करती है और मन-प्रसन बनाती है—

देख-देख राधा-रूप अपार।

मनमथ कोटि मंथन करु जे जन से हेरि महि मधि गीर।³

विद्यापति ने अपने काव्य में राधा के शारीरिक सौंदर्य पर ही नहीं, अपितु भावपक्ष के सौंदर्य पर भी प्रकाश डाला है। राधा के दो रूपों—स्वकीया और परकीया का विवेचन करते समय वह उनके भावनात्मक सौंदर्य को प्रस्तुत करते हैं। 'उनकी राधा में भावानुभावों की ही प्रधानता है। उनके अनावृत प्रेम में वासना की तृष्णा और रसिकता, कथन में सरलता, सहजता, निश्चलता और सहज अपनत्व, विद्युच्छवि, स्वर्णाभा तथा कमनीयता, प्रियतम की अराधना में शुचिता, समर्पणशीलता, त्यागमयता, विह्वलता तथा एकनिष्ठता है।⁴

प्रकृति के कुशल चित्तेरे विद्यापति ने अपने काव्य में प्रकृति के आलंबन तथा उद्दीपन दोनों रूपों का वर्णन किया है। परंतु उन्होंने प्रकृति के आलंबन रूप का कम तथा उद्दीपन रूप का अधिक वर्णन किया है। प्रकृति का विराट वैभव उनकी कलम से सजा-सँवरा है। आलंबनगत प्रकृति रूप के चित्रण में बसंत का रूप द्रष्टव्य है—

आएल ऋतुपतिराज बसंत।

घाओल अलिकुल माधवि-पंथ।

मौलि रसाल-मुकुल भेल ताथ ।

समुखहि कोकिल पंचम गाय।⁵

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विद्यापति की सौंदर्य-दृष्टि अधिक उदार, उदात्त और विशाल रही है। उनका सौंदर्यबोध मानव, प्रकृति तथा भावों के गहरे लोक तक व्याप्त है। विद्यापति की राधा अनुपम तथा अद्भुत सौंदर्य की स्वामिनी है। विद्यापति द्वारा राधा की सहृदयता, संवेदनशीलता तथा भावुकता इत्यादि के वर्णन में भावसौंदर्य उत्कृष्ट बन पड़ा है परंतु राधा के कायिक रूपवर्णन में ऐंद्रियता एवं मांसलता कहीं-कहीं देखने को मिलती है। विद्यापति के प्राकृतिक सौंदर्य-वर्णन के अंतर्गत आलंबन की अपेक्षा उद्दीपनगत चित्रण ही प्रधान रहा है, परंतु प्रकृति की मनोहर और मंजुल क्रीड़ाओं का भावविभोर वर्णन आकर्षक बन पड़ा है।

विद्यापति के काव्य में राधा-कृष्ण का आलंबन-आश्रय लेकर शृंगार के दोनों पक्षों-संयोग तथा वियोगपक्ष की अभिव्यक्ति है। संयोग शृंगार के अंतर्गत राधा और कृष्ण के रूपसौंदर्य, उनके पारस्परिक प्रेम, प्रथम मिलन और पुनः मिलन इत्यादि का सजीव अंकन है। कृष्ण और राधा के राजपथ पर प्रथम साक्षात्कार का बहुत सुंदर चित्र प्रस्तुत है—

चलल राजपथ दुहु अरुझाई।

कह कवि शेखर दुहु चतुर्गाई।⁶

इस प्रकार प्रथम साक्षात्कार में ही कृष्ण-राधा एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होकर निहारते

हैं। विद्यापति का वियोग शृंगार बेजोड़ बन पड़ा है। 'विद्यापति-वैभव' में वियोग शृंगार के चारों भेदों—पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण का मार्मिक वर्णन हुआ है। पूर्वराग में कृष्ण और राधा की पीड़ा, वेदना तथा मान में कृष्ण और राधा के मानी रूप के साथ-साथ नायिका की निराशा व वेदना की भी अभिव्यक्ति है। प्रवास में कृष्ण के मथुरा जाने के बाद व्यथित राधा की व्याकुलता, करुणा एवं दुःख की मार्मिक अभिव्यक्ति परिलक्षित है। विद्यापति के विरहगीतों में 'करुणा' की भावना दृष्टिगोचर होती है। विद्यापति के विरह-वर्णन में विरह की ग्यारह दशाओं—अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा तथा मरण दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्ण के विदेश जाने के पश्चात् राधा के प्रलाप की दशा का उदाहरण प्रस्तुत है—

अनुखन राधा-राधा रटइत, आधा-आधा बानि।

राधा सयँ जब पुनतहिँ माधव-माधव सयँ तब राधा।⁷

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेम के पारखी विद्यापति ने संयोग शृंगार वर्णन के अंतर्गत जहाँ राधा और कृष्ण की प्रेम लीला के सुंदर, ऐंद्रिय, मधुर और मनोरम चित्र रेखांकित किए हैं, वहीं वियोग शृंगार करुणा, पीड़ा, तीव्रता, व्यापकता एवं भावुकता चित्रण के द्वारा महान बन गया है। अतः विद्यापति का शृंगार-वर्णन हिंदी साहित्य में बहुत महत्वपूर्ण है।

हिंदी साहित्य में कृष्णकाव्य-परंपरा के प्रवर्तक विद्यापति कृष्ण के दिव्य रूप की स्तुति करते हुए उनके जगन्नाथ रूप से संसार-सागर से पार करनेवाले कृपालु मानते हुए प्रार्थना करते हैं—

माधव बहुत मिनति कर तोय।

तुहु जगत जगन्नाथ कहाओसि जग बाहिर नहिँ दार।⁸

विद्यापति कृष्ण के अपरूप तथा दिव्य रूप के साथ ही उनके 'रसिक-शिरोमणि' रूप में उनकी लीलाओं का बहुत मनोयोग से वर्णन करते हैं। विद्यापति के कृष्ण चाहे आलौकिक शक्तियों से परिपूर्ण हैं, परंतु राधा से अलग होने पर 'विरही' प्रेमी की तरह राधा के वियोग में सारे सुख-ऐश्वर्य को निस्सार मानते हुए कहते हैं—

राहि रहल दुर हमें मथुरापुर, एतहु सइए परान।

वह कवि सेखर अनुभवि जन लो, बड़क बड़ई पिरीत।⁹

विद्यापति के काव्य में राधा का परम सुंदरी, मनमोहक मुग्धा और प्रणयिनी रूप भी रेखांकित है। कवि ने कृष्ण के विदेश जाने के पश्चात् विरह से व्याकुल तथा बेचैन राधा की मार्मिक एवं करुण मनोदशा का सजीव चित्रण किया है। 'प्रकृति का कण-कण उसे दाहक प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी सखी से कह उठती है—

सखि हे हमारि दुखेर नहिँ ओर।

कंत पाहुन कामदारुण सघन खर सर हंतिया।¹⁰

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विद्यापति के काव्य में आलौकिक एवं दिव्य सौंदर्यसंपन्न कृष्ण नारायण नहीं, बल्कि साधारण नायक का पर्याय हैं, जो परम सुंदर, रसिक तथा राधा के अनन्य प्रेमी हैं और समाज की कठोर रूढ़ियों के विरोधी हैं। इसी प्रकार विद्यापति की राधा आलौकिक सौंदर्य, माधुर्य, पवित्रता, त्याग व समर्पण की भावना तथा निष्कपट एवं एकनिष्ठ प्रेम की सफल अभिव्यक्ति हैं।

अतः कहा जा सकता है कि विद्यापति के काव्य में राधा-कृष्ण की प्रेम-भावना में साधारण नायक-नायिका की प्रेम-लीलाओं और क्रीड़ाओं का लौकिक रूप मिलता है। उनके प्रेम-वर्णन में ऐंद्रियता, मांसलता, कामोद्दीपकता इत्यादि विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें शृंगारी कवि ही मानना चाहिए।

प्रकृति आदिकाल से मानव की सहचरी रही है। आदिकाल से आज तक मानवीय हृदय को आनंद और उल्लास से परिपूर्ण करनेवाली प्रकृति के सुंदर दृश्यों को सुकोमल हृदयवाला रचनाकार अवश्य कलमबद्ध करता है। सुमित्रानंदन पंत लिखते हैं, 'प्राकृतिक सौंदर्यस्थल का सौंदर्यबोध, एकांतप्रियता दोनों ही तत्त्व मेरी समझ में, मनुष्य को अपनी सौंदर्यदृष्टि को सृजन प्रक्रियाओं द्वारा रूपरेखाओं, ध्वनि छंदों में सँवारने की ओर अग्रसर करते हैं।'¹¹ विद्यापति के काव्य में दोनों बातें स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। उनके काव्य में प्रकृति के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं— आलंबनगत, उद्दीपनगत, आलंकारिक, पृष्ठभूमि-निर्माण, मानवीकरण, प्रतीक-विधान के रूप में, प्रकृति-वर्णन की साहित्यिक रूढ़ियों और कवि-प्रसिद्धियों का मेल, आंगिक सौंदर्याभिव्यक्ति के माध्यम रूप में। प्रकृति-प्रेमी विद्यापति ने अपने वर्णन में चारुता तथा चेतनता लाने के लिए अचेतन पर चेतन का आरोप भी जमकर किया है। यहाँ बसंत-वर्णन का उदाहरण प्रस्तुत है—

नृप-आसन नव पीठत पात।

कांचन कुसुम छत्र धरु माथा।

किंसुक लवंगलता एक संग।

हेरि सिसिर रितु आगे दल भंग।¹²

प्रस्तुत पंक्तियों में मानवीकरण रूप में प्रकृति-वर्णन अत्यंत सुंदर एवं प्रभावशाली बन पड़ा है।

अतः कहा जा सकता है कि प्रकृति-वर्णन में विद्यापति की निरंतर जागरूकता तथा संवेदनशीलता परिलक्षित है। विद्यापति का प्रकृति का नैसर्गिक सौंदर्य-वर्णन श्रेष्ठ बन पड़ा है। कवि द्वारा प्रकृति के उद्दीपन रूप के चित्रण में नवीन आकर्षण की उद्भावना बहुत महत्वपूर्ण है। निःसंदेह विद्यापति के काव्य में प्रकृति सजीव, मधुर एवं भव्य रूप में प्रस्तुत हुई है।

मिथिला भाषा के वाल्मीकि के रूप में प्रसिद्ध विद्यापति का मिथिला संस्कृति के प्रति भी विशेष लगाव रहा है। उनके काव्य में मैथिल संस्कृति की संपन्नता भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। टी.एस. इलियट का मत है, 'संस्कृति की अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट समाज की सामाजिक परंपराओं, संस्थाओं और उसके साहित्य तथा कला में होती है।'¹³ दर्शन में विभिन्न संस्कारों के समूह को ही संस्कृति के नाम से अभिहित किया जाता है। विद्यापति के काव्य में विभिन्न संस्कारों, जन्म संस्कार, नामकरण, जन्मपत्री, विवाह, विविध देवी-देवता की भक्ति तथा विविध विश्वासों में, पुर्नजन्म, झाड़-फूँक तथा जंत्र-मंत्र, नजर लगाना, पर्दाप्रथा तथा सतिप्रथा तथा बलि इत्यादि का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शुभावसरों पर मिथिलावासियों में विविध वाद्ययंत्रों में ढोल, मंजीरा, वीणा, सारंगी, मृदंग, रबाब, मुरली, शंख, घंटा आदि का प्रयोग होता था तथा नृत्य-गान का भी आयोजन होता था। इसके साथ ही विद्यापति ने मिथिला की नारियों के वस्त्राभूषणों के साथ ही पुरुष के वस्त्राभूषणों एवं शृंगार-सामग्री का भी उल्लेख किया है। तत्कालीन मिथिलावासियों के मनोरंजन के साधनों—जलक्रीड़ा, रास आदि का उल्लेख भी मिलता

है।

विद्यापति के काव्य में मिथिला संस्कृति प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। निःसंदेह, कहा जा सकता है कि विद्यापति मैथिल संस्कृति के प्रभावशाली एवं उज्ज्वल रूप को उद्घाटित करते हैं। विद्यापति की रचनाओं में भारतीय संस्कृति की आत्मीयता, भावपूर्ण एवं व्यापक वर्णन मिलता है। इनके काव्य में लोकसंस्कृति की संपृक्तता भी इन्हें तत्कालीन कवियों से अलग महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है।

अतः 'विद्यापति-वैभव' के भावपक्ष के अवलोकन के पश्चात् निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विद्यापति का काव्य भक्ति एवं शृंगार रूपों से संबंधित है। हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम उन्होंने ही कृष्णकाव्य का गायन किया तथा पदशैली के प्रवर्तक रूप में जहाँ कृष्णकाव्य का मार्ग प्रशस्त कर सूरदास तथा अन्य कवियों का मार्गदर्शन किया। उनके काव्य में समाहित शृंगारपरक सुकोमल भाव-सामग्री रीतिकालीन कवियों की प्रेरणा बनी। तत्कालीन समय के सफल कवि विद्यापति की रचनाओं में भाव-मधुरिमा, कल्पना तथा साहित्यिकता का अद्भुत समन्वय है। कालजयी विद्यापति के व्यापक भावपक्ष में तन्मयता, भावमयता तथा गहन अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति उनके सामर्थ्य की सशक्त द्योतक है।

संदर्भ

1. डॉ० यश गुलाटी, हिंदी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, 1969, पृ० 35
2. डॉ० रामसजन पांडेय, विद्यापति-वैभव, शब्द सेतु प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ० 35
3. वही, पृ० 36
4. वही, पृ० 38
5. डॉ० यश गुलाटी, हिंदी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, 1969, पृ० 44
6. डॉ० रामसजन पांडेय, विद्यापति-वैभव, शब्द सेतु प्रकाशन, दिल्ली 2017, पृ० 43
7. वही, पृ० 53
8. वही, पृ० 56
9. वही, पृ० 58
10. वही, पृ० 61
11. सुमित्रानंदन पंत, मैं क्यों लिखता हूँ, सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली, खंड-6, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1980, पृ० 238
12. डॉ० रामसजन पांडेय, विद्यापति-वैभव, पृ० 82
13. उद्भूत, कन्हैयासिंह, हिंदी सूफीकाव्य में हिंदू संस्कृति का चित्रण और निरूपण, भारती भंडार, इलाहाबाद 1973, पृ० 4

पत्नी डॉ० साहिल साहनी
19 ई कालेज लेन
रानी का बाग
अमृतसर, पंजाब 143001
मो० 9501077702

हिंदी बालसाहित्य में महिला साहित्यकारों का योगदान

साधना यादव

जैसा कि सभी समझते हैं कि बच्चों के लिए लिखा गया बालसाहित्य साहित्य कहलाता है। बालसाहित्य को लिखनेवाले कवि या लेखकों को बालसाहित्यकार कहते हैं, उनमें स्त्री और पुरुष दोनों ही शामिल हैं। आज हिंदी का बालसाहित्य बहुत ही समृद्ध है और उसने नई ऊँचाइयों को छू लिया है वह अपनी स्वयं की ताकत के साथ मजबूती से खड़ा है और हर चुनौती के लिए तैयार है। बहुत समय पहले से बालसाहित्य ने हमारे देश में दस्तक दे दी थी, जिसकी शुरुआत अलिखित साहित्य से हुई है। बालसाहित्य भारत की ही देन है, इसे हमें कहीं बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। जब एक माँ अनगढ़ भाषा में अपने बच्चे को दुलारती है, खिलाती है, सुलाती है और शिशु या बालक के भोले मुख को देखकर अनायास कोई छोटा सा गीत बच्चे की ही भाषा और भाव से साम्य बिठाते हुए, मीठी बानी में उसके मुख से निकल पड़ता है, तो क्या वह बच्चों का गीत या कविता नहीं है? वह भी बालकविता ही है। ये छोटे-छोटे भावभीने गीत बालक के मन पर गहरा असर डालते हैं, वह उनसे कुछ न कुछ सीखता जरूर है। इस तरह से उसके जीवन में शैशवास्था से ही बालसाहित्य प्रवेश कर जाता है। यह तथ्यात्मक बात है कि सुना हुआ कभी भूलता नहीं है, पढ़ा हुआ भले ही कोई भूल जाए। हिंदी बालसाहित्य की सभी विधाओं में बाल-कविता सबसे समृद्ध है और विकासशील पथ पर अग्रसर है और यह सिर्फ मनोरंजनात्मक या उपदेशात्मक न होकर अनुकरणीय भी है।

यूँ तो हिंदी साहित्य के प्रारंभ से ही स्वतंत्र रूप में न सही, किंतु बालसाहित्य मिलता है, वह चाहे भक्तिकालीन कवि सूरदास व तुलसीदास के पदों या दोहों के रूप में ही क्यों न हो? आधुनिककाल से तो बालपत्रिकाओं के माध्यम से तो बालसाहित्य प्रकाश में आया ही है। इस काल में अनेक बालसाहित्यकार हुए हैं, जिनमें महिला साहित्यकार भी हैं। बालसाहित्य को समृद्ध करने में उनका बहुत बड़ा योगदान है।

बालमन को समझने के लिए वैसे भी महिलाओं के समान कोई नहीं है, चाहें वह माँ के रूप में हों, दादी के रूप में हों, बुआ के रूप में हों, व मौसी या बहन के रूप में हों। ये सब रिश्ते बच्चों के बहुत निकट होते हैं। इस प्रकार इन महान महिला साहित्यकारों ने भी बालमन को भली-भाँति समझा है। ये सब 1947 से लेकर 1970 तक के दौर की बालकवयित्रियाँ हैं और यह समय हिंदी बालकविता के अच्छे दौर का है।

श्री निरंकारदेव सेवक ने भारतीय और पाश्चात्य माँ की तुलना करते हुए लिखा है, 'भारतीय माता अपने बच्चे लिए त्याग, तप करने में अंग्रेज माता से अधिक बढ़-चढ़कर होती है। फूहड़ से फूहड़ भारतीय माँ शीत की कठिन रात में बच्चे द्वारा बिस्तर पर मूत्र त्याग कर देने पर सहर्ष बच्चे को सूखे भाग में सुलाकर स्वयं गीले में पड़े रहना पसंद कर लेती है, पर अंग्रेज माताओं में त्याग

की ऐसी भावना नहीं होती। इन्हीं सब कारणों से अपने बच्चे के प्रति अँग्रेज माताओं की अपेक्षा भारतीय 'माँ' का संबंध अधिक ममतापूर्ण और मधुर होता है। माँ के इस संबंध की ही अभिव्यक्ति लोरियों में होती है।'

हिंदी बालकाव्य में अनेक ऐसी कवयित्रियाँ हुई हैं, जिन्होंने बच्चों के लिए मधुर-मधुर गीत और लोरियाँ लिखी हैं—'पुरुष प्रयत्न करके भी भावों की वह कोमलता व कल्पनाओं की बारीकियाँ नहीं ला सकते, जिनके आधार पर मधुर व सरस लोरियाँ लिखी जाती हैं।'

विभिन्न महिला बालकाव्यकारों के काव्य का महत्त्व तथा मूल्यांकन-संबंधी विवरण इस प्रकार है—

1. श्रीमती गोपालदेवी

आप हिंदी बालसाहित्य की प्रथम और प्राचीन महिला बालसाहित्य लेखिका थीं। आप 'शिशु' बालपत्रिका की संपादिका भी थीं। आपकी अनेक कहानियाँ 'शिशु' में प्रकाशित हुई हैं। कुछ कहानियाँ हैं 'वंशीवाला' (शिशु फरवरी 1925), राजाबेटी (शिशु अगस्त 1926), जादू का हंस (शिशु 1925)। आपकी 'वंशीवाला' कहानी के कुछ अंश इस प्रकार हैं—'माता ने कहानियों की किताब बंद करते हुए कहा—'इस कहानी का कैसा दुःखदायी अंत हुआ, वह कुंती और बिट्टो को एक कहानी सुना रही थी, जिसमें किसी वंशीवाले के पीछे उसकी वंशी की आवाज सुनते-सुनते दो बालिकाएँ अपने घर से बहुत दूर चली गई थीं और फिर उनका पता न लगा।

बिट्टो ने कहा, 'अच्छा हुआ उसने मुझ पर अपना जादू नहीं डाला।'

'मैं तो कभी न जाती,' कुंती बोली, बिट्टो ने फिर कहा, 'जाती भी तो जहाँ यह सड़क खतम होती है वहाँ से लौट आती।'

'माता ने हँसकर कहा, 'तुम दोनों बड़ी चालाक हो।'

2. श्रीमती तारा पांडे

अपने गीत लिखे हैं। वे गीत 'बालसखा' में सन् 46 से लेकर 48 के बीच समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। बच्चों में राष्ट्रीय भावना का संचार व उनके भविष्य की कामना से पूर्ण प्रस्तुत गीत द्रष्टव्य है—

आओ तुम्हें सुनाऊँ गान।

बोलो जय भारत माता की, जिसके हो तुम लाल।

जो तुमको सब सुख देकर, करती है सदा निहाल।

करो उसी का ही गुणगान।²

3. श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

आप हिंदी साहित्य की महिला साहित्यकारों में वह महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं, जिनका नाम लेते ही आँखों के सामने रानी लक्ष्मीबाई का जीवन आ जाता है। आप राष्ट्रीय चेतना की सजग कवयित्री रही हैं। 'झाँसी की रानी' एक अकेली कविता ही आपको अमर करने के लिए पर्याप्त है।

'बुंदेलखंड में लोकशैली में गाए जानेवाले छंद को लेकर उसी में झाँसी की रानी जैसी रोमांचक कथा लिखना उनकी प्रतिभा और दृष्टि दोनों का परिचय देता है।'

आपने जो भी लिखा है, अपने बचपन को याद करके लिखा है। बच्चों के लिए अनेक गीत लिखे हैं, जो बड़े ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। 'अजय का पाठशाला जाना सुभद्राजी के पुत्र अजय चौहान की ही घटना नहीं, बल्कि यह उन लाड़लों की है, जो अपनी माँ की गोद को छोड़कर पहली बार किसी ऐसी जगह जाते हैं, जहाँ उनका नहीं बल्कि किसी और का शासन होता है—

उस दिन पहले पहल अजय, जब पढ़ने गया पाठशाला, उन्हें गुरुजी ने घर भेजा, पहना फूलों की माला।

पूछा गया नाम, तब बोले, मुझे बड़े भैया कहते,
घर में भी हम नहीं खेलते, 'छाले दिन पलते रहते।'
शाम हुई जब घर को लौटे, पट्टी और पुस्तक लेकर,
उनके स्वागत को उत्सुक सा, खड़ा हुआ था सारा घर।
माँ ने कहा दूध तुम पीलो, बोले 'जला ठहर जाओ
माँ पलने के समय बोलती हो क्यों अब तुम बतलाओ।
तुम पलती हो हम आते हैं तब तुम होती हो नाराज,
मैं भी तो पलने बैठा हूँ फिर क्यों बोल रही हो आज।'

आप बालमनोविज्ञान को भली-भाँति समझती थीं। बच्चों की दैनिक गतिविधियों का चित्रण आपने सफल ढंग से किया है। पतंग के लिए बच्चों का माँ को मनाना बहुत मनोहर ढंग से व्यक्त किया है—

बनिये की दुकान पर अम्मा आए हैं पतंग इतने,
एक नहीं, दो नहीं सुनो माँ उतने तारे हैं जितने।
लाल-लाल हैं, हरे-हरे हैं, पीले और चाँद तारा,
धेले वाला भी माँ लगता हमें बहुत प्यारा।
पैसेवाला ले दो माँ या धेलेवाला ही ला दो,
क्यों देरी करती जाती हो, चलो उठो पैसा दे दो।

इन कविताओं में उनका मातृत्व छलक-छलक उठा है। आपकी एक और कविता है बचपन को लेकर—

मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदनवन-सी फूल उठी वो छोटी सी कुटिया मेरी।

आपकी 'सभा का खेल' पुस्तक की पहली कविता इसी शीर्षक की है। इसमें बच्चों में राष्ट्रीय भावना का संचार किया है—

सभा-सभा का खेल आज हम, खेलेंगे जीजी आओ।
मैं गांधी जी छोटे नेहरू, तुम सरोजिनी बन जाओ।
छोड़ो सभी विदेशी चीजें, लो देशी सुई धागा।

सुभद्रा जी की कविता 'कदंब का पेड़' जिसमें बालक की श्रीकृष्ण की लीलाओं को सुनकर उन जैसा ही शरारती और नटखट बनने की चेष्टा द्रष्टव्य है—

यह कदंब का पेड़ अगर माँ होता यमुना तीरे,
मैं भी उस पर बैठ कन्हैया बनता धीरे-धीरे

ले देती यदि मुझे बाँसुरी तुम दो पैसेवाली,
 किसी तरह नीची हो जाती यह कदंब की डाली।
 तुम्हें कुछ नहीं कहता पर मैं चुपके-चुपके आता,
 उस नीची डाली से अम्मा ऊँचे पर चढ़ जाता।
 वहीं बैठकर फिर बड़े मजे से मैं बाँसुरी बजाता,
 अम्मा-अम्मा कह वंशी के स्वर में तुम्हें बुलाता।

इस प्रकार सुभद्राजी ने बालसाहित्य के खजाने को भरने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

4. श्रीमती शांति अग्रवाल

आपने बच्चों के लिए अनेक कविताएँ लिखीं हैं, जो सन् 1945 में 'बालसखा' में प्रकाशित हुई हैं। बालसाहित्य पर आपकी दो पुस्तकें भी हैं—'बालवीणा' और 'बाल-सौरभ'। आपको बाल मनोविश्लेषण की गहरी परख है, इसीलिए सरल और सादी भाषा में बच्चों को अनुभूतियों को कविताओं में उतारा है—

छोटा-सा मेरा लाला रोज मचाता गड़बड़झाला,
 तोड़-फोड़कर खेल फेंकता, पानी में भी खूब खेलता।
 काम नहीं कुछ करने देता, साथ-साथ है फिरता रहता,
 तब मैं गुस्सा हो जाती हूँ उससे चट यह कह देती हूँ।
 'तेरी अम्मा नहीं बनूँगी, खेल मिठाई तुझे न दूँगी।'
 कभी न मैं तुझसे बोलूँगी और न तुझको प्यार करूँगी।
 तब कहता वह अम्मा रानी, अब न करूँगा मैं शैतानी।
 कभी तुम्हें अब दिक न करूँगा, कहा तुम्हारा मैं मानूँगा।
 'राजा बेटा' कह दो अम्मा, प्यार मुझे अब कर लो अम्मा।
 तब कहती मैं—'मेरा बेटा सचमुच तू है राजा बेटा।
 सचमुच तू है राजदुलारा, है मेरी आँखों का तारा।'

आपने अपने लेखन में बहुधा पुरानी लीकों को तोड़ा है, इसलिए इन गीतों में लोकगीतों की सादगी और शब्दक्रीड़ा मिलती है। प्रस्तुत है आपकी कविता 'कद्दू जी की बारात'—

कद्दू जी की चली बारात,
 हुई बताशों की बरसात,
 बैंगन की गाड़ी के ऊपर
 बैठे कद्दू राजा,
 शलजम और प्याज ने मिलकर
 खूब बजाया बाजा।

आपने कुछ शिशुगीत भी लिखे हैं। शिशुगीत और बाल-कविता में कोई विभाजक-रेखा नहीं है, किंतु ऐसा समझ लिया जाए कि बालकविता बड़े बच्चों के लिए होती है और शिशुगीत छोटे बच्चों के लिए होते हैं। आपके शिशु गीतों में किस्सागोई व नाटकीयता है। बच्चों के लिए गीत लिखना कठिन काम है, छोटे से शिशुगीत में सारे भाव समेटना वाकई अनोखी बात है। यहाँ पर चिड़ियाघर के बंदर का रोचक स्थान इस प्रकार है—

चलो चलेंगे चिड़ियाघर, उसमें है ऐसा बंदर।
 सबसे हाथ मिलता है, मूँगफली ले खाता है।
 मूँगफली के दो दाने, उस दिन जब निकले काने,
 तब उसको गुस्सा आया, उसने मुझे बहुत धमकाया।
 तब मैं दो केले लाया, उनको खा वह मुस्काया।
 दी शाबाशी-‘धम धम धम’, नाच उठा वह ‘छम-छम-छम’।⁴

5. शकुंतला मिश्र

बाल साहित्य में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है सन् 48 से 52 तक आपकी रचनाएँ ‘बालसखा’ में नियमित रूप से छपती रही हैं। आपने अनेक नाटक एवं कहानियाँ लिखी हैं जिनमें दो कहानियाँ हैं—‘मैं उदासीन नहीं हूँ’ तथा ‘सूखे संतरे’।⁵

6. सुशीला कक्कड़

आपने बच्चों के लिए अनेक कहानियाँ एवं कविताएँ लिखी हैं। आपकी रचनाएँ सन् 1932-33 में ‘बालसखा’ में प्रकाशित होती रही हैं। एक माँ अपने बच्चे को विनयशील तथा आज्ञाकारी बनाने के लिए जो कुछ सोचती है, उसी तरह के संस्कार बच्चों पर भी पड़ते हैं—

प्रभो दो ऐसी शक्ति महान।
 निर्धन धनी सबल औ निर्बल, ज्ञानवान, अज्ञान।
 भेद न मानूँ कभी किसी में, सब हों एक समान।
 झूठे जाति-पाँत का जग में रहे न नाम-निशान।
 एक पिता और एक राष्ट्र की हों हम सब संतान।

इस गीत में राष्ट्रप्रेम की भावना है और इस गीत के माध्यम से महात्मा गांधी के ‘स्वदेशी के सिद्धांत’ के प्रति बच्चों को प्रेरित किया गया है—

जगत में वही अच्छे जो सबका कष्ट हरते हैं,
 विनय से बोलते हैं गुरुजनों का मान करते हैं।
 स्वदेशी का विदेशी से अधिक जो मान करते हैं।
 सदा निज देश की चीजों पे जो अभिमान करते हैं।⁶

7. विद्यावती कोकिल

हिंदी बालसाहित्य में लोरियाँ बहुत कम लिखी गयी हैं पर कोकिल जी को लोरियाँ लिखने में रुचि थी। आपकी एक सरस और संगीतमय लोरी इस प्रकार है—

निंदिया बहुत ललन को प्यारी।
 अपने प्राणों का दीपक कर जीवन की कर बाती।
 सिरहाने बैठी-बैठी हूँ कबसे उसे जगाती।
 निंदिया बहुत ललन को प्यारी।

बच्चे कैसे सोचते हैं? उनकी छोटी-सी सरल दुनिया का वर्णन इस बालगीत में हुआ है—
 मुझको आता हुआ देखकर, चिड़िया क्यों उड़ जाती है?
 मेरे सींचे हुए आम की, इन बौराई डालों पर।

कठिन गगन यात्रा से थककर, पहर-पहर सुस्ताती है।
मुझको आता हुआ देखकर, चिड़िया क्यों उड़ जाती है?'

8. शांति मेहरोत्रा

बालसाहित्य में आपने खूब सफलता अर्जित की है। आपने सरल-सरल कविताएँ, कहानियाँ तथा नाटक लिखे हैं। आपने आकाशवाणी इलाहाबाद से बच्चों के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत किए हैं। बच्चों के स्वभाव को प्रस्तुत गीत में आपने अच्छे ढंग दिखाया है—

पहना-पहना सुंदर वस्त्र, भेजोगी न मुझे स्कूल
जानबूझकर मैं चालाक, जाऊँगा कुछ कापी भूल।
कभी मचलकर मैं हठ ठान कह दूँगा मैला है पैट,
या कि कहूँगा मेरे पास अभी नहीं पुस्तक अर्जेंट।
जबकि सातवें घंटे बीच आ जाएगी उस ही रोज,
हो जाएगी उस ही रोज, मेरी सब डाइंग बरबाद।
निकल किसी कोने से तेज भग जाऊँगा तेरे पास।
कहते पंडितजी मुस्का कि करुणाशंकर है बदमाश।⁸

9. सुमित्राकुमारी सिन्हा

आप आकाशवाणी लखनऊ से जुड़ी रही हैं। बच्चों के लिए सहगान तथा प्रयाणगीत लिखने में आपने विशेष सफलता अर्जित की है। बच्चों के लिए कविताओं की दो पुस्तकें 'आँगन का फूल' तथा 'दादी का मटका' हैं तथा 'कथाकुंज' कहानी-संग्रह हैं। आपका सहगान इस प्रकार है—

हम मनमोहन, हम गोपाल, नाचें सब मिल देकर ताल
ता-ता थैया ता ता थैया।
खिलती हैं बागों में कलियाँ, गमक रहीं फूलों की डलियाँ।
चलो मनाएँ हम रंगरलियाँ, देश हमारा ब्रज की गलियाँ।
हम मनमोहन, हम गोपाल, नाचें सब मिल देकर ताल।⁹

10. शकुंतला सिरोठिया

आपने बच्चों के लिए बहुत ही मुधुर गीत लिखे हैं, जिनसे पता चलता है आपको बालमनोविज्ञान की परख है। प्रस्तुत है आपकी बाल-कविता—

अम्मा मुन्ना नहीं मानता, मेरी गुड़िया लेता है।
अपनी गेंद छिपा देता है, मुझसे बहुत झगड़ता है।
अम्मा तेरी मुन्नी मेरी रोज शिकायत करती है।
मैं गुड़िया से व्याह करूँगा, यह क्यों नहीं समझती है।

आपकी एक लोरी इस प्रकार है—

आँख बंद कर सुन रे मुन्ना! बाज रही शहनाई।
तेरी पलकों पर शरमीली, नीद उतरकर आई।
बात नहीं करती है लाओ, तू भी अब चुप हो जा।

निंदिया के संग मेरे लाड़ले, आ सपनों में सोजा।

बच्चों के लिए आपकी प्रकाशित पुस्तकें हैं 'काँटो में खिलते हैं फूल', 'चटकीले फूल', 'आरी निंदिया', 'गीतो भरी कहानी', 'उन्होंने शिकार खेला', 'नन्ही चिड़ियाँ', 'शिशु नगर', 'बादल' और 'कारे मेघा पानी दे'। बच्चों की मस्ती की आपकी एक और कविता प्रस्तुत है—

दुम्मक-दुम भाई दुम्मक दुम।

मैं हूँ राजा नौकर तुम,

चच-चच बात गलत कहते हो।

मैं हूँ राजा, नौकर तुम।

चंदामामा पर अनेक कविताएँ लिखी गई हैं, लेकिन शकुंतलाजी की इस कविता की विशेषता है कि बच्चा चंदामामा से शर्त रखता है कि मैं तुमसे आगे निकल जाऊँगा—

चंदामामा ठहरो थोड़ा कहाँ चले जाते हो?

खेल रहे क्या आँख-मिचौनी, बादल में छिप जाते हो।

मुझे बुला लो मैं देखूँगा, कितने हो छिपने में तेज।

नहीं पकड़ पाओगे मुझको, मैं दौड़ूँगा तुमसे तेज।

आपने शिशुगीत भी लिखे हैं—

बादल आया झूम के, पर्वत चोटी चूम के।

इंद्रधनुष का पहने हार, ले आया वर्षा की धारा।

मेढक राजा मग्न हुए, झिंगुरा के सुख स्वप्न हुए।

कजरी की धुन आती है, नन्ही चिड़िया गाती है।¹⁰

11. महादेवी वर्मा

बच्चों के लिए लिखने से आप अपने आपको रोक नहीं पाईं और एक सुंदर-सी बालकविता 'अब यह चिड़िया कहाँ रहेगी' लिखी है—

घर में पेड़ कहाँ से लाएँ, कैसे यह घोंसला बनाएँ,

कैसे फूटे अंडे जोड़े, किससे अब यह बात कहेगी,

मेरी चिड़िया कहाँ रहेगी?¹¹

12. पद्मा चौगाँवकर

आपने बच्चों को ज्यादा गहराई से समझा है, शायद इसीलिए आपको बच्चों की शैतानियों में आनंद मिलता है। यहाँ पर बिल्ली के छींके पर चढ़ने की कोशिश को अपने बड़ी ही खूबसूरती से बालकविता में उतारा है—

बिल्ली आई एक कलूटी, छींके ऊपर देखी मटकी।

कूदी, लपकी, उछली, लटकी, यहाँ चढ़ी, वहाँ से अटकी।

ऊपर-नीचे उलझी-अटकी मगर मिली न घी की मटकी।

यहाँ पर अपने बादलों का कैसा सुंदर चित्र खींचा है, जिससे लोकसाहित्य के प्रतीकों को माध्यम बनाया है—आसमान में बजे नगाड़े, या बुढ़िया दलती सिघाड़े। इस कविता में स्कूल के घंटे को मानव की तरह सोचते हुए दिखाया है—

टन-टन टन-टन घंटा बोला, हो गई छुट्टी, कहकर डोला।
झट कंधों पर लटके बस्ते, बच्चे भागे घर के रस्ते।
अब घंटा मन में पछताया, नाहक अपना गाल बजाया।
नहीं करूँगा छुट्टी कल से, वयूँ यूँ सूने रहे मदरसे।¹²

13. सरोजिनी कुलश्रेष्ठ

आपने हिंदी बालसाहित्य को अच्छी लोरियाँ दी हैं। आपकी कुछ अच्छी कविताएँ भी हैं। प्रस्तुत हैं, कागज की नाव पर लिखी कविता—

चल कागज की नाव,
तुझे तो जाना है उस पार—
हड़िया हो, हड़िया हो!
लहरें तुझको उठा रही हैं,
हर पल आगे बढ़ा रही हैं।
बढ़ती चल तू नाव हमारी,
मत रुकना मझधार
हड़िया हो, हड़िया हो!

जुगनू पर लिखी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

टाच चलाते और बुझाते, ऐसे ही जलते, बुझ जाते।
धरती के तारों से लगते, लेकिन ये तो उड़ते फिरते।

आपकी प्रकाशित हुई कविता 'बोलो माँ' बालकविता श्रेष्ठ और प्रभावशाली कविता है, जिसमें बताया गया है, भूकंप में मची तबाही के बारे में बच्चा क्या सोचता है—

माँ धरती क्यों है डोल रही थी, धुर-धुर करती बोल रही थी?
इसके ऊपर हम रहते हैं, कूद-फाँद करते रहते हैं।
तब सह लेती थी सब शैतानी, कभी न की इतनी मनमानी।
अब क्यों हमको तोल रही थी?
लोग मर गए इतने सारे, बिछुड़ गए आफत के मारे।
कुछ रोते रह गए बेचारे, घर भी टूट गए हैं सारे।
क्यों इतना विष घोल रही थी?

संभवतः भूकंप के विनाश पर आज तक इतनी अच्छी कविता नहीं लिखी गई है।¹³

14. सरोजिनी अग्रवाल

आपकी बाल-कविताओं में हास्य का पुट नजर आता है। आपकी बाल-कविताओं की पुस्तकें इस प्रकार हैं, 'गुड़िया गाए गीत' 'हँसते गाते' व 'इंदिरा दीदी' आपकी 'झंडू सेठ' नामक कविता में भाषा की शरारत साफ नजर आती है—

मुझको कहते झंडू सेठ, छोटा कद है मेटा पेट,
नाक पहाड़ी मिर्च-सी, कान खटाई की फाँके,
आँखे गोल-मटोल बड़ी, इधर-उधर ताकें-झाँके
टूटा दाँत बनाए गेट, मुझको कहते झंडू सेठ।¹⁴

15. इंदिरा परमार

आपने बहुत सधी हुई और ज्यादा असरदार बालकविताएँ हिंदी बालसाहित्य को दी हैं यह आपकी 'चूहेराम' कविता है—

बिल से अभी-अभी निकले देखो नटखट चूहेराम,
बिना बात के इधर-उधर भागे झटपट चूहेराम,
चुप न कभी रह पाते हैं, करते खटपट चूहेराम
बड़े-बड़े गोदामों तक पहुँचे अटपट चूहेराम।

16. मधु भारतीय

आप लंबे समय से बच्चों के लिए कविताएँ लिखती आ रही हैं। आपके बाल-कविताओं के संग्रह हैं—'गुड़िया का व्याह', 'गीतों की फुलवारी' तथा 'आओ मिलकर गीत गाएँ'। आपकी चरखे पर लिखी कविता में चंचलता का भाव है—

मेरे चरखे चूँ-चूँ चल, सूत कातता तूँ तूँ चल,
मेरी तकली चले धुन-धुन, रूई बोली तुन-तुन-तुन।
सूती कपड़े बुन-बुन-बुन, जीवन के सुख चुन-चुन-चुन।¹⁶

17. कामिनी दीदी

पुरानी फिल्मों की अभिनेत्री कामिनी कौशल ने कामिनी दीदी के नाम से बच्चों के लिए प्यारी-प्यारी सुंदर कविताएँ लिखी हैं। आपकी एक बेहद मजेदार कविता है, जिसमें वे विस्तर पर लेटकर सोच रही होती हैं कि आज मैंने कैसी रंग-बिरंगी चीजें खाई हैं। जैसे—श्वेत दूध, पीला मक्खन, लाल संतरे, गुलाबी आइस्क्रीम आदि। 'कितनी रंग बिरंगी चीजें' कविता के अंत में वह कहती हैं—

मैंने इतना सब था खाया, पेट अचानक फटने आया,
अगर कहीं सचमुच जाता फट, इंद्रधनुष बाहर आता झट।¹⁷

18. शीला गुजराल

आप पुरानी कवयित्री हैं। जिन विषयों पर आपने कविताएँ लिखी हैं, उनमें बच्चों द्वारा पसंद बनने की क्षमता है, क्योंकि इन कविताओं में चटपटापन है—जैसे नौकर से संबंधित यह कविता—

मेरा नौकर गोल-मटोल, कौए का सा उसका बोला
कछुए जैसी उसकी चाल, सिर पे उसके एक न बाल।
ये सारी कवयित्रियाँ बीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक की हैं।¹⁸

19. शुभा वर्मा

आपने लंबी बाल-कथात्मक कविताएँ लिखी हैं, जिनमें एक है—'निशू और चाँद', जिसमें बच्चों और चंदांमामा की बातचीत का वर्णन है—

'लगता है तुम सब जल्दी ही मामा के घर आओगे
उसे न छोड़ोगे, अपने संग खेलो और खिलाओगे'
'तो क्या मामा अच्छा नहीं लगेगा तुमको
हम सबके आ जाने से दुख होगा तुमको।'

‘पगली नहीं, लगेगी मुझको खुशी और भी
तुम्हें देखकर आ जाएगी हँसी और भी।’
‘लेकिन मामा आकर यहाँ खाएँगे क्या हम
दानापानी बिना न मर जाएँगे क्या हम?’¹⁹

20. सुधा चौहान

बालसाहित्य में थोड़ा कम योगदान होने के बावजूद आपने जो भी बालकविता या शिशुगीत लिखे हैं, वे अपनी अर्थवत्ता और गहराई के कारण प्रभावशाली हैं। ऐसा ही ऊँट पर लिखा सादगी-भरा गीत द्रष्टव्य है—

रोज सवेरे कितने ऊँट, पीठ लाद ढेरों तरबूज।
धीरे-धीरे कहाँ चले, जब पहुँचेंगे पेड़ तले,
गर्दन ऊँची कर खाएँगे, कड़वी नीम चबा जाएँगे,
मालिक हाँकेगा जब उनको, बल-बल, बल-बल गुस्साएँगे।

फलों पर आपने कुछ शिशुगीत लिखे हैं, जिनमें परंपरा-निर्वहन के साथ-साथ नवीनता भी है जैसे—‘नारंगी’ और सारंगी में कैसा साम्य बिठाया है, क्योंकि दोनों में ही रस और माधुर्य है—

नारंगी रस की नारंगी,
बेच रहा फलवाला गाकर, और बजाता है सारंगी।
चमक रहा है छिलका पीला,
सुंदर फल है बड़ा रसीला।

इसी तरह केला पर लिखा गया शिशुगीत वर्णनीय है—

हरे-हरे छिलकों का केला, इससे भरा हुआ हे ठेला।
फलवाला चिल्लाता लेलो, मीठा हलुवा सा है देखो।
बीज न गुठली इसमें पाओ, छिलका छीलो, गप से खाओ।²⁰

21. प्रभाकिरण जैन

उभरती हुई नई बाल-कवयित्रियों में आपका स्थान है। आपके शिशुगीतों में कल्पना की उड़ान है—

कहता है भैया, दीदी मैं, ऐसी गाड़ी लाऊँगा,
सारी दिल्ली पलक-झपकते, सममुच तुम्हें घुमाऊँगा,
उसके बाद चलेंगे लंदन, पेरिस, सिडनी, बर्लिन भी,
मम्मी-पापा, चाचा-चाची, सैर करेंगे साथ सभी।

इसी तरह से ‘नीली टोपी लाल रूमाल’ वाले बंदर से मिलिए—

नीली टोपी लाल रूमाल,
देखो बंदर जी की चाल,
नाच-नाचकर खेल रहे हैं,
दंड दनादन पेल रहे हैं,
हाथ बराबर झटक रहे हैं।²¹

22. कुसुम अग्रवाल

आपकी बीसवीं शताब्दी की बालसाहित्यकार हैं, आपकी कविता में बचपन में बर्फ-मलाई बच्चों को कितना लुभाती है, इसी का वर्णन है—

ठंडी-ठंडी बर्फ मलाई,
ठेलेवाला लाया भाई।
टन-टन घंटी खूब बजाए,
बच्चों को आवाज लगाए।
जिसने-जिसने लेकर खाई,
गर्मी से कुछ राहत पाई।²²

23. कृष्णा सोबती

वैसे तो आप मूलतः कथालेखिका हैं और हिंदी साहित्य को अपने अपनी रचनाओं से खूब समृद्ध किया है, किंतु आपकी एक और विशेषता सबके सामने आई है, वह है बालकवयित्री के रूप में। भाई-बहन की मीठी छेड़छाड़ पर कैसी सुंदर कविता है—

थाल कटोरी,
भाइ बहिन की, मीठी जोड़ी,
प्यार बहुत है,
छीना-झपटी, थोड़ी-थोड़ी।

आपका यह शिशुगीत 'नंदन' के अप्रैल 1980 के अंक में छपा है। एक नई प्रयोगात्मकता के साथ 'ओढ़नी' नामक बालकविता बदलते रंगों के माध्यम से जीवन के विविध रंगों को प्रकट करती है। ये है प्यारा अपना सा गीत—

सितारों जड़ी ओढ़नी, किसकी? रात की।
गुलाब रंग ओढ़नी, किसकी? प्रभात की।
धुली-धुली ओढ़नी, किसकी? दोपहरी की।
साँझ की चुनरिया, लाल सी, सुनहरी सी।²³

उन बाल-कवयित्रियों के अतिरिक्त हिंदी बालसाहित्य में और भी बाल-कवयित्रियाँ हुई हैं। जैसे—कुमारी कृष्णा सरिन, शोभा मिश्र, शांतिप्रभा श्रीवास्तव, शाशिप्रभा शास्त्री, विभा देवसरे, शकुंतला कालरा, रेखा राजवंशी, पूनम भट्ट, आशारानी व्होरा, डॉ॰ विद्याविंदु सिंह, डॉ॰ सरोजिनी प्रीतम, सवित्री परमार, पुष्पारानी गर्ग, सुनीता कट्टी, स्नेहलता प्रसाद, उषा यादव, नीलिमा सिन्हा, अर्जलि रस्तोगी आदि।

इस प्रकार कहा जा सकता है बालसाहित्य की जो परंपरा हमारे सामने है, उसमें महिला बालसाहित्यकारों का बहुत बड़ा योगदान है। उनके ममतामय हृदय से जो बच्चों के लिए उद्गार निकलते हैं, वे अनमोल हैं, क्योंकि माँ जितनी अच्छी तरह से बालमन को समझ सकती है, कोई दूसरा नहीं। इन्हीं कारणों से माँ का बालक से रिश्ता सबसे निकट का होता है, वह पल-पल अपने हृदय में बालरूप की झाँकी उतारती है। माँ अपने बालक को देखकर अघाती नहीं है, वह चाहे जितना बालक को प्रेम करे, फिर भी मन-ही-मन यह सोचती है कि मुझसे कहीं कमी रह

गई है। वही भारतीय माँ जब अपने बच्चों और सभी बच्चों के लिए प्रेमपूर्वक, गद्गद् होकर अपनी लेखनी से कुछ लिखती है, तो वह प्रायः मधुर व उपयोगी ही होता है। सुभद्राकुमारी चौहान जैसी और भी कवयित्रियाँ हुई हैं, जिन्होंने देशप्रेम से लेकर अनेक भावों की कविताएँ लिखी हैं। आज जो हमें बालकविता की मजबूत स्थिति दिखाई देती है, उसके लिए ज्ञात-अज्ञात पुरुष एवं महिला बालसाहित्यकारों ने संघर्ष किया है, आज के बालसाहित्य को नई संभावनाओं से युक्त बनाकर सभी नए-पुराने साहित्यकारों को इस पर काम करना चाहिए, तभी बालसाहित्य नई ऊँचाई को छू पाएगा।

संदर्भ

1. हिंदी बालसाहित्य : एक अध्ययन, डॉ० हरिकृष्ण देवसरे, पृ० 211
2. वही, पृ० 212
3. वही, पृ० 213
4. वही, पृ० 215
5. वही, पृ० 215
6. वही, पृ० 215
7. वही, पृ० 216
8. वही, पृ० 216
9. वही, पृ० 217
10. वही, पृ० 217
11. हिंदी बालकविता का इतिहास, प्रकाश मनु, मेधा बुक्स नवीन शाहदरा, दिल्ली, वही, पृ० 84
12. वही, पृ० 134
13. वही, पृ० 135
14. वही, पृ० 137
15. वही, पृ० 138
16. वही, पृ० 138
17. वही, पृ० 135
18. वही, पृ० 137
19. हिंदी बालसाहित्य : नई चुनौतियाँ और सम्भावनाएँ, कृतिका बुक्स, वही, पृ० 138
20. वही, पृ० 69
21. वही, पृ० 110
22. वही, पृ० 111
23. वही, पृ० 113

NET (हिंदी)

मोहल्ला खरगजीतनगर
जिला मैनपुरी (उ०प्र०)

सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों को चुनौती देता आत्मकथात्मक उपन्यास : दोहरा अभिशाप

डॉ० मधुछंदा चक्रवर्ती

कौसल्या बैसंत्री द्वारा लिखित आत्मकथात्मक उपन्यास दोहरा अभिशाप एक ऐसी कथा है, जिसमें लेखिका ने अपने जीवन में भोगे हुए यथार्थ द्वारा कई ऐसी बातों को सामने लाकर रख दिया है, जिसे जानने की आज समाज को सबसे ज्यादा जरूरत है। हम दलित समाज के उद्धार के बारे में, उनके साथ सदियों से हो रहे अन्याय के बारे में बात करते हैं। वर्तमान समय में भी दलितों पर तरह-तरह के अत्याचार हो रहे हैं। लेकिन वास्तविक समस्या कहाँ है, क्या है, इसके बारे में शायद ही हम कभी विचारते हैं। ऐसे में कौसल्या बैसंत्री द्वारा लिखित यह आत्मकथात्मक उपन्यास हमें दलित समाज के उस यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट दिखाता है, जिसमें आज भी अशिक्षा, अंधविश्वास, अपने उत्थान के प्रति उदासीनता, स्त्रियों के प्रति उनकी गलत सोच आदि न जाने कितनी ऐसी समस्याएँ हैं, जिन्हें दूर करने के बाद ही दलित समाज का वास्तव में विकास हो सकेगा। वैसे तो कथा एक स्त्री की आत्मकथा है, परंतु यह रचना दलित-समाज का प्रतिनिधित्व करती हुई नजर आती है, क्योंकि इनमें जिन समस्याओं का लेखिका ने स्वयं सामना किया है, वैसे ही न जाने कितनी और महिलाओं ने भी सामना किया होगा।

एक तो दलित, उस पर स्त्री। हमारे समाज की सबसे बड़ी विडंबना यही रही है कि स्त्री चाहे किसी भी वर्ग से हो, उसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लड़ना ही पड़ा है। फिर चाहे परिस्थितियाँ भिन्न हो या समस्याएँ भिन्न हों। हर वर्ग की स्त्रियों को लड़ना ही पड़ा है। कौसल्या जी भी इनमें से एक हैं, जिन्होंने अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ी है। कथा के आरंभ में उन्होंने अपने अपने माता-पिता के बारे में लिखा है, जिसमें उन्होंने यह बताया कि किस प्रकार से उनके माता-पिता जीवन-भर गरीबी, जातिगत समस्याओं तथा अंधविश्वास आदि से लड़ते रहे तथा उन्हें और उनकी सभी बहनों और भाई को शिक्षित करके जीवन जीने का सही मार्ग दिखाया। इसमें सबसे बड़ा योगदान उनकी माँ का था, जिन्होंने हर कष्ट झेले, फिर भी अपने सिद्धांतों पर डटी रहीं। यह भावना भी उनको विरासत में मिली हुई है अर्थात् कौसल्या जी की नानी, जिन्हें वे आजी कहकर बुलाती हैं। आजी ही उनके परिवार की नहीं, बल्कि उनके समुदाय की सबसे पहली महिला होंगी, जिन्होंने अपने स्वाभिमान की खातिर उनपर अत्याचार करनेवाले पति का साथ छोड़ा और स्वयं अपने बच्चों का पालन-पोषण करने लगीं। यद्यपि आजी में स्वाभिमान था, परंतु शिक्षा का अभाव था, जिसके कारण उन्हें कष्टों का सामना करना पड़ा। परंतु अपने बच्चों के लिए

उन्होंने जितना कुछ अकेले साहस के साथ किया, इसी ने उनके बच्चों में भी वे सारे गुण भर दिए, जिससे बाद में कौसल्या जी तथा उनके परिवार को दलित-समाज का होते हुए भी आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती रही।

कौसल्याजी ने दलित-समाज से जुड़ी कई सारी समस्याओं को अपनी इस आत्मकथा में उजागर किया है। जैसे अस्पृश्यता, अंधविश्वास, बाल-विवाह, अशिक्षा, परिवार-नियोजन के अभाव में होनेवाली समस्याएँ, अस्वच्छता, बालकों के जन्म के बाद बीमारी तथा इलाज के अभाव में मृत्यु, गरीबी, वर्ण-भेद, सामाजिक कुरीतियों तथा बंधनों का बोझ, जातिवाद, स्त्रियों के प्रति लोगों की सीमित तथा सामंतवादी सोच, दलित-समाज के लोगों के प्रति घृणा रखनेवाले उच्च-वर्ण के लोगों का रवैया आदि को उन्होंने विस्तृत तरीके से अभिव्यक्त किया है। अपने जीवन के एक-एक प्रकरण को याद करते हुए वे हर एक घटना का उल्लेख करती जाती हैं, जिसमें न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन की कथा है, बल्कि पूरे दलित-समाज की छवि भी उभर आती है। अपनी आजी के बारे में बताते हुए वे लिखती हैं कि किस प्रकार अस्पृश्यता के कठोर पालन के कारण समाजगत रूप से काम-काज का भी बँटवारा होता था। घर की सभी औरतें और मर्द खेत में काम करते थे। आजी घर में अपने भाइयों के बच्चों के साथ खेलती थीं और घर के छोटे-मोटे काम करती थीं, जब वह छह-सात वर्ष की थीं। कभी-कभी खेतों में भी बड़ों के साथ जाकर जमीन से खर-पतवार वगैरह निकालती थीं, अस्पृश्यता का पालन बहुत कट्टरता से होता था, इसलिए सवर्णों के घरों में इनको काम नहीं मिलता था। सिर्फ लकड़ियाँ काटना या कुछ भारी सामान ढोने का काम ही इन्हें मिलता। अक्सर बड़े कष्ट के काम ही इनके हिस्से में आते थे। इसी प्रकार अपने जन्म के समय के प्रकरण द्वारा भी दलित-समाज में फैले अंधविश्वास एवं अस्पृश्यता का एक और उदाहरण प्रस्तुत किया है। मेरा जन्म 8.9.1926 को इस खलासी लाइन बस्ती में हुआ था। बड़ी बहन जनाबाई के बाद लगातार एक भाई और दो बहनों की मृत्यु हो गई थी, इसलिए आजी और माँ ने शिवजी भगवान से मंदिर के बाहर खड़े होकर प्रार्थना की और भगवान से मन्त माँगी कि अगर मैं दस वर्ष की हो जाऊँगी और मेरे बाद जो बच्चे पैदा होंगे, वे जीवित और स्वस्थ रहेंगे तो वह शिवजी के मंदिर में जाकर बकरे की बलि देंगी और मेरे वजन के बराबर चावल और गुड़ चढ़ाएँगी। तब बलि-प्रथा हमारे अस्पृश्य समाज में चल रही थी। माँ और आजी ने मंदिर के बाहर से ही भगवान से लंबी आयु के लिए प्रार्थना की थी, क्योंकि अछूतों को मंदिर में जाने की मनाही थी। मेरे जन्म के तुरंत बाद ही घर में कुछ मंत्र-तंत्र, टोने वगैरह किए गए। पैदा होते ही पाँच धातु की (सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा और पीतल) नथ से मेरी नाक छेदी गई। ब्राह्मण के घर से जूठी पत्तल लाकर उसके ऊपर मुझे पाँच बार इधर-उधर घुमाया गया। ब्राह्मण श्रेष्ठ व्यक्ति होता है, भगवान के समान, यही भावना इसके पीछे रही होगी। अब मुझे इसकी याद आते ही बहुत अपमान महसूस होने लगता है। उस वक्त माँ-बाबा अशिक्षित थे और अपनी घटिया परिस्थिति के बारे में सचेत नहीं थे। माँ-बाबा ही नहीं, संपूर्ण दलित-समाज अज्ञान, अशिक्षा के गर्त में पड़ा था। अपने अधिकार, अपनी परिस्थिति के बारे में ज्यादा नहीं सोचता था वह, उसे अपने पेट की ही चिंता रहती थी कि कल चूल्हा कैसे जलेगा। सच में कितना गहरा चुका था यह अंधविश्वास। दलित और अस्पृश्यता तो समाज ने जबरदस्ती कमजोर और दरिद्रों पर थोपी थी, परंतु सदियाँ बीत गई इस थोपे हुए अभिशाप को ढोते-ढोते। हाँ एक समय ऐसा था, जब

सच में ब्राह्मण श्रेष्ठ हुआ करते थे। तपस्या करके, जंगलों में कुटिया बनाकर राजा से लेकर रंक तक सबको शिक्षा प्रदान करके, समाज तथा सृष्टि के कल्याण के लिए यज्ञ आदि करना, गरीबों की विवशता समझकर उन्हें वरदान या चमत्कार द्वारा उनको लाभ पहुँचाना आदि ब्राह्मण किया करते थे। परंतु वह कोई दूसरा ही युग था। कलयुग जिसे आज कहा जाता है, इस युग में तो ब्राह्मणों ने केवल और केवल अपने स्वार्थ पर ही ध्यान केंद्रित किया है, शिक्षा भी अधूरी और केवल वही सीखा कि ब्राह्मण श्रेष्ठ है। दरअसल, जितनी समस्याएँ दलित-समाज की हैं, उससे कहीं ज्यादा समस्याएँ पूरे समाज की ही हैं। वह यह है कि सब अपने-आपको श्रेष्ठ समझते हैं तथा दूसरों को छोटा। जिसके पास शक्ति है, वह आसानी से इस बात का पालन करवा लेता है और जो कमजोर है, वह इस परिस्थिति से समझौता कर यथास्थितिवादी बनकर रह जाता है। दलित-समाज का भी यही हाल था और अभी भी है। परंतु शिक्षा के माध्यम से ये सब दूर हो सकते हैं। अशिक्षा और अंधविश्वास का तो यह केवल एक रूप था, परंतु इसके और भी कई पहलु हैं, जिसे कौसल्या जी ने अपनी रचना में व्यक्त किया है। जैसे वह जिस खलासी लाइन में अपने परिवारवालों के साथ रहती थीं, उसी लाइन में रहनेवालों की दिनचर्या का विस्तृत विवरण दिया है। गरीबी और अशिक्षा के कारण लोग ज्यादा जागरूक नहीं थे। दलित-समाज में भी एक-दूसरे के साथ छूआछूत बरती जाती थी। माँग और महार, सफाई करनेवाले लोग हो या गोंड (आदिवासी औरतें) सभी में छूआछूत रहता था। अस्वच्छता के कारण इन्हीं गरीब लोगों के घरों में बच्चे अक्सर बीमार पड़ जाते थे और इनकी इलाज के अभाव में मृत्यु भी हो जाती थी। रेंगनेवाला बच्चा हो तो उसके पाँव में लंबी रस्सी बाँधकर उसका एक सिरा किसी खाट से बाँध देते थे और आसपास कुछ खाना कटोरी में रख देते थे या मुरमुरे जमीन पर ही डाल देते थे। बच्चा उन्हें बीन-बीनकर खाता रहता था। रो-रोकर जमीन पर ही सो जाता टट्टी-पेशाब में। ऐसे में उन्हें बीमारियाँ होना स्वाभाविक था और मृत्यु भी। दूसरा कारण यह भी था कि ये सभी लोग इतने गरीब थे कि इनके पास डॉक्टर की फीस तो दूर की बात, भर-पेट भोजन लायक भी कुछ नहीं होता था। ऐसे में इनके लिए अंधविश्वास वाले तरीके अपनाए जाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं था। इसी प्रकार का एक यथार्थ उदाहरण उन्होंने दिया है, बच्चे को ज्यादा बीमार होने पर ही डॉक्टर के पास ले जाते थे। कभी नगरपालिका के दवाखाने में या सरकारी अस्पताल में। घर में भी झाड़ू-फूँक करनेवाले से तंत्र-मंत्र, टोने-टोटके वगैरह कराते थे। लोग भूत-प्रेतों पर ज्यादा विश्वास रखते थे। जादू-टोने पर भी करते थे। ऐसे जादू-टोने, टोटके करनेवाले कुछ लोग बस्ती में ही थे। खसरा, चेचक, टाइफाइड को देवी का प्रकोप मानकर वे शीतला माता की पूजा करते थे। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि दलित-समाज में शिक्षा का कितना अभाव था। सच भी है कि ऐसा होना स्वाभाविक है। क्योंकि न तो किसी ने वास्तविक तौर पर इन्हें इनकी खामियों को दिखाने, समझाने तथा सुधारने की सही कोशिश की, न ही दलित-समाज ने स्वयं कभी इन बातों पर ध्यान दिया। दूसरे दलित-समाज भी पूरी तरह से अपने में ही डूबा हुआ था। शिक्षा एवं स्वच्छता जैसी बातों के प्रति उदासीन था। गरीबी का तो एक सबसे कुत्सित रूप भी इन्होंने उजागर किया है और यह किसी और के द्वारा नहीं, बल्कि दलित-समाज के लोगों की अपनी लापरवाही के कारण भी गरीबी भुगतनी पड़ती थी।...जिस दिन पैसा मिलता था, उस दिन लोग खूब शराब पीते, बढ़िया खाना खाते थे, सारा पैसा एक ही दिन में खाने-पीने में उड़ा देते थे। उन्हें

दूसरे दिन के खाने की चिंता नहीं रहती थी। दूसरे दिन घर में पड़े पीतल के वर्तन वगैरह बस्ती के लोगों के घर गिरवी रखने के लिए विनती करते फिरते थे। कभी अपना बाजे का सामान भी गिरवी रखते थे। ग्रहण लगने पर वे उसके छूटने का बेसब्री से इंतजार करते थे और 'दे दान छूटे गिरान' की आवाज लगाकर बस्ती में और बस्ती के बाहर स्पृश्य लोगों के घरों में दान माँगते थे। लोग इन्हें पुराने कपड़े, पैसे, चावल, दाल वगैरह देते थे। सिर्फ माँग जाति के ही लोग यह दान लेते थे। पैसा आज के समाज की सबसे बड़ी जरूरत है। यह न केवल आज की बल्कि सदियों से ही धन जीवन के कई जरूरतों और सुख-सुविधाओं के लिए आवश्यक रहा है। धन के अभाव ने लोगों से बहुत कुछ करवाया भी है। परंतु धन कैसे कमाया जाए, कैसे उसका उपयोग किया जाए यह केवल कुछ ही लोग जानते हैं। गरीबों को इसके बारे में नहीं पता। धन मिलने पर उनके लिए अपनी भूख को मिटाना ही सबसे पहला काम है। यह भूख ही है, जिसने पूरे संसार को अपनी मर्जी से चला रहा है। इसी भूख ने ही लोगों को राक्षस बनने पर भी विवश किया है। फिर दलित समाज के लिए तो धन मिलने पर एक ही दिन में उड़ा देना कोई बड़ी बात नहीं है। वह सदियों से ही भूखा-नंगा रहता आया है। उसके लिए पेट की आग को शांत करने के अलावा कोई और मतलब नहीं है। फिर भी यदि इन बेचारों को पता होता कि बचत क्या चीज है तो शायद ये हर दिन भूखे नहीं सोते। यह भी सत्य है कि पैसा हमेशा ठहरता नहीं है।

इन प्रकरणों से स्पष्ट होता है कि दलित-समाज को सुधारने तथा उसके विकास के लिए दलितों के जीवन में गहरे रूप से जमी इन कुप्रथाओं का, अंधविश्वासों तथा बुरी आदतों का अंत करना कितना जरूरी है। जब तक स्वयं उन्में इन सब बातों के विरुद्ध जागरूकता नहीं होगी, कुछ भी संभव नहीं है। कौसल्याजी की माँ शायद इस बात को समझ चुकी थीं, तभी उन्होंने अपने सभी बच्चों को शिक्षित करने की ठान ली थी। उनके पिता ने भी साथ दिया। यहीं से इनके कठोर संघर्ष का प्रारंभ हुआ। कौसल्याजी ने प्रकरण 7 में इसका जिक्र करते हुए जाई बाई चौधरी नामक एक अछूत महिला के बारे में लिखा है जिन्होंने अपने घर में अछूतों की लड़कियों के लिए स्कूल खोला था। उनके द्वारा शिक्षा के महत्त्व समझाने पर कौसल्याजी की माँ ने कौसल्याजी और उनकी बहन को स्कूल में भेजना शुरू किया। उन्होंने पढ़े-लिखे लोगों के संपर्क में आने के बाद अपने और उनमें जो फर्क महसूस किया इसी बात ने उन्हें अपनी बेटियों को शिक्षित करने का निर्णय करा लिया था। वास्तव में शिक्षा व्यक्ति के जीवन में कई प्रकार की सकारात्मक ऊर्जा भर देती है और परिवर्तन भी लाती है। स्वाभिमान तो उनके रक्त में था ही, फिर शिक्षा का महत्त्व भी उन्होंने समझ लिया था। उसी प्रकार उन्होंने भागुजी बनसोडे नामक एक सामाजिक कार्य में रुचि रखनेवाले तथा अस्पृश्यों में जागृति लाने का काम करनेवाले व्यक्ति का भी जिक्र किया है। वे महात्मा ज्योतीराव फुले जी के सिद्धांतों से प्रेरित थे। ऐसे पढ़े-लिखे, जाग्रत लोगों के संसर्ग में आकर दलित-समाज का कोई भी व्यक्ति अपने पिछड़ेपन से बाहर आ सकता है। परंतु कहने में जितना यह सरल लगता है, उतना ही रास्ता कठिन है। कौसल्याजी ने उन समस्याओं को अभिव्यक्त किया है, जो उनके और उनकी बहनों के शिक्षा के रास्ते में बाधा बनकर खड़ी थीं, जिसमें सबसे पहली समस्या थी बाल-विवाह और दूसरी समस्या थी स्त्रियों के प्रति लोगों की सीमित एवं कुत्सित सोच की। बाल-विवाह की प्रथा हमारे देश में वर्षों से रही है। वर्तमान समय में इसका उन्मूलन हो चुका है, फिर भी अभी तक हमारे देश के कई हिस्सों में तथा गरीब परिवारों

में यह कुप्रथा जारी है। कौसल्याजी के माता-पिता भी इस सामाजिक कुप्रथा से बच नहीं पाए। उन्होंने भले ही निश्चय कर लिया था कि वे अपनी सभी बेटियों को शिक्षित करेंगे, लेकिन उन्हें अपनी बड़ी बेटि की शादी तेरह वर्ष की आयु में ही कर देनी पड़ी और फिर बड़ी बेटि आगे नहीं पढ़ पाई, जिसका दुख कौसल्याजी की माँ को जीवन-भर रहा। उन्होंने लिखा कि आदमी कितना ही दृढ़ हो फिर भी सामाजिक बंधनों के आगे उसे झुकना ही पड़ता है। कुछ रीति-रिवाजों को मानना ही पड़ता है चाहे इच्छा न हो, नहीं तो सामाजिक विरोध सहन करना पड़ता है। माँ-बाबा का बड़ी बहन को आगे पढ़ाने का बहुत मन था। माँ चाहती थीं कि बहन पढ़कर कम-से-कम प्राइमरी शिक्षिका बने। परंतु उनका विवाह करना भी जरूरी था, क्योंकि ज्यादा बड़ी होने पर लड़का मिलना मुश्किल काम था। यह सामाजिक विरोध केवल बड़ी बहन के समय ही नहीं बल्कि बाद में भी झेलने पड़े, जब कौसल्याजी और उनकी बाकी बहनें तथा भाई बड़े स्कूल तथा कॉलेज में पढ़ने जाने लगे। कौसल्याजी ने ऐसे कई सारे प्रसंग बताए हैं, जहाँ उन्हें और उनके परिवारवालों को कड़े सामाजिक विरोध का सामना करना पड़ा है। जैसे प्रकरण 11 में उन्होंने लिखा है—बस्ती में कुछ लोग ऐसे भी थे, जो हमारा सुधरा हुआ रहन-सहन सहन नहीं कर पाते थे। उनमें हमारे कुछ रिश्तेदार भी थे, जो हम पर इसलिए नाराज थे कि हम पढ़ते क्यों हैं? माँ उन्हें अहमियत नहीं देती थीं। वे लोग बस्ती के कुछ लोगों से मिलकर हमें तरह-तरह से तंग करते थे। गणपति उत्सव के समय हमारे घर पर बड़े-बड़े पत्थर फेंकते थे। बाबा कहते थे, मूर्ख लोग हैं। इनके मुँह नहीं लगना चाहिए। एक बार तो लेखिका के साथ स्वयं ही बहुत भद्दा मजाक तक किया गया। उनकी तसवीर को किसी दूसरे लड़के के साथ जोड़कर और उनके नाम पर झूठे प्रेम पत्र लिखवाकर उन्हें बदनाम करने की कोशिश की। इतनी सारी परेशानियों के बावजूद कौसल्याजी तथा उनका परिवार शिक्षा के रास्ते से विमुख नहीं हुआ। कौसल्या जी की माँ जितनी बार भी ऐसी घटनाएँ घटतीं, वह उतनी ही दृढ़ होकर अपने बच्चों को पढ़ाने का निश्चय करतीं। शाम को घर आकर मैंने माँ को सब बताया। माँ आग-बबूला हो गई, परंतु क्या करतीं। उन्होंने हमें हिम्मत से पढ़ने को कहा और बोलीं कि वे हमें तंग करके खुद ही चुप हो जाएँगे। माँ ने मेरी छोटी बहन को डाँटा कि वह क्यों चुप रही। उसे भी उस बदमाश को दो-चार चप्पलें मारनी चाहिए थीं। बड़ी विडंबना की बात है कि जिस भारत के गुण-गान करते हमारे देश के बुद्धिजीवी लोग थकते नहीं हैं, विदेश से लोग आकर यहाँ की संस्कृति के बारे में सुनकर मुग्ध हो जाते हैं, उसी भारत की सामाजिक व्यवस्था स्त्रियों के लिए कितनी घृणा रखती है। जिस भारत ने विश्व को इतना ज्ञान दिया, उसी भारतीय समाज में रहनेवाले लोग मूर्खतापूर्ण कार्य करते हिचकते नहीं हैं। यह मूर्खता दलितों को समाज के उच्चवर्गीय स्वार्थी लोगों ने ही सिखाई है। हाँ, यह सत्य है। जहाँ समाज के ज्ञानी और संपन्न लोगों को चाहिए था कि वे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सही और उचित शिक्षा प्रदान करते, मानव-मात्र को एक-दूसरे का सम्मान करना और ईर्ष्या और द्वेष की भावना से बचकर रहना सिखाते, सबको साथ लेकर चलने की शिक्षा देते, वहाँ क्या सिखाया लोगों को? यही कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य श्रेष्ठ होते हैं, जिनके पास धन है, बल है वह श्रेष्ठ होता है। परंतु उनका क्या जो दूसरों की सेवा करते हैं, दूसरों का मैला साफ करके घर, रास्ते, गलियाँ साफ करते हैं? क्या वे श्रेष्ठ नहीं हैं? वे हमसे कहीं ज्यादा श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वे समाज के उच्चवर्ग द्वारा वर्षों से फैलाई गई गंदगी को साफ करते आ रहे हैं। यदि वे घर का काम, मरे जानवरों को ढोने का

काम, पाखाने को साफ करने का काम, रास्ते में झाड़ू लगाने का काम, खेतों में मजदूरी का काम, भारी सामान ढोने का काम आदि न करते तो इन उच्चजाति के स्वार्थी लोगों को अब तक समझ में आ गया होता कि यह बड़े-बड़े मोटे-मोटे शास्त्रों के वाचन, बड़ी-बड़ी लड़ाई और तिजोरी में पैसा भरने जितना सरल काम नहीं है। और इन कामों के न होने से कितना फर्क पड़ता है। इसलिए इनके उद्धार को महत्त्व देना अति आवश्यक है।

फिर इस वर्ग की स्त्री के उद्धार और उसकी शिक्षा-दिक्षा भी जरूरी है। क्योंकि यह वर्ग तो समाज में सबसे अधिक सक्रिय रहता है। जो रात-दिन अपने अथक् परिश्रम से सबकी आवश्यकताओं को पूरा करता आ रहा है। उसके साथ अन्याय वास्तव में पूरे समाज और देश के साथ अन्याय है। कौसल्याजी की माँ शायद यह सब न समझती हों, लेकिन स्त्री के महत्त्व को वह समझती थीं। इसलिए उन्होंने ठान ली थी कि शिक्षा द्वारा वह वर्षों से चली आ रही गुलामी को अपने बच्चों के जीवन से मिटा करके ही छोड़ेंगी। जो उन्होंने वास्तव में किया। सच एक औरत जब निर्णय ले लेती है कि उसे अपने-आपको अस्तित्व में लाना है, अपने बच्चों को शिक्षित करके जीने का सही रास्ता दिखाना ही है तो फिर चाहे कितनी भी समस्याएँ आएँ वह कर ही लेती है। यदि इस आत्मकथात्मक उपन्यास की नायिका के रूप में किसी को देखा जाए तो लेखिका कौसल्याजी की माँ तथा आजी (नानी) को ही नायिका कहना सही होगा। इसलिए क्योंकि दोनों में स्वाभिमान है, अपनी लड़ाई को पूरी क्षमता से लड़ने की शक्ति है, भले ही कितनी पुरानी जर्जर रूढ़ियाँ हों, उन्हें तोड़कर स्वतंत्र रूप से अपना जीवन जीना आता है। अपनी माँ की दिलेरी का एक और परिचय देते हुए एक दूसरे प्रकरण में लिखती हैं कि अब माँ ने हमारी शादी की चिंता छोड़ दी और पक्का इरादा कर लिया था कि चाहे कितनी भी अड़चनें क्यों न आएँ, हम सब भाई-बहनों को ऊँची शिक्षा देंगी। वह बहुत दिलेर महिला थीं। हमारे दरवाजे के पास लोग रात में टट्टी-पेशाब तक कर जाते थे, शरारत के तौर पर यह जतलाने के लिए कि हम क्यों पढ़ते हैं। माँ बड़बड़ाती हुई टट्टी-पेशाब साफ करतीं, लेकिन उन्होंने हार नहीं मानी।

आजी के बारे में तो कौसल्या जी ने पूरी कथा वर्णित की है। कैसे वह अपने परिवार में पली-बढ़ीं, उनका विवाह हुआ, फिर अचानक एक दिन वह विधवा भी हो गईं। दलित-समाज में विधवा को भी दूसरा घर बसाने की आजादी थी, परंतु आजी के लिए वह दूसरा विवाह किसी अभिशाप से कम नहीं था। उनके पति ने उन्हें केवल भोग के लिए और घर के कामों के लिए रखा था। शारीरिक-मानसिक यातनाओं से आजी ने छुटकारा पाने के लिए घर छोड़ा, अपने भाइयों से भी सहायता नहीं ली और स्वयं जीवन-भर कष्ट सहन करके भी आत्मसम्मान की जिंदगी जीकर चलीं। यह बात सिद्ध करती है कि स्त्रियाँ चाहे किसी भी वर्ग की हों, उन्हें कभी भी पुरुषवर्ग ने वह सम्मान वह स्थान नहीं दिया, जिसकी वे अधिकारिणी हैं। स्त्रियों को अपनी लड़ाई हमेशा स्वयं ही लड़नी पड़ती रही है। स्त्रियों के प्रति लोगों की घृणित सोच तो तब पार कर जाती है, जब स्त्री ही स्त्री के विरुद्ध भद्दी बातें कहने लग जाती है। इसका भी कौसल्याजी ने जिक्र किया है—मैं अस्पृश्य विद्यार्थी परिषद् की कार्यकारी परिषद् में थी। मेरा मिलना-जुलना विद्यार्थियों से होता था। लड़के मुझसे मिलने आते थे। बस्ती के लोग मेरे आँगन में चक्कर लगाते थे कि कुछ चक्कर तो नहीं चल रहा है। हमने ध्यान नहीं दिया। सब सोचते, हम आवारा हैं। बस्ती की औरतें भी ताने कसती थीं...इतनी बड़ी हो गई हैं, थन लटक रहे हैं, शादी नहीं हुई, बूढ़ी होंगी तब करेंगी

क्या? बड़े दुख की बात है कि जिस पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को एक-दूसरे के लिए खड़ा होना चाहिए था, वहाँ वह स्त्री के ही विरुद्ध ऐसी बातें करती हैं। एक तो दलित, उस पर से स्त्री दोहरे रूप में चुनौतियाँ-ही-चुनौतियाँ। इन सभी चुनौतियों का सामना कौसल्या जी ने किया है। इतना ही नहीं, कौसल्याजी के व्यक्तिगत जीवन में और भी कई चुनौतियाँ थीं। वैवाहिक जीवन में भी उन्हें कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा। उनके पति से संबंधों में तनाव बहुत था। उनके पति ने उनसे प्रेम-विवाह किया था, परंतु यह प्रेम जीवन-भर न टिक सका। उनके प्रति उनके पति का व्यवहार बहुत है रूखा ही नहीं, बल्कि लापरवाह भी था। उन्होंने अपने उपन्यास के अंतिम प्रकरणों में अपने पति के बारे में कई ऐसी बातें लिखी हैं, जिससे कि यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे व्यक्ति कितना भी पढ़-लिख ले, कितना भी आगे बढ़ जाए, पुरानी रूढ़िगत विचारधारा जब तक उसके साथ है, वह कभी भी विकसित नहीं कहला सकता है। कौसल्याजी ने यह भी बताया है कि कैसे उनके बच्चे के जन्म के समय, जिस समय एक स्त्री को सबसे ज्यादा पति की जरूरत होती है, ऐसे समय में भी वह उनको अकेला छोड़ दौरे पर चले गए थे। उनके पति एक स्वतंत्रता-सेनानी थे, परंतु उनका रूप अंदर से कुछ और बाहर से कुछ था-देवेंद्रकुमार को स्वतंत्रता-सेनानी का ताम्रपत्र मिला और पेंशन भी मिलती है। सरकार ने उसके कार्य की प्रशंसा की थी। किंतु यही व्यक्ति अपने घर में लड़ाई करता था, अपनी पत्नी से। प्रशंसा तो दूर, उसे पेंशन के जो पैसे मिलते, उनमें से भी पत्नी को एक पैसा भी नहीं देता, उसके द्वारा घर का सारा काम करने पर भी। पत्नी को वह स्वतंत्रता सेनानी भी एक दासी के रूप में ही देखना चाहता था। कौसल्याजी ने घरेलु हिंसा आदि सब-कुछ सहन किया फिर भी अपने आत्मसम्मान को बरकरार रखने की लगातार कोशिश की।

इसी प्रकार एक और प्रकरण में, जिसमें वह जिस लाइन में अपने पति के साथ रहती थीं, वहाँ की औरतों की मंडली में वह शामिल हो गई थीं। कोई नहीं तब जानता था कि वह एक दलित परिवार से हैं, वहाँ सब अलग-अलग वर्ण और वर्ग की महिलाएँ थीं। वे सभी भिंसी में चिटफंड का काम करती थीं, जिसमें कौसल्याजी भी पैसे लगाया करती थीं। किसी ने एक दिन उनकी जाति के बारे में बता दिया तो सभी औरतों के मन में एक प्रकार की हीनभावना जगने लगी कि महार होते हुए भी इतनी उच्च शिक्षित कैसे है। जाति-व्यवस्था के कारण लोगों का एक-दूसरे को हीन समझना या अपने को हीन समझना उन्हें बिलकुल भी मंजूर नहीं था। भिंसी की सभी औरतों को इसका जवाब उन्होंने एक पत्र के जरिए लिखा-आपने मुझसे मेरी जाति नहीं पूछी। क्या मैं अपनी जाति का पोस्टर अपनी पीठ पर चिपकाकर रखूँ? आप सभ्य नहीं लगतीं। सभ्य आदमी जाति-पाँति का विचार अपने मन में नहीं रखते और जाति-पाँति मानने वाले लोगों से मैं अपना संपर्क नहीं रखती। मुझे पहले पता होता कि आप जाति-पाँति मानती हैं तो मैं स्वयं आपके चिटफंड में नहीं आती। आपकी जाति के लोगों ने हमारे बाप-दादा और हमारे जाति के लोगों को सदियों से सताया, पीने का पानी नहीं, पढ़ाई नहीं, संपत्ति नहीं, काम करने की मनाही। गाँव के बाहर चिथड़ों में रहने को मजबूर किया। और भी अमानुष अत्याचार किए। फिर भी हमने यह सब सहकर अपने पाँव पर खड़े रहकर उन्नति की और आपसे आगे बढ़कर दिखाया है। अब आपसे दबकर नहीं रहेंगे। फिर मैं आपसे क्यों डरूँ।

हमारे समाज की यही सबसे बड़ी दुर्बलता है कि उसे सुधारने की जितनी भी कोशिश की

जाए, वह कहीं और से बिगड़े रूप में सामने आता है। यह समस्या आज भी आधुनिक भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है। कभी वर्ण-भेद के रूप में तो कभी लिंग-भेद के रूप में। दोनों प्रकार की समस्याओं ने हमारे भारतीय समाज को बहुत गहरी हानि पहुँचाई है। इसी समस्या के कारण हम पहले बाहरी आक्रमणकारियों के गुलाम रहे, फिर ब्रिटिशों के। यदि भारतीय समाज में रहनेवाले तथाकथित उच्चवर्गीय समाज यह समझ पाता तो आज भारत की छवि दूसरी होती। भारत में जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म के आधार पर लाखों लोग रहते हैं। सब एक ही देश में रहते हैं। एक देश, एक संस्कृति, एक जलवायु, एक हवा, पानी, आकाश, प्रकृति सब प्रकार से सबके लिए एक समान रूप से उपलब्ध है, परंतु फिर भी लोगों में इतना बैटवारा। नीची जाति के लोगों को पानी का कुआँ छूने नहीं दिया जाता। उन्हें गंदगी में रहने के लिए मजबूर किया जाता है। उन्हें जबरदस्ती गरीबी में जीने के लिए मजबूर किया जाता है। फिर उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे मनुष्य नहीं हैं, जानवर हैं, उन्हें स्पृश्य या सवर्णों की गुलामी करनी चाहिए। वास्तव में अमानवीय व्यवहार तो वे लोग करते हैं, जिन्होंने सदा से ही इन लोगों को अपना गुलाम बनाकर रखा है। वर्ण-भेद के कारण भले ही उच्चवर्ग दलितों को मंदिर में प्रवेश करने नहीं देता, शिक्षा का अधिकार नहीं देता, सम्मान का अधिकार नहीं देता, परंतु उच्चवर्ग भूल चुका है कि ऐसा करके वह स्वयं अपने-आपको उनके सामने श्रेष्ठ नहीं, बल्कि छोटा बना रहा है। किसी भी धर्म या धार्मिक पुस्तक में या फिर भागवत गीता में भी नहीं लिखा होगा कि मनुष्य छोटा या बड़ा होता है। हाँ, उसके कर्म उसे छोटा बनाते हैं। लेकिन यहाँ लॉजिक की बात लगाने की जरूरत है। दलित-समाज जो भी काम करता है, उसकी वजह से हम उसे छोटा या अस्पृश्य समझते हैं, क्योंकि वह मैला ढोता है, भारी-भरकम बोझा उठाता है, सड़क पर झाड़ू लगाता है, यदि उसकी मजबूरी का फायदा उठाया जाए तो वह आपके अपराध को भी अपने सिर लेकर चलता है, रात-दिन वह किसी-न-किसी प्रकार आपकी सेवा करता है। दलित स्त्रियों के साथ तो इससे भी ज्यादा घृणित व्यवहार होता है। दिन में वह अस्पृश्या है तो रात को किसी व्यभिचारी की भूख मिटाने का आसान साधन। हम क्या करते हैं, प्रतिदिन अपने पाप धोने के लिए गंगा में स्नान करते हैं। गंगामाता हमारे पाप धो देती है। पहले के जमाने की बात कर ले तो दलित क्या ब्राह्मण से लेकर हर उच्चवर्ण का हर व्यक्ति घर में शौचालय के अभाव में बाहर जाकर शौच करता था, बात-बात पर हम अपनी मान-मर्यादा के लिए लड़ाई-झगड़े शुरू कर देते हैं। एक-दूसरे का खून करने पर उतर आते हैं। शास्त्रों का वाचन करते हैं बड़े आराम से, लेकिन किसी दरिद्र को देखते ही उसे गालियाँ देते हैं। इतना धन कमाते हैं, लेकिन उस दरिद्र को पैसा देने या भोजन देने में कृपणता दिखाते हैं। प्रतिदिन लक्ष्मी माँ की पूजा करते हैं ताकि वह धन-धान्य से घर भर दे। भगवान के सामने अपने-आपको गरीब दिखाते हैं और समाज के सामने कुछ और। क्षत्रियवर्ग के लोग स्त्रियों को अपनी संपत्ति समझकर किसी के साथ भी लड़ना शुरू कर देते हैं, विवाह जैसे शुभ और पवित्र अवसर को दंगल में बदल देते हैं। राजनीतिक लाभ उठाने के लिए उसका इस्तेमाल करते हैं। आजकल की बात की जाए तो और भी अधिक नीचे गिरते जा रहे हैं। सत्ता के लिए किसी भी हद तक चले जाते हैं। जिस दलित को स्पर्श करने से कतराते हैं, उसके घर भोजन करने लगते हैं। धन का लालच देकर गंभीर-से-गंभीर अपराध कराते हैं। पढ़े-लिखे होकर हमने विदेशी भाषा सीख ली है। अपने देसी भाषा में बात करना गँवारपन लगने लगता है। विदेशी भाषा

में गालियाँ देते हैं। गिनती करने के लिए उँगलियाँ कम पड़ जाएँगी, परंतु यदि दलित-समाज और उच्चवर्गीय लोगों में यदि तुलना की जाए तो कौन श्रेष्ठ है, कौन निकृष्ट है पता चल जाएगा। वास्तव में दलित-समाज में जो भी कुप्रथाएँ या समस्याएँ प्रचलित हैं, वह उच्चवर्ग की दी हुई हैं। क्योंकि सदा से बड़े घर और उच्चवर्ग के लोग गरीबों, अशिक्षितों एवं दासों के लिए उदाहरण के रूप में रहे हैं। वे इन्हीं लोगों को देखकर सीखते हैं। ये वही आदर्श का पालन करते हैं, जो समाज के मुट्ठी-भर लोग सामने प्रस्तुत करते हैं। यदि स्वयं अपने भीतर ही विसंगतियाँ रहेंगी तो फिर किसी दूसरे को दोष देकर क्या लाभ? परंतु यह रहस्य हमारे समाज के लोग समझते कहाँ हैं! वे समझ भी गए तो इसे स्वीकार नहीं करेंगे। उच्चवर्ग के लोग कभी भी दलितों को आगे आने नहीं देंगे। उच्चवर्ग के लोगों के मन में दलितों के लिए कितनी घृणा है, इसे कौसल्याजी ने अपने प्रकरण 16 में व्यक्त किया है। एक साधारण-सी बात पर ही कितना कुछ झेलना पड़ा। घर में पानी का नल लगवाने के लिए तरह-तरह के चक्कर काटने पड़े। एक जगह से दूसरी जगह अर्जी लगाते- लगाते जब किसी तरह से नल लगवाने की बारी आई, तब भी नगरपालिका के दफ्तर के एक कर्मचारी ने पूरी कोशिश की कि लेखिका के घर में निजी नल न लग सके। उच्चवर्ग के लोगों की दलित-वर्ग के लोगों के प्रति इतनी घृणा ही यह साबित करती है कि जब तक समाज का एक-एक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति के प्रति ऐसी घृणा और ईर्ष्या-द्वेष की भावना का त्याग नहीं कर देता, तब तक किसी भी वर्ग का सही विकास नहीं हो सकता।

कौसल्याजी ने जितने भी प्रकरण में अस्पृश्य समाज के लोगों की समस्याएँ बताई हैं, वह उनका भोगा हुआ यथार्थ है। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है यह समझने के लिए कि वर्षों से दलित-समाज के उद्धार के लिए समाज के कई सुधारकों ने प्रयास किए होंगे, फिर भी क्यों आज दलित-समाज दलित नामक विशेषण के साथ जुड़ा हुआ है। वह समाज की मुख्य धारा में क्यों नहीं आ पाया है? दलित शब्द अपने-आपमें काफी होता है समझने के लिए कि किसी को उसके मौलिक मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया है, फिर भी इतनी सारी समस्याओं के बावजूद कौसल्याजी तथा उनके पूरे परिवार की शिक्षा के प्रति सकारात्मक सोच तथा आगे बढ़ने और अपनी स्थिति को सुधारने का लगातार सही प्रयास, इस बात को दर्शाता है कि दलित-समाज चाहे तो हमेशा के लिए इस शब्द को मिटाकर समाज के अन्य वर्गों के साथ मुख्य धारा में आकर उसके विकास में योग दे सकता है। यदि ऐसा हुआ तो फिर इस शब्द की ही कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। ऐसा भी नहीं है कि दलित-समाज बिलकुल भी नहीं सुधरा होगा। कुछ हद तक उनमें परिवर्तन आया है। यह परिवर्तन बाबा साहेब आंबेडकर की वजह से। उन्होंने अस्पृश्य समाज के लिए बहुत कुछ किया। वे स्वयं अस्पृश्य समाज से थे, इसलिए दलितों के लिए उन्होंने परिश्रम किया है। प्रकरण 17 में कौसल्याजी ने इसका जिक्र किया है—बाबा साहेब आंबेडकर के विचारों का अस्पृश्य समाज के लोगों के ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि बाबा साहेब ने ही पहली बार अस्पृश्य समाज में यह बोध जगाया कि वे भी इंसान हैं, इस देश पर उनका भी हक है, उन्हें भी सम्मानित जीवन जीने का अधिकार है। बाबा साहेब ने उनकी हिम्मत बढ़ाई, संघर्ष करने के लिए और अपने मानवीय हक के वास्ते लड़ने के लिए उन्हें प्रेरित किया। आज जो भी उन्नति अस्पृश्य समाज कर रहा है और करने के लिए अग्रसर हो रहा है, यह बाबा साहेब की देन है।

दलित-समाज को उन्नति की सच में आवश्यकता है। उसके उत्थान से समाज का विकास होना संभव है। दलित-समाज के लोगों में अथक् परिश्रम करने की जो क्षमता है, वह हमारे समाज के बाकी सभी लोगों में भी होता तो आज 21 वीं सदी का भारत शायद अमेरिका, जापान, चीन आदि देश से भी कहीं पहले विकसित हो चुका होता। कर्म में बहुत शक्ति होती है। सभी कर्म करते हैं, परंतु कौनसे कर्म करते हैं। वर्तमान भारत में कोई वास्तव में कर्म नहीं कर रहा है। सभी जाँत-पाँत, धर्म, वर्ण, छुआछूत आदि के प्रभाव में होनेवाले कर्मों में व्यस्त हैं। चलो मान भी लें जो सबने पुरानी सामाजिक व्यवस्था के आधार पर अपने लिए कर्म निर्धारित किए हैं तो क्या वे वही कार्य कर रहे हैं? नहीं, बल्कि सभी व्यवसाय करने में लगे हुए हैं। आजादी के इतने सालों बाद भी हम अँग्रेजों द्वारा आत्मा से भी दरिद्र हो चुके हैं कि हमें हर वस्तु, सम्मान तक भी भीख में मिल जाए तब भी चलेगा। वास्तव में स्वयं के परिश्रम से कुछ प्राप्त करने की इच्छा- शक्ति किसी में नहीं है। तभी उच्चवर्ण के लोग दलितों से सब प्रकार के आराम लेने में लगे रहते हैं। दलितों को अपने वोट-बैंक के लिए भी इस्तेमाल करते हैं। दलित-समाज जागरूक नहीं है, इसलिए उसकी कमजोरियों का फायदा उठाकर उससे किसी भी प्रकार का लाभ लेने लग जाते हैं। चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष दलित है तो बस उसका लाभ उठाओ। उससे भारी काम करवाओ, मजदूरी देने के नाम पर उसे पीटो या फिर उसे ठगो। मजदूरों को मिल में दिन-रात खपाते रहो। वास्तव में दलित मनुष्य है, परंतु उच्च-वर्ण के लोगों के इस प्रकार के अन्याय के कारण वह ठग, अत्याचारी, व्यभिचारी, लालची न जाने कितने विशेषणों को अपने नाम के साथ ढो रहे है। दलित समाज में होना कोई बुराई नहीं है बल्कि उसके साथ जान-बूझकर बुरा करना बुराई है।

संदर्भ

1. दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, संस्करण 2015, पृ० 15-16
2. वही, पृ० 28
3. वही, पृ० 33
4. वही, पृ० 33
5. वही, पृ० 31
6. वही, पृ० 39
7. वही, पृ० 59
8. वही, पृ० 62
9. वही, पृ० 75
10. वही, पृ० 75
11. वही, पृ० 105
12. वही, पृ० 116
13. वही, पृ० 81

Dr Madhuchanda Chakrabarty
Lecturer, Department of Hindi
Mount Carmel College, Autonomous (Bangalore)
Mob. : 8553540245, 8217797037

राजेन्द्र नागदेव के काव्य में समकालीन भावबोध

कैलास श्रीधर भामरे

शोध छात्र (पीएच०डी०)

उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय जलगाँव (महाराष्ट्र)

डॉ० महेंद्र रघुवंशी

शोध निर्देशक एवं उप प्राचार्य

जी०टी०पी० कॉलेज, नंदुरबार (महाराष्ट्र)

मनुष्य एक 'सामाजिक' प्राणी है, समाज से कटकर रह नहीं सकता। व्यक्ति जिस समाज तथा जिन विभिन्न परिस्थितियों में रहता है, उनसे अवश्य ही प्रभावित होता है। इन सभी परिणामों की परिणति के रूप में हृदय में उत्पन्न प्रखर भावावेग ही कविता का रूप धारण करता है। समकालीन कविता ऐसे ही निर्बाध रूप से परिवेश से प्रभावित होकर युगीन सच्चाइयों को मुखर करती हुई अग्रसर है। आज का कवि अपने समय के प्रति मनुष्य को सचेत करते हुए आगे बढ़ रहा है। आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में, संवेदनाशून्य जीवन में कविता वह रचनात्मक माध्यम है, जो मनुष्य की आंतरिक सात्त्विक चित्तवृत्तियों और मानवीय तथा सामाजिक मूल्यों को जगाकर स्थापित कर सकती है। वरिष्ठ कवि राजेन्द्र नागदेव समकालीन कविता के सुपरिचित कवि एवं चित्रकार हैं। लगभग चार दशकों से निरंतर सृजनरत राजेन्द्र नागदेव के अब तक दस काव्य-संग्रह और एक यात्रावृत्त प्रकाशित हो चुका है। आपकी कविताओं का जापानी, बांग्ला, मराठी, अंग्रेजी तथा उर्दू में अनुवाद भी हुआ है।

कवि की काव्य-यात्रा विभिन्न पुरस्कारों से भी अलंकृत है, आज तक कवि को 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त पुरस्कार' वर्ष 2008, हिंदी अकादमी दिल्ली द्वारा प्रदत्त 'साहित्य कृति सम्मान' वर्ष 2005-06, 'अखिल भारतीय अंबिकाप्रसाद दिव्य रजत अलंकरण' वर्ष 2007, 'स्पेनिश साहित्य गौरव सम्मान' वर्ष 2008-09, भारत-एशियाई साहित्य अकादमी दिल्ली का 'साहित्य सृजन सम्मान' वर्ष 2010 तथा मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का 'सैयद अमीर अली मीर पुरस्कार' वर्ष 2012 आदि पुरस्कारों से नवाजा गया है।

आपकी कविताएँ सामाजिक संवेदनाओं की कविताएँ हैं, जो समाज के हर कोने, हर व्यक्ति से अपने संबंध प्रस्थापित करती हैं, पर अफसोस की बात है कि पता नहीं क्यों आज तक वे हिंदी आलोचना के केंद्र से दूर हैं। जिस कारण वह अधिकाधिक पाठक, विद्वज्जनों तक पहुँच नहीं पाए। राजेन्द्र नागदेव का काव्य जन-जन तक पहुँचना हिंदी साहित्य के प्रति हितकारक साबित होगा, इसमें कोई दो राय नहीं हैं।

वरिष्ठ कवि राजेन्द्र नागदेव अपने काव्य के माध्यम से समय की मौजूदा स्थितियों का

आलेख प्रस्तुत करते हैं, हमारे विश्वास और मान्यताओं के खंड-खंड होने का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं तथा मनुष्य का जीवन-सघर्ष, वैश्वीकरण का प्रभाव, धार्मिक उन्माद, बाजारवादी अपसंस्कृति, उपभोक्तावाद और अन्य विषयों को जीवंत रूप से चित्रित करते हुए उनसे सावधान होने की चेतावनी देते हुए, समय रहते सँभलने का संदेश देकर मानवमूल्यों की पुनर्स्थापना करना चाहते हैं। समकालीन स्थितियों से उत्पन्न तीव्रतम भावावेग आपकी कविताओं में देखा जा सकता है।

‘उनकी कविताओं में लुपा कथ्य समय के साथ धीरे-धीरे उजागर होता है। उनकी नींव में सदियों का इतिहास है और उनके विस्तार में आज का वह समय है, जिसमें बाजारवाद की चकाचौंध में प्रकृति, मनुष्यता, किसी गरीब, दलित, शोषित की पीड़ा, धीरे-धीरे बिना किसी शोकगीत के नेपथ्य में तिरते जा रहे हैं। परंतु इन दो कसौटियों से इतर राजेन्द्र जी की कविताएँ हर उस समय की कविताएँ हैं, जिस समय में शोषण है, दमन है, पीड़ा है। वे साफ तौर पर शोषित के साथ खड़े दिखते हैं। हर समय, हर कहीं। और यही वजह है कि उनकी कविताओं को किसी वाद, सिद्धांत या विचारधारा की कविता नहीं कहा जा सकता। उनकी कविताएँ मानवीय मूल्यों को समाहित किए हुए, गहन संवेदनाओं की, विराट कैनवास पर रची गईं वे कविताएँ हैं, जिनके आगे सभी वाद, सिद्धांत और विचारधाराओं की पोल खुलती नजर आती है।’

आज की विषम परिस्थितियों में ‘मनुष्यता’ केवल शब्दकोशों और पुस्तकों की शोभा बढ़ानेवाले शब्द बन रहे हैं। इस बीहड़ समय में मनुष्यता को खोजना कठिन कार्य है—

‘सदी के इन अंतिम दिनों में/ बहुत कठिन है मनुष्य को/ ढूँढ़ लेना/ उससे भी कठिन/ उसे बचा लेना।’²

यही चिंता समकालीन कवि लीलाधर जगूड़ी, चंद्रकांत देवताले, ऋतुराज, मंगलेश डबराल तथा पंजाबी कवि अवतारसिंह संधु ‘पाश’ की कविताओं में भी मुखर होती है।

आज पानी की समस्या हर जगह मौजूद है। ग्रामीण इलाके में तथा महानगरों में स्थित चाल में जहाँ ‘आम’ आदमी रहता है, पानी की किल्लत से गुजरना पड़ता है—

‘बेवजह नववर्ष की लड़की/ बाल्टियाँ लिए बैठी रहती है/ हथेलियों पर टुड्डी सँभाले/ बाल्टियों में चक्रवात-सा घूमता है शून्य/ बार-बार नल छींकता है/ बार-बार नल खँसता है/ थककर उठने को होती/ हताश लड़की को/ कितनी ही बार फाँसता है।’³

यहाँ कवि की दृष्टि बड़ी व्यापक है, आज भी पानी के मामले में स्त्रियों को ही जूझना पड़ता है, चाहे घर में अन्य लोग भी क्यों न हों। यह भी अनकही बात बड़ी चतुराई से कवि ने व्यक्त की है।

जाति-व्यवस्था, जो संविधानिक स्तर पर भले ही खत्म हो चुकी हो, पर यह केवल एक आभास-मात्र है, यह अत्यंत भयावह वास्तविकता है। आज की जात पंचायत सिर चढ़कर बोल रही है और हमारे जैसा कोई मानव बहिष्कृत और अभिशप्त होकर जीने को मजबूर हो जाता है। हम बस मुट्ठी भींचकर रह जाते हैं। इस पीड़ा को कवि कुछ इस प्रकार व्यक्त तो करता ही है साथ में क्रांति का स्वर भी और प्रखर करता है—

‘प्यास से तड़पता वह बूढ़ा/ जो एक दिन आया था/ लोटे में पानी की तलाश में/ और सत्तर वर्ष पहले/ जन्म की दुर्घटना से अभिशप्त/ तड़पता हुआ लौटा दिया गया था/ वैसा का वैसा ही

प्यासा/ अब तक क्या यूँ ही रुका होगा/ कुएँ को ध्वस्त करने/ अपनी अगली पीढ़ी के साथ/
कुछ बारूद तो इकट्ठा कर ही चुका होगा।⁴

गुवाहाटी में धर्म के नाम पर कामाख्या के प्रांगण में निष्पाप गर्दनों पर चलते हुए छुरे देखकर
कवि के हृदय पर आघात होता है और ब्रह्मपुत्र से प्रश्न कर बैठता है—

‘ब्रह्मपुत्र! मैं एक दिन/ फिर आऊँगा/ और पूछूँगा तुमसे/ कि तुम्हारे हजार प्रवाह वर्षों में/
काट दिए गए/ निर्दोष निरीह प्राणियों की/ न सुनी जा सकी/ कितनी कराहें/ तुम्हारे जल में/ घुली
है अब तक?/ क्या कभी अनाचार पर पीड़ा हुई तुम्हें?/ क्या कभी ऐसा नहीं लगा/ कि बहुत कुछ
करुणाविहीन/ घट रहा है तुम्हारे तट पर/ जिसे ध्वस्त होना चाहिए।’⁵

आज राजनीति में अपराधीकरण बढ़ रहा है। इन्हीं संदर्भों को लेकर कुछ कविताएँ चलती
हैं। राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए आम आदमी को इस्तेमाल करने का हथकंडा अपना लिया
जाता है—

‘आज का समय अत्यंत धूर्त है/ किसी जबान को काटने के लिए/ चाकू बिल्कुल जरूरी
नहीं/ रिमोट कंट्रोल से काटी/ और फेंक दी जाती है जबान/ कचरे के ढूह पर/ और बटन
अनगिनत है इन दिनों/ रिमोट कंट्रोल में/ दबा दो कोई भी/ एक बटन किशोर बेटा है/ एक बटन
युवा होती बेटा है/ एक बटन बूढ़ा पिता है/ एक बटन सीधी-सादी पत्नी है/ एक बटन स्कूल
जाता पोता है।’⁶

आज का समय अत्यंत भयावह है। आम मनुष्य जीवन-भर आतंक में जीते हुए अपनी मन
की आवाज नहीं सुन पाता, न अपनी बात किसी को बता सकता है, सही गलत का फैसला नहीं
कर सकता। अभिशप्त हो गए हैं हम ऐसे जीने के लिए, जो जीते जी गुँगे होने को विवश हो गए
हैं। शायद मृत्यु के बाद वह अनकहा सत्य हमारे साथ ही जाता है—

‘अभी लगा कि, गुँगा शव/ जैसे तड़प रहा हो/ तन की भाषा में कहने को बात कोई/ होगा
कुछ ऐसा/ बहुत कुछ कह चुकने पर भी/ बच गया हो जो/ छिपा रहा हो/ मन की किसी दरार में
बहुत देर तक/ और फिर यह आदमी/ उसे भूल गया हो/ रह गया हो/ अस्सी वर्षों तक/ हड्डियों
के पिंजरे में बंद/ और निकल आने को अब/ छटपटा रहा हो।’⁷

आज की इस दहशतगर्दी से तथा मूल्यों के भटकाव से बचने के लिए मानवमूल्यों की
स्थापना का आह्वान भी कवि करता है—

‘जरूरी हो गया/ आदमी के चिंतन में/ आदमी को अब स्थापित किया जाए।’⁸

आज मानव सत्य से दूर जाता टूटा हुआ नजर आता है—

‘सच से संबंध टूट-सा गया है/ यहाँ अब इतना अँधेरा है/ और निरंतर घना, और घना/ और
भी घना होता जा रहा है अँधेरा है/ कि किन हथेलियों पर जूही के फूल/ और किन हाथों में बंदूकें
हैं/ तुम देख ही नहीं सकते।’⁹

कवि ने उपेक्षितों, शोषितों, वंचितों को अपनी कविता का विषय बनाया है। बड़ी मार्मिकता
से कबाड़ी का चित्र कवि खींचता है—

‘सात गुना पाँच की/ झुगगी के बाहर/ फुटपाथ पर कबाड़ी/ इतिहास में से दूसरों के/ अपना
भविष्य निचोड़ रहा है।’¹⁰

स्थलांतर बदलते आर्थिक परिवेश की विवशता है। बदलता हुआ आर्थिक निकष पर्यावरण/

प्रकृति का दोहन कर रहा है, जिससे उपजाऊ मिट्टी बंजर बन रही है और गाँव के लड़के गाँव छोड़ने पर मजबूर हो रहे हैं—

‘उसने काम छोड़ दिया/ बड़ी उम्र के दस पड़ोसियों में सम्मिलित होकर/ अनजान की शहर की दिशा में निकल गया/ अब वह महानगर के किसी जगमगाते रेस्टोरेंट में/ देर रात तक माँज रहा होगा जूठे बर्तन/ अथवा किसी भव्य लक्ष्मीपुत्र को/ टीप का आभार चुकाता/ यांत्रिक पुतले की मुद्रा में/ बजा रहा होगा सलाम/ सिकुड़ा हुआ लड़का/ पत्थर में बंद आदमी।’¹¹

आज मानव ने अपने को विशिष्ट जाति, धर्म, संप्रदाय, प्रांत की बनी संकुचित चौखट में बंद कर लिया है, जिनसे वह बाहर नहीं आता और मानवता बार-बार शर्मसार होती रहती है, ‘हम जो कि सिर्फ आदमी हुए थे पैदा/ बन गए किसिम-किसिम के तोते/ किसिम-किसिम के पिंजड़ों में/ हो गए बंद।’¹²

21वीं सदी की दस्तक पर हम आनेवाली पीढ़ी को क्या सिखा रहे हैं, यह सोचना ही अत्यंत भयावह है, जो ‘शरीर विज्ञान संग्रहालय’ शीर्षक कविता में अभिनिहित है। स्त्री भ्रूणहत्या की अतिशय ज्वलंत समस्या पर कवि यहाँ चोट करता है—

‘सीखो मेरे बच्चो! सीखो/ औरत के पेट से भ्रूण निकालना सीखो/ भ्रूण और औरत दोनों को/ एक ही झटके में मार डालना सीखो/ किसी नस्ल को गर्भ में ही नष्ट करना/ सबसे आसान होता है।’¹³

‘नागदेव की कविताओं में विघटित जीवनमूल्यों से उत्पन्न स्थितियाँ, संवेदनशीलता के साथ उनकी पड़ताल, स्थापित विश्वासों मान्यताओं का तथ्यपरक विश्लेषण, कहीं-कहीं निषेध, व्यापक मानवीय दृष्टिकोण, सामाजिक सरोकार, निसर्ग का निपट एकांत, कवि के मन की बेचैनी, वर्तमान परिवेश, व्यक्ति और समाज पर होनेवाले भयंकर आक्रमण, प्राकृतिक विपदाओं, भूचाल के साथ-साथ अकल्पनीय मानवजनित विध्वंस गोधरा जेहाद, अयोध्या, गुजरात, ईश्वर, अल्लाह, जन्नत, स्वर्ग आदि जिसके घाव मनुष्यता के चेहरे पर न जाने कब तक रहेंगे—इनका लेखा-जोखा प्रस्तुत हुआ है।’¹⁴

वरिष्ठ साहित्यकार श्री संतोष चौबे ने ‘सुरंग में लड़की’ काव्य-संग्रह के लोकार्पण के अवसर पर कहा कि ‘राजेन्द्र नागदेव की कविताओं का रंग धूसर है। वे संशय के कवि हैं और संवाद की शैली में अपनी बात कविता में रखते हैं। वे अपने बिंबों के चयन में पूरी तरह भारतीय और स्थानीय बिंबों को चुनते हैं। हमें देखना चाहिए कि क्यों राजेन्द्र नागदेव की कविता में अस्सी के दशक के प्रचलित बिंब जैसे चिड़िया, नदी, बच्चे वापसी कर रहे हैं। शायद ये बिंब समय और समस्याओं की समानता के कारण हों। उनकी कविताओं में आई प्रलय की इच्छा ध्वंस की नहीं, बल्कि नवनिर्माण एवं पुनर्सृजन की आकांक्षा के साथ है।’¹⁵

निष्कर्षतः राजेन्द्र नागदेव की कविताएँ आम आदमी को केंद्र में रखते हुए उसकी व्यथा का उद्घाटन करते हुए समकालीन भावबोध करने में सफल होती नजर आती हैं। भाषा में संप्रेषणीयता और प्रभावात्मकता है। प्रतीकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग अभिव्यक्ति को और भी सशक्त बना देते हैं। कवि का चित्रकार व्यक्तित्व भाषा पर अपनी छाप छोड़ता है, यह कवि की सामर्थ्य है।

सहज, सरल भाषा और विचारों का तालमेल इन कविताओं को परिवेशगत दबावों से बचाकर युगीन समस्याओं से रूबरू कराता है। प्रश्न शैली, संबोधन शैली के साथ-साथ तत्सम, तद्भव,

देशज, विदेशी शब्दों को कवि ने अपनाया है। नए-नए बिंबों की योजना कवि की भाषा की खास उपलब्धि है। लाक्षणिक भाषा का प्रयोग कवि की अन्य विशेषता है। लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग कविता को आम जनजीवन से जोड़ने में सक्षम है।

संदर्भ

1. विवेक मिश्र, पुस्तक चर्चा, प्रेरणा, समकालीन लेखन के लिए पत्रिका, पृ० 177
2. राजेन्द्र नागदेव, सदी के इन अंतिम दिनों में, राजसूर्य प्रकाशन दिल्ली, 2005, पृ० 28
3. राजेन्द्र नागदेव, चक्रवात-सा घूमता है शून्य, 'बेवजह', राजसूर्य प्रकाशन दिल्ली, 2005 पृ० 28
4. राजेन्द्र नागदेव, सदी के इन अंतिम दिनों में, 'कुआँ', राजसूर्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ० 33
5. राजेन्द्र नागदेव, चक्रवात-सा घूमता है शून्य, 'ब्रह्मपुत्र में फिर आऊँगा', पृ० 16
6. राजेन्द्र नागदेव, गूँगी घंटियाँ, 'खूँटी पर टँगे लोग', मेधा बुक्स, दिल्ली, 2002, पृ० 59
7. राजेन्द्र नागदेव, चक्रवात-सा घूमता है शून्य, 'देहगाथा' पृ० 30
8. राजेन्द्र नागदेव, चक्रवात-सा घूमता है शून्य, 'विस्थापन', पृ० 30
9. राजेन्द्र नागदेव, चक्रवात-सा घूमता है शून्य, 'आशंका', पृ० 53
10. राजेन्द्र नागदेव, चक्रवात-सा घूमता है शून्य, 'कबाड़ी', पृ० 61
11. राजेन्द्र नागदेव, पत्थर में बंद आदमी, 'सिकुड़ा हुआ लड़का', राजसूर्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ० 92
12. राजेन्द्र नागदेव, चक्रवात-सा घूमता है शून्य, 'हम पिंजड़े में बंद तोते', पृ० 75
13. राजेन्द्र नागदेव, चक्रवात-सा घूमता है शून्य, 'शरीर विज्ञान संग्रहालय', पृ० 88
14. डॉ० शिवाजी देवरे, परख, प्रगतिशील आकल्प, अक्टूबर-दिसंबर 2005
15. <https://www.facebook.com/anandkrishan/posts/10211809744466155> से साभार

फ्लैट नं. 3 श्रीराज हाइट्स बी
विमलनगर, ओझर
ता० निफाड़ जि० नासिक (महाराष्ट्र)
ओझर 422206
मो० 9970969952

ललित निबंधों की परंपरा में डॉ० दुबे के ललित निबंधों का अध्ययन : 'कोई खिड़की इसी दीवार से' के परिप्रेक्ष में

प्रा० डॉ० शिवाजी देवरे (शोध निर्देशक)

एस०एस०व्ही०पी०एस० कॉलेज, देवपुर, धुले

प्रा० स्वाति वसंतराव शेलार (शोध छात्रा)

डी०डी०एस०पी० कॉलेज, एरंडोल, जलगाँव (महा०)

वर्तमानयुग में लिखे जानेवाले ललित निबंध आत्मपरक निबंधों की कोटि में आते हैं। ललित निबंधों में लालित्य का समावेश भाषा, विषयवस्तु, शैली, शिल्प में किया जाता है। लेखक का पांडित्य, लोकसंपृक्ति एवं भाषागत सौंदर्य ऐसे निबंधों में साफ झलकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, डॉ० विवेकीराय, देवेन्द्र सत्यार्थी हिंदी के प्रमुख ललित निबंधकार हैं।

ललित निबंधकार के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। कुटज, अशोक के फूल, कल्पलता इनके प्रसिद्ध ललित निबंध-संकलन हैं। द्विवेदीजी की विद्वत्ता, लोकजीवन के प्रति आस्था एवं भारत की सांस्कृतिक विरासत इन निबंधों में साफ झलकती है। दूसरे प्रमुख ललित निबंधकार हैं कुबेरनाथ राय। इनके प्रमुख निबंध संकलन हैं—रस आखेटक, प्रिया नीलकंठी, पर्णमुकुट, गंधमादन, कामधेनु, महाकवि की तर्जनी आदि। इनके निबंधों में चिंतन का गांभीर्य, आत्मव्यंजकता, लोकजीवन की अभिव्यक्ति, बौद्धिकता आदि का समन्वय दिखाई पड़ता है। इनके निबंधों के विषय लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति से लिए गए हैं। ललित निबंधकार के रूप में विद्यानिवास मिश्र ने हिंदी-पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था एवं अद्भुत पांडित्य के साथ-साथ, भावुकता उनके निबंधों में स्थान-स्थान पर झलकती है। इनके निबंध-संकलनों में प्रमुख हैं—छितवन की छाँह, तुम चंदन हम पानी, मैंने सिल पहुँचाई, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, कंदब की फूली डाल आदि। मिश्रजी के निबंधों का संसार इतना बहुआयामी है कि प्रकृति, लोकतत्त्व, बौद्धिकता, भाषा की उर्वर सृजनात्मकता इन निबंधों में एक साथ अंतर्ग्रथित मिलती है।

इन्हीं ललित निबंधकारों की परंपरा में डॉ० श्यामसुंदर दुबे का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। इनके प्रसिद्ध निबंध संकलन हैं—कालमृगया, विषाद बाँसुरी की टेर, समसामयिक निबंध, हमारा राजा हँसता क्यों नहीं, कोई खिड़की इसी दीवार से। डॉ० दुबे का 'कोई खिड़की इसी दीवार से' प्रमुख ललित निबंध-संकलन माना जाता है। 'प्रख्यात ललित निबंधकार श्यामसुंदर दुबे के ये ललित निबंध शास्त्र और लोक की समरसता में अपनी जगह बनाती आधुनिक वैश्विक

चेतना में भारतीय सनातन की खोज करते हैं, गहन आस्था-बोध से संपृक्त इन निबंधों के आभ्यंतर से फूटती जीवन-आसक्ति की सहज उजास जैसे हमारे अपने समय के संघर्षों से जूझने की ताकत से हमें लैस करती है।' निश्चित ही इस कृति ने ललित निबंध की परंपरा में अपनी नायाब उपस्थिति दर्ज कराई है। इस निबंध-संग्रह में प्रकृति-चित्रण, लोकजीवन का चित्रण, लोक और आधुनिकता में द्वंद्व, मानवीय मूल्य-चेतना का चित्रण मुख्यतः किया गया है।

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति और मानव का अटूट संबंध अनादिकाल से ही दिखाई देता है। मानव-जीवन की महानतम उपलब्धि साहित्य और प्रकृति का संबंध भी उतना ही अनादि, चिरंतन और शाश्वत है, जितना कि मानव और प्रकृति का। डॉ० दुबे ने अपने निबंधों में चाँद, सूरज, उषा, संध्या, नदी, वृक्ष, पर्वत, जल आदि प्रकृति के साथ हो रही अनैसर्गिक छेड़खानी का भी वास्तविक रूप हमारे समक्ष रखा है। जल को मुक्त करो निबंध में लेखक ने जल-संग्रहण, गिरते जल-स्तर का वर्णन किया है। मनुष्य ने विज्ञान के सहारे धरती से जल निकालने की नई-नई तरकीबें ढूँढ़ ली हैं, जिससे धरती का जलस्तर निरंतर गिरता जा रहा है। धरती सूखती जा रही है। कोस-कोस अंदर खुदाई करने पर भी पानी दिखाई नहीं दे रहा है। पानी का आसन्न संकट हमारे सामने खड़ा है। एक समय ऐसा भी था, जब धरती पानी से लबालब भरी हुई थी। धरती की परतों को थोड़ा हटाया और पानी का हुल्ला फूटा 'यही कुएँ कभी खाली नहीं होते थे, बैसाख जेठ की चिचिलाती धूप में भी ये रसप्रोत बने रहते थे। ये केवल कुएँ नहीं थे, गाँव की हिलनी-मिलती थे, पनघट पर मनघट छलकते थे, कुएँ राहगीर से लगा-लगी की रसकथा थे।'²

एकांत में गदबदाई सड़क का भी काफी सरस वर्णन लेखक ने किया है। बाजार बंद होने के कारण चारों ओर सूनापन छाया है। ऐसे में सड़क को अपनी पुरानी कविता याद आ रही है—'कभी गुलमोहर की लाली में हँसती-खिलखिलाती हुई, कभी हरसिंगार के छोटे-छोटे फूलों से चौक पूरती हुई, कभी नीम की पकी निंबौलियों की पियरी ओढ़े सकुचाती-शरमाती हुई और कभी धारासार वर्षा में आपाद-मस्तक भीगती निचुड़ती हुई।'³ सड़क आज अपनी पुरानी पहचान भूल-सी गई है। इंसानों की इस भीड़-भाड़ में वह अकेली पड़ गई है।

डॉ० दुबे प्रकृति-प्रेमी हैं। प्रकृति के प्रति असीम प्रेम उनके मन में है। प्रकृति के हर एक बदलाव को वे सूक्ष्मता से देखते हैं। प्रकृति के हर एक बदलाव को वे बाँधकर रखना चाहते हैं। अपने से वे उसे दूर नहीं करना चाहते। वसंत आता है, तो अपने साथ आनंद-उल्लास लेकर आता है। वसंत को पाना और उसे सम्हालकर रखना कठिन है। वसंत आता है, तो उसका स्वागत करते-करते ही, वंदनवार बाँधते-बाँधते ही, ढोल मंजीरों पर फाग की स्वागत-गीतिका छेड़ते-छेड़ते ही उजली धूप की कर्पूर-वर्तिका से आरती उतारते-उतारते ही उनकी मिलन-बेला समाप्त हो जाती है।⁴

आकाश और धरती का संबंध तो अन्योन्याश्रित है। आकाश में कोई गतिविधि होती है तो उसका परिणाम धरती पर प्रकट होता है। आकाश में बादल उमड़ते हैं और धरती रसा बनकर उन्हें प्राप्त करने की कोशिश करती है। रससिक्त होती है। यही बादल धरती पर जीवनरस बनकर जाते हैं। 'आकाश की शिरा-शिरा को अपनी गर्जना से तड़का देनेवाले बादल धरती पर बरसकर ही जीवनरस बनते हैं। बादल उठते, उमड़ते-घुमड़ते आकाश में हैं, किंतु वे धरती से मिल-भेंटकर ही

आप्तकाम हो पाते हैं। धरती के भविष्य का निर्धारण करते हैं, आकाशचारी बादल। वर्षा ही धरती को रसा बनाती है। धरती रसा बनकर ही जीवन को रससंतृप्त करती है।¹⁵

डॉ० दुबे प्रकृति का हर एक उपादान नदी नाले, पेड़-पौधे, कुएँ-तालाब, नक्षत्र-तारे इन सभी का सूक्ष्मता से वर्णन करते हैं। प्रकृति के इन विविध रूपों के वर्णन के साथ ही इनके मनुष्य-जीवन पर प्रभाव का भी वर्णन करते हैं। ये प्राकृतिक घटक सृष्टि के साथ-साथ मनुष्य-जीवन को भी प्रभावित करते हैं। मनुष्य-जीवन के लिए ज्ञानप्रद एवं शिक्षाप्रद साबित होते हैं। डॉ० दुबे नदी को केवल नदी नहीं मानते। वे उन्हें सगी माँ, बहिन मानते हैं। नर्मदा, यमुना, गंगा केवल नदियाँ नहीं हैं। वे हमारी पालनहार मैया हैं। नदियाँ तो अपने निर्मल नीर के कारण सृष्टि का सौंदर्य हैं, सृष्टि की पोषिका हैं। नदी की निर्मलता देखकर मन निर्मल हो जाता है। नदी एक जातीय स्मृति-मात्र नहीं है, नदी एक संस्कृति भी है और नदी एक भावना-प्रवाह भी है। मनुष्य को नदी-जैसा ही पावन और निष्कपट बनना होगा, 'नदी हो जाने का अर्थ है-अपनी चेतना में निष्कपट हो जाना और अपनी स्मृति को जीवन के आर-पार ले जाना।'¹⁶

एक जगह पर डॉ० दुबे ने प्रकृति का सुंदर चित्रवर्णन प्रस्तुत किया है- 'पूरब दिशा से एक बादल उठता है-बिल्कुल एक पाँखुरी-जैसा भुरभुरा-सा। यह पाँखुरी अब कई रंगों में तबदील हो रहा है-फूल ही फूल आकाश में बिखर जाते हैं।'¹⁷

संक्षेप में कहा जा सकता है कि डॉ० दुबे ने अपने निबंधों में प्रकृति का समग्र चित्र अंकित किया है। प्रकृति के दोनों रूपों का कोमलकांत और भयानक रूप का सटीक एवं मार्मिक वर्णन इन निबंधों में मिलता है। समय के साथ प्रकृति में आए बदलाव का वर्णन मुख्यतः लेखक ने किया है। आज प्रकृति को हम उजाड़ रहे हैं। परिणामस्वरूप ऋतुएँ अनिश्चित हो गई हैं। वह अपना काम नहीं कर पा रही है। जब हम प्रकृति को छेड़ते हैं, तब वह अपना रौद्र रूप दिखाती है। आज प्रकृति ने एक भयंकर रूप धारण किया है, यह भयंकरता धरती के जन-जीवन को निगल रही है। लेखक का मानना है कि अगर हमने प्रकृति के साथ छेड़खानी बंद नहीं की तो धरती का जन-जीवन तहस-नहस हो जाएगा।

लोकजीवन का चित्रण

डॉ० श्यामसुंदर दुबे गाँव में पैदा हुए, गाँव में रहे हैं। गाँव का जीवन उन्होंने नजदीक से देखा है। गाँव की रूढ़ि-परंपराएँ, आस्था-विश्वास, आचार-विचार को अनुभूत किया है। यही कारण कि उनके समग्र साहित्य में लोककृत्यों, उत्सवों, प्रथाओं, पारिवारिक संबंध, विश्वासों, लोकाचारों आदि लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण मिलता है। लोकजीवन का वर्णन करते समय उनकी लेखनी और अधिक निखरती है। डॉ० दुबे बुंदेलखंड प्रांत में जन्में हैं, इसलिए उनके साहित्य में इस प्रांत की प्रथा-परंपराएँ, किंवदंतियाँ, लोककथाओं का जिक्र मिलता है। साहित्य में वर्णित लोककथाएँ आज भी हमें प्रासंगिक लगती हैं।

लोककथाएँ जीवन में आस्था एवं विश्वास पैदा करती हैं। बुंदेलखंड के गाँव-गलियारों में आज भी हरदौल जैसे पात्रों का जीवन-चरित्र गाया जाता है- 'हरदौल ने अपनी जिस भाभी को माँ माना, उसी भाभी के चरित्र पर संदेह की काली छाया डालनेवाली राजनीति ने हरदौल के बड़े भाई जुझारसिंह के मन में अपने छोटे भाई के प्रति आशंका के बीज बो दिए। पत्नी के पातिव्रत्य

की सच्चाई को जाँचने के लिए जुझारसिंह ने अपनी पत्नी के सामने एक कठिन प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव था कि वे अपने देवर हरदौल के भोजन में विष मिलाकर उसके प्राण हर ले। भाभी अपने देवर को कैसे जहर खिलाए? वह हरदौल से कहती है—देवर, तुम भोजन मत करो। इस भोजन में मैंने विष मिला दिया है, लेकिन हरदौल भी कहाँ माने। वे जीम गए भाभी के हाथ से पकाई गई विष रसोई।⁸

पूरा जनसमुदाय डबडबाई आँखों से हरदौल का जीवन-पट सुनता है। एक स्त्री की पवित्रता की प्रामाणिकता से अपने को जोड़ देनेवाला हरदौल का आत्मविसर्जन भी अत्यंत सात्त्विक और उदार है।

चाँद, सूरज, तारों के बारे में भी लोक में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। ये लोककथाएँ हमारे सामने जीवन-धर्म की एक नई परत खोलती हैं। त्याग और समर्पण की भावना सिखाती हैं। लेखक ने बचपन में अपनी माँ से एक कथा सुनी थी। अस्तगत सूरज को देखकर लेखक की माँ ने बताया—जब यह अपने घर पहुँचता है, तब इसकी घरवाली धिनौनी सूरत लिए उसका इंतजार करती है। बाल बिखराए, चीकट कपड़े पहने, सिंगार, पटार से रहित सूरज की घरवाली उसका स्वागत करती है। अपनी घरवाली के कुवेश को देखकर सूरज उसे बहुत मनाता है। लाख कोशिश करता है कि मानती ही नहीं। लेखक अपनी माँ से कहते हैं—‘तब तो सूरज की स्त्री बड़ी कर्कशा है। लेखक की माँ ना रे कर्कशा नहीं, सच्ची पतिव्रता है....साध्वी है....सुमंगला है। यदि वह अपना रूप-कुरूप न बनाए तो फिर सवेरा नहीं हो जाएगा। सूरज देर तक सोता रहेगा। उसके प्रेमपाश में फँसकर अलाल हो जाएगा।’⁹

लोककथाओं के साथ-साथ बुंदेली लोकगीत भी काफी प्रचलित है। लोकगीतों में फाग के गीत, सोहर के गीत, विवाह के गीत सभी क्षेत्रों में गाए जाते हैं। लोकगीतों में लोकसंगीत, ध्वनि, लय, सुर ताल का विशेष ध्यान रखा जाता। पूरा लोकसमुदाय इन्हें गाकर आनंदविभोर हो जाता है। सभी जनजातियों में विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। विवाह के समय कई प्रकार के लोकगीत गाए जाते हैं। विवाह से पूर्व हल्दी की रस्म की जाती है। लड़की को हल्दी चढ़ाए जानेवाले मुहूर्त पर बुंदेली में एक लोकगीत गाया जाता है, ‘के तुम बेटे साँचे की ढारी, के तुम गढ़े हैं सुनाए।’¹⁰

हल्दी चढ़े शरीर को देखकर लगता है, जैसे स्वर्णद्रव को किसी साँचे में ढालकर बेटे को बनाया गया हो या फिर किसी कुशल सुनार ने इस स्वर्णप्रभ सुंदर शरीर को गढ़ दिया हो। वर-वधू को आशीष देते हुए उनके प्रति अपनी प्रेम-भावना प्रदर्शित करने के लिए इस प्रकार के लोकगीत आज भी गाँव-देहातों में गाए जाते हैं।

कुछ नई नुहारी स्त्रियाँ कभी एकाध लोकगीत का आलाप लेते हुए सड़क से गुजरती हुई दिखाई देती हैं। इन लोकगीतों में ब्रज के परिवेश को ध्वनित होते सुना जा सकता—

दही रे ले के आ जाऊँगी बड़ी भोर

ने मानो चुनरी धर राखो।

लिख है पपीहरा मोर मानो कुंडरी धर राखो

हीरा जड़े हैं करोर।¹¹

किसान की पत्नी भी अपनी बात मनवाने के लिए लोकगीतों का सहारा लेती है—‘सैयाँ ले

दे करधनियाँ। मँगई दे करधनियाँ। मैं तो सों बिरजी।¹² किसान की घरवाली को चाहिए अस्सी तोले की करधन। वह मानवती है, बिराजी है कोपभवन में सिंगार-पटार फेंककर ऐंठी बैठी है।

लोक और आधुनिकता में द्वंद्व

डॉ० दुबे गाँव में जन्मे हैं। गाँव के विकास को बहुत नजदीक से उन्होंने देखा है। किसी जमाने में गाँव स्वयंपूर्ण एवं स्वयंभू हुआ करते थे। गाँव की सभी जरूरतें गाँव में ही पूरी की जाती थीं। खेती के सारे काम परंपरागत साधनों द्वारा किए जाते थे। आज उन परंपरागत साधनों की जगह आधुनिक यंत्र मशीनों ने ले ली है। गाँव में आधुनिकता प्रवेश कर रही है। आधुनिकता एक सतत प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया लगभग अनिवार्य है। आधुनिकता आवश्यकता भी है। आधुनिकता झल्ले ही हमारी गति को तीव्र करे, हमारे जीवन-संसाधनों में परिवर्तन लाए, किंतु हमारी दृष्टि को परंपरा-बोधी बनाए रखे, डॉ० दुबे ने परंपरा-बोध को महत्त्वपूर्ण माना है। 'हल, बैल, खुरपी, फावड़ा सब विदा हुए। सब काम मशीनें कर ही है। मशीन बनकर, बाजार बनकर, शहर गाँव में घुस आया है। गाँव पोटली में चना-चिड़ड़ा सत्तू पिसान बनकर शहरों में फुटपाथ पर हादसों का शिकार बना पसरा पड़ा है। गाँव ब्रज उच्चाटन का मारा अपना धरती से छुट चुका है।'¹³

लेखक ने आधुनिकता को स्वीकार किया है। उसकी अनिवार्यता को भी स्वीकार किया है, किंतु इस अति आधुनिकता या भौतिकतावाद ने मनुष्य का जीवन ही पूर्ण रूप से बदल दिया है। इस भौतिकवाद के चलते मनुष्य-जीवन में आ रही हताशा, निराशा, अवसाद डॉ० दुबे को स्वीकार नहीं है। आधुनिकता चारों ओर अपने पैर पसार रही है। उसकी जड़ें धीरे-धीरे गाँव-देहातों में भी पहुँच रही है। आधुनिकता के चलते सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ गाँव के लोगों को भी मिलें, इसके लिए प्रयास किए जा रहे हैं। गाँव-देहात का छात्र भी नई जीवन-शैली को अपनाए, इसलिए सरकार नवोदय विद्यालयों की व्यवस्था कर ही है। इस योजना के द्वारा छात्र आधुनिक विकास का स्वाद तो ले रहा है, किंतु उच्चशिक्षा में वह सही जगह नहीं बना पा रहा है। मजबूरन उसे गाँव लौटना पड़ता है। आधुनिक चकाचौंध में वह फँसता जा रहा है। आदमी बनने की कोई व्यवस्था इस शिक्षापद्धति ने नहीं की है—'दृश्य-श्रव्य की आँख और कानफोड़ चकाचौंध है, किंतु इनमें से रिसता जीवन-बोध, शिक्षा पर किए जा रहे अनंत प्रयोगों के अघातों से सूख गया है, शिक्षा की प्रयोगशाला में आदमी बनाने की हिक्मतें निरंतर न्यून होती जा रही हैं।'¹⁴

गाँव में हर एक चीज बदल रही है। टिमटिमाते दीयों की रोशनी अब गाँव में नजर नहीं आती। न ढोर, न बछेरू, न कउए, न लोग। एक जबरदस्त शून्य गाँव में पसर रहा है। लोगों के भीतर की आत्मीयता की भावना धीरे-धीरे कम हो रही है, टी०वी० और ट्रांजिस्टर के कारण लोग संकुचित होते जा रहे हैं—'रामधुनों और भजनों के ढोल-मंजीरे फूट गए हैं, ट्रांजिस्टर और टी०वी० जो आ गए हैं, किसी को चिंता नहीं कि हिलने-मिलनेवाली आत्मीयता इसी तरह खोती गई तो आदमी के भीतर की भावना का क्या होगा।'¹⁵

किसी एक समय में पोस्टकार्ड संदेशवाहक का काम करते थे। क्षेम-कुशल का समाचार इसी पत्र के माध्यम से मिलता था। पोस्टकार्ड एक अनुभूति था, एक आश्वस्ति था। पोस्टकार्ड सूचना-विजडित जड़ माध्यम नहीं था। आज पोस्टकार्ड की जगह टेलिफोन, मोबाइल ने ली है। इन संचार-माध्यमों के कारण संदेश पहुँचाना बहुत आसान हो गया है। घंटों का काम अब मिनटों में हो रहा है, किंतु पोस्टकार्ड के द्वारा जो संवेदना उपजती थी, इन संचार-माध्यमों के द्वारा नहीं

उपजती। हमारी संवेदना इन जड़ साधनों जैसी पथरा रही है। सुख की खबर हो या दुख की, आदमी को झनझनाहट महसूस नहीं होती। 'सूचना-तंत्र के विस्फोटक विकास ने हमारे संवेदन-तंत्र को स्फुरणहीन बना दिया है। किसी खबर से कोई झनझनाहट ही नहीं उपजती। संवेदना के तारों में प्रवाहित भावों का विद्युतावेश अब बचा ही कहाँ है।'¹⁶

संसार-माध्यमों के द्वारा हमने बहुत बड़ी तरक्की की है। मीडिया, इंटरनेट के कारण दुनिया-जहान की खबरें हम तक पहुँचती हैं। ज्ञान की नई-नई शाखाएँ आज निर्मित हो रही हैं। लेकिन इस प्राप्त ज्ञान का उपयोग हम असल जीवन में नहीं कर पा रहे हैं। सूचनाओं को हम केवल मस्तिष्क में ठूसते जा रहे हैं।

मीडिया ने लोक को खुली दृष्टि दी है, लेकिन उसे स्वयं को समझने का दृष्टिकोण नहीं दिया। सूचना के इस विस्फोट समय में लोक हड़बड़ाया और अचकचाया हुआ है। 'मीडिया की बहुत बात करने लगे हम सूचनाओं से अपने मस्तिष्क के बोरे भरते जा रहे हैं, इन बोरो में भरे कचरे को लेकर कहाँ जाएँ? कंप्यूटर से ले रहे हैं यह कचरा और कंप्यूटर को ही सौंप रहे हैं। इसे भारवाही गदहों जैसा अजीब दृश्य खुलता जा रहा है, सूचना का प्रेषण और सकेंद्रण ही महत्वपूर्ण बन गया है।'¹⁷

आधुनिकता के चलते आज मरघट पर भी आदमी के लोभ-लालच ने कब्जा कर लिया है। ऐन मरघट पर बड़े-बड़े महल, बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ बनाई जा रही हैं। मरघट आदमी के अतिक्रमण का शिकार हो गया है—'सचमुच गाँव में मरघट को आदमी के लोभ-लालच ने दबा लिया है। जहाँ कभी भूत-प्रेत निवास करते थे, अब साक्षात् मनुष्य बस गया है। ऐन मरघट पर बने घर में वह रेडियो सुन रहा है।'¹⁸

पाश्चात्यों के अंधानुकरण को ही आज हम आधुनिकता, वैज्ञानिक प्रगति मान रहे हैं। भारतीय संस्कृति प्रेम, आत्मीयता, स्नेह-भाव, पड़ोस-भाव सिखाती है, जो कि विदेशी संस्कृति में दिखाई नहीं देता, किंतु आज हमारे शहरों से भी यह पड़ोस-भाव बेदखल हो रहा है—'आकाश फोड़ अट्टालिकाओं में पड़ोस नहीं है। अपने-अपने फ्लैट्स में लिफ्ट से ऊपर-नीचे हो रहे हैं, लेकिन कोई किसी को नहीं जानता।'¹⁹ इसी पाश्चात्य संस्कृति का हम गुणगान करते हैं। उच्च मध्यमवर्गीय लोग इसे स्वीकारने में गर्व महसूस करते हैं। विदेशियों की हर एक बात हमें अच्छी लग रही है। 'विदेश में हमें कोई किसी से नहीं पूछता कहाँ के हैं आप? क्या नाम है आपका? शादीशुदा हैं? कितने बच्चे हैं? कामधाम क्या करते हैं आदि। न ट्रेनों में, न बस में, न राह चलते।'

परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व भारतीय समाज को आज शिद्दत के साथ झेलना पड़ रहा है। पुराना सब अच्छा नहीं होता, नया सब बुरा नहीं होता। दोनों का समन्वय जरूरी है। मनुष्य का विवेक सर्वोपरि है और उसी के आधार पर वह समन्वय संभव होगा। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में हमारी लोकसंस्कृति विकृत की जा रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति के फैलाव से हमारा रहन-सहन, आचार-विचार और मूल्य तेजी से बिखरते जा रहे हैं। लेखक का विरोध आधुनिकता से नहीं, उसके पीछे आ रही कुसंस्कृति के पदार्पण से है। हमें आधुनिकता को जरूर स्वीकारना चाहिए, विकास और तरक्की भी करनी चाहिए, लेकिन अपनी जड़ों को नहीं छोड़ना चाहिए। अपनी संस्कृति, अपने मूल्य, अपनी पहचान को, भारतीयता को हमें कायम रखना है। आधुनिकता भारतीय विकास के मूल से जुड़ी होनी चाहिए।

मानवीय मूल्यचेतना

बदलती आधुनिक जीवन-शैली और पाश्चात्य तत्त्व हमारी प्राचीन मान्यताओं, परंपराओं, मूल्यों को प्रभावित कर रहे हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण, संस्कृति, प्रेम और गांधीवादी दर्शन के प्रति आज की पीढ़ी के मन में घृणाभाव पनपता जा रहा है। निरंतर बढ़ती आधुनिकता पाश्चात्यीकरण और रिश्तों के मध्य घुटती आत्मीयता से जहाँ सामाजिक मूल्यों में गिरावट आई है, वहीं पड़ोस, परिवार टूट रहे हैं।

डॉ० दुबे के मन में हमारी प्राचीन परंपराओं एवं मूल्यों के प्रति अटूट प्रेम एवं श्रद्धा है। वे अपने प्राचीन मूल्यों को बिखरता हुआ नहीं देख सकते। अपने साहित्य के माध्यम से वे उन मूल्यों का रक्षण करना चाहते हैं। त्याग, सहिष्णुता, सेवाभाव, दया, क्षमा, करुणा, विवेक, संयम, साहचर्य हमारे शाश्वत मूल्य हैं। पाश्चात्यीकरण के कारण इन शाश्वत मूल्यों की अवहेलना की जा रही है। वैज्ञानिक विकास ने हमारे संवेदन-तंत्र को स्फुरणहीन बना दिया है। दूसरे के दुख को अपना माननेवाली हमारी संस्कृति थी, लेकिन आज किसी की मौत से भी हमारे मन में करुणा नहीं उपजती। 'अब जबकी किसी आदमी का मरना कोई खबर ही नहीं रहा है, मौत की खबर को जैसी भावोद्रेकता उत्पन्न करनी चाहिए, जैसी करुणापूरित संवेदना जगानी चाहिए, वैसी जागती ही नहीं।'

हमारे यहाँ पड़ोस-भाव भी सर्वोपरि माना जाता था। पड़ोसी के घर में अगर बच्चे का जन्म होता था, तो जन्मोत्सव मनाया जाता था। किसी की मृत्यु होती थी तो सांत्वना के लिए लोगों का ताँता लगा होता था। यह पड़ोस-भाव हर जगह पर दिखाई देता था। ट्रेन में, बस में, राह-चलते पड़ोसी पड़ोसी के सुख-दुख में शामिल हो जाते थे। 'पड़ोसी के दुख-सुख में घुस जाते हैं, अनायास अपनी हारी-बीमारी में जुगजुगाने लगती है, हमारी नेह-छोह-भरी राहगीर ममता यद्यपि आधुनिकता की चपेट में यह ममता धोखा खा रही है।' आजकल यह पड़ोस-भाव, सहानुभूति, करुणा, दया, संवेदना ही कम होती जा रही है। किसी की मदद करने के लिए भी कोई आगे नहीं आता। हर एक व्यक्ति संकुचित होता जा रहा है। भीड़-भरे रास्ते पर किसी का एक्सीडेंट हो जाता है, लेकिन कोई मदद करने के लिए आगे नहीं आता। लोग देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। क्या इसे हमें आधुनिकता मान लेना चाहिए?

त्याग और समर्पण की एक लंबी परंपरा भारतीय संस्कृति में दिखाई देती है। त्याग, निस्वार्थ सेवा, समर्पण, शालीनता इन्हीं मूल्यों के कारण विश्व में हमारी अलग पहचान भी है। हमारी संस्कृति की महिमा गुणगुनाते समय हर एक व्यक्ति इन मूल्यों की प्रशंसा करता है। डॉ० दुबे लिखते हैं, 'हमारे देश की विश्वसुंदरियाँ अपने ब्रह्मांड इंटरव्यू के समापन-क्षण के समय एक आप्त वाक्य उच्चारती हैं की वे सेवा और त्याग का आदर्श कायम करेंगी और मदर टेरेसा द्वारा प्रदर्शित मार्ग को अपनाएँगी। भारत की गरीबी, भुखमरी और रोग राई को दूर करने का प्रयत्न करेगी।²⁰ किंतु जब वे वॉलीवुड के मायाजाल में लिपटी लटकी दिखाई देती हैं, तब ऐसा लगने लगता है कि क्या केवल प्रसिद्धि के लिए ही वे इस आप्तवाक्य को उच्चारती हैं? माना कि सौंदर्य बाजार की माँग है, किंतु सौंदर्य की पूर्ति का रसीला नशीला सिलसिला बन गया है। इस नशे का प्रसार अनेक मानसिक कुंठाओं को जनम दे रहा है। इससे आदमी और भी घरघुस्सू और भी हतप्राण और भी फालतू और फूहड़ होता जाएगा। लेखक का मानना है कि 'आज आवश्यकता

यह है कि सौंदर्य एक चुनौती बने पुरुषार्थ को जगाने की, एक ऐसी आँख देने में मसर्थ हो, जो समूचे संसार को झकाझक कर दे। ऐसा सौंदर्य त्याग की शालीनता से ही संभव है।'

परिवर्तन संसार का नियम है। आज हर एक क्षेत्र में बदलाव आ रहा है। आज का ज्ञान कल पुराना लगने लगता है। समाज तेजी से अपना रूप बदल रहा है। भूमंडलीकरण के इस दौर में नए मूल्य, नए प्रतिमान स्थापित हो रहे हैं। इस बदलते स्वरूप के कारण हमारे देश की असल संस्कृति में खोट उत्पन्न हो रही है। नएन के स्वागत में इसका पूरा स्वरूप ही बदलता जा रहा है, ऐसे में कहीं हम अपनी जड़ों से कट न जाएं। डॉ. दुबे का विरोध आधुनिकता से नहीं है, उनकी चिंता है, कि आधुनिकता की इस अंधी दौड़ में हम अपने मूल्य, परंपराओं को सुरक्षित कैसे रखें। हमें आवश्यकता है अपने मूल्य एवं परंपराओं की धरोहर को सुरक्षित रखने की। विश्व में अपनी नई पहचान बनाने की। ऐसी संस्कृति को निर्मित करने की, जिसकी नींव मानवता पर आधारित हो। हमें मानवतावाद की ओर अग्रसर होकर उच्च आधुनिक नवसंस्कृति का निर्माण करना होगा।

संदर्भ

1. कोई खिड़की इसी दीवार से किताब के फ्लैप से
2. वही, पृ० 15
3. वही, पृ० 18
4. वही, पृ० 25
5. वही, पृ० 111
6. वही, पृ०
7. वही, पृ० 75
8. वही, पृ० 31
9. वही, पृ० 63
10. वही, पृ० 100
11. वही, पृ० 69
12. वही, पृ० 22
13. वही, पृ० 58
14. वही, पृ० 60
15. वही, पृ० 74
16. वही, पृ० 82
17. वही, पृ० 85
18. वही, पृ० 90
19. वही, पृ० 162
20. वही, पृ० 66

21वीं शती के पौराणिक नायिका-प्रधान हिंदी-उपन्यासों का सांस्कृतिक योगदान

रचना

उपन्यास, मानव-जीवन का महाकाव्य है। यह मानव-जीवन का विस्तृत और व्यापक चित्रण करते हुए अपना ताना-बाना बुनता है। जीवन अपनी यात्रा में जिन-जिन स्थितियों-परिस्थितियों से जूझता हुआ गतिमान होता है, उससे जीवन की विविध कथाएँ निर्मित होती हैं। ये कथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही प्रामाणिक न हों, परंतु जीवन-अनुभव का अमूल्य रत्न सँजोए हुए होती हैं। यह जीवन-अनुभव एक ओर जहाँ तत्कालीन यथास्थितियों से परिचित करवाता है, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक परिष्कार का कार्य भी करता है। वस्तुतः ऐसे उपन्यास ही जीवन को व्याख्यायित, विश्लेषित करते हुए हमें सांस्कृतिक चेतना से मंडित करते हैं। राजेंद्र यादव ऐसे ही उपन्यासों को सार्थक मानते हुए लिखते हैं, 'कोई भी कहानी या उपन्यास तभी सार्थक या समय के साथ है, जब वह हमें अपने आपसी संबंधों को नए सिरे से सोचने को बाध्य करे या स्वीकृत संबंधों के नए आयाम खोले।' आधुनिकयुग की परिस्थितियों के जटिल और संश्लेष होने से उपन्यास-विधा में विभिन्न पड़ाव बनते हैं। क्योंकि जीवन बदलता है, इसलिए उपन्यास का स्वरूप एवं उसकी संवेदना भी परिवर्तित होती है।

विवेच्य उपन्यास पौराणिक नायिका-प्रधान उपन्यासों पर केंद्रित हैं। यहाँ पौराणिक उपन्यासों से अभिप्राय उन उपन्यासों से है, जो हमारे आर्ष ग्रंथों पर आधारित हैं। ऐसा माना गया है कि इन पौराणिक ग्रंथों का निर्माण ई० पूर्व पाँचवीं-छठी³ शताब्दी तक हो चुका था। वस्तुतः ये भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण थाती हैं, जिन्हें संजोए रखना तथा पुनःपुनः विश्लेषित करते हुए जीवन के अनुरूप इसकी व्याख्याएँ करना आज के साहित्य की महती आवश्यकता है। 21वीं शती के उपन्यासकारों ने भी पौराणिक उपन्यासों में समय की नब्ज को पकड़कर इसकी पूर्ति करने का प्रयास किया है।

पौराणिक साहित्य को आधार बनाकर बहुत सारे उपन्यास लिखे गए हैं। इनमें कुछ घटना-प्रधान, कुछ नायक-प्रधान तो कुछ नायिका-प्रधान उपन्यास हैं। नायिका-प्रधान पौराणिक उपन्यासों में 'विजयिनी', 'मैं जनकनंदिनी', 'सीता पुनि बोली', 'अंबा नहीं मैं भीष्मा', 'कुंती', 'हिडिम्बा', 'पांचाली' और 'सैरंध्री' आते हैं। चित्रित नारी-पात्रों पर लेखनी चलाकर उपन्यासकार जहाँ एक ओर इनकी चारित्रिक विशेषताओं को उद्घाटित करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनके सांस्कृतिक योगदान को भी रेखांकित करते हैं। सावित्री, सीता, अंबा, कुंती, हिडिम्बा, द्रौपदी कुछ ऐसे ही पात्र हैं, जिन पर कोई भी युग गर्व कर सकता है।

विजयिनी

सावित्री भारतीय साहित्य के जातीय इतिहास की एक ऐसी पात्रा है, जिसने अपनी निष्ठा, त्याग और साधना के बल पर मृत्यु पर विजय पा लेती है।

21वीं शती की लेखिका मृदुला सिन्हा 'सावित्री' के चरित्र को 'विजयिनी' उपन्यास के माध्यम से उभारती हैं। सावित्री एक विदुषी और प्रत्युत्पन्नमति के रूप में स्मरण की जाती है, जिसने अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर यमराज को भी परास्त कर दिया था। प्रस्तुत उपन्यास में वह एक अनोखे व्यक्तित्व की स्वामिनी है, जो निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र है। फिर चाहे वह कठिन व्रत और उपवास करने का निर्णय हो या अपने लिए योग्य वर की तलाश। अपने कार्यकलापों और निर्णयों की पूर्वसूचना देने के लिए कोई उसे बाध्य नहीं कर सकता। गौतम ऋषि द्वारा उसके व्रतों-उपवासों को लेकर जिज्ञासा किए जाने पर वह कहती है, 'मैं मानती हूँ कि विवाह के उपरांत पति-पत्नी के एक हो जाने पर भी उनका स्वयं का भिन्न अस्तित्व रहता है। उनके अपने शरीर, मन, बुद्धि और आत्माएँ होती हैं। पति-पत्नी एक निश्चित उद्देश्य के लिए जीवनसाथी बनते हैं, परंतु उनके शरीर, मन और बुद्धि की अपनी विशेषताएँ तो होती ही हैं।'⁴ उन दिनों स्वयंवर का प्रावधान तो था कि उपस्थित राजकुमारों में से अपना पसंदीदा वर चुन लें, परंतु अकेले देशाटन करते हुए नगर, ग्राम तथा वनप्रांत कहीं से भी उपयुक्त वर का चुनाव उसकी योग्यता और सक्षमता को दर्शाता है और यह चुनाव वह किसी राजा या राजकुमार के वैभव को देखकर नहीं बल्कि उनके मानवीय गुणों के आधार पर करती है। वह जानती है कि सत्यवान की मृत्यु में केवल एक वर्ष शेष है, फिर भी वह अपने संकल्प पर दृढ़ है। आत्मविश्वास से भरी सावित्री का कठिन जप-तप, यमराज से सामना, उनके वार्तालाप, उनका विश्वास जीतना तथा सत्यवान के प्राण वापिस लाना प्रत्येक प्रसंग सावित्री के गुणों के परिचायक हैं। सावित्री की निर्णय-स्वतंत्रता, योग्यता, आत्मविश्वास जैसे गुण नारी-सशक्तीकरण को बल प्रदान करते हैं, वहीं वर-चयन की प्रक्रिया में संबल और जीवनसाथी के साथ जीने का संकल्प विवाह-संस्था और पारिवारिक संबंधों में हमारी आस्था को दृढ़ करते हैं। आज जब हमारा विश्वास इन संस्थाओं से उठने लगा है तथा हम पारिवारिक संबंधों को नकारकर 'लिव-इन-रिलेशनशिप' की बात करने लगे हैं, ऐसे समय में इस उपन्यास की यह पात्रा अपने सांस्कृतिक योगदान को रेखांकित करती है।

'मैं जनक नंदिनी'⁵ और 'सीता पुनि बोली'⁶

पौराणिक परिप्रेक्ष्य में रामायण के पात्र तथा संदर्भ युगयुगांतर से सांस्कृतिक धारा को सिंचित करते आ रहे हैं। इन संदर्भों में कुछ ऐसी विलक्षणता है कि यह प्रत्येक युग की पिपासा एवं जीवनधारा को आप्लावित करते हुए सीमा-बंधनों से ऊपर उठकर कालजयी बन चुके हैं।

रामायणीय पात्रों में 'सीता' ऐसी ही एक पात्र है। 21वीं शती के रचनाकार सीता-चरित्र को 'मैं जनक नंदिनी', 'सीता पुनि बोली' दो उपन्यासों के माध्यम से उभारता है। सीता का जीवन भारतीय नारियों के लिए सदा अनुकरणीय व आदर्श रहा है। अपने दुःखों की तुलना उनके दुःखों से करके वे सदा धैर्य रखती रही हैं और विकट परिस्थितियों से जूझते हुए सीता के चरित्र से आत्मबल प्राप्त करती हैं। भारतीय नारी सीता को एक ओर देवी मानकर पूजती हैं तो दूसरी ओर मानवी मानकर उनके आचरण को आत्मसात करती हैं।

‘मैं जनकनंदिनी’ की सीता केवल कर्त्तव्य, त्याग और समर्पण का संदेश न देकर अपने चरित्र पर अंगुली उठानेवाले पति ‘राम’ के परित्याग का माद्दा रखती है। आज तक जनमानस में सीता का सौम्य, आज्ञाकारी रूप ही सामने आया है, जो सहज ही पिता-प्रण की पूर्ति करनेवाले पुरुष के गले में वरमाला डालकर जीवन को सार्थक समझती है। उस समर्पिता, सहधर्मिणी या सहगामिनी पत्नी का जो सहजभाव से सारा राज्य, सुख तथा वैभव त्यागकर पति ‘राम’ की अनुगामिनी बनकर वन्यजीवन के दुःखों को अपनाकर हर्षित होती है। वह पति की पूरक एवं त्याग की प्रतिमूर्ति है, परंतु जब तक यह गुण उसके वैयक्तिक जीवन से जुड़े रहते हैं, वह अपना सर्वस्व त्यागकर इनका पालन करते हुए पारिवारिक संस्था के लिए अपना जीवन दाँव पर लगा देती है, परंतु जहाँ इन गुणों की आड़ में नारी-समाज के अस्तित्व, स्वाभिमान, अस्मिता का प्रश्न आता है, वहाँ वह सशक्त होकर नारी-अपमान, अवमानना के समस्त संदर्भों को चुनौती देती हुई सांस्कृतिक यज्ञ में आहुति देने से पीछे नहीं हटती। इस संदर्भ में सीता का कथन, ‘हे राजा राम! आपने राजधर्म निभाया, परंतु पतिधर्म का निर्वाह नहीं कर सके। यह मन और विश्वास का संबंध है। ‘अतः आज इस सभा में समस्त समाज के समक्ष, जनकनंदिनी जानकी आपका परित्याग करती है।’⁷

मृदुला सिन्हा के उपन्यास ‘सीता पुनि बोली’ में सीता का द्वंद्व आज की स्त्री का द्वंद्व है। स्वयंवर के समय व अग्निपरीक्षा से पूर्व उसके मन में उठनेवाला द्वंद्व उसकी चेतना का परिचायक है। अग्निपरीक्षा से पूर्व वह अंतर्दाह से जल उठती है, ‘वह अग्निपरीक्षा क्यों दे? यदि सीता राम के बिना अकेले रही तो राम भी सीता के बिना अकेले रहे। क्या मात्र इसलिए कि वह स्त्री है? मात्र इसलिए वह पुरुष के अनाचार सहे?’⁸ स्त्री-पुरुष समानता के संदर्भ में वह भारतीय स्त्रियों का प्रतिनिधित्व इस अर्थ में करती हैं कि वे अपने अंदर की कमजोरियों को त्यागकर अपने स्त्रीत्व, कर्त्तव्य तथा संस्कार से तालमेल बिठाकर अग्रसर हो सके। आज की एकाकी जिंदगी में सीता का चरित्र एक ओर जहाँ परिवार एवं समाज की ओर उन्मुख करता है, वहीं दूसरी ओर नारी-समाज के अस्तित्व, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अपना सांस्कृतिक योगदान देता है।

अंबा नहीं मैं भीष्मा

अंबा महाभारत की ऐसी तेजस्विनी नारी है, जो अपने प्रति अन्याय के प्रतिकार के लिए जी-जीकर मरती रही, इस सत्रह वर्षीय किशोरी ने किसी साधारण व्यक्ति को नहीं, युग के अद्वितीय योद्धा भीष्म को चुनौती दी थी। स्त्री-चेतना के संदर्भ में यह आज भी विचारणीय है कि किस प्रकार सुकुमार किशोरी राजकुमारी वन में साधनारत होकर अपनी अंतर्निहित शक्तियों को विकसित करके समाज की रूढ़िग्रस्त मानसिकता से टकराती है। महायुद्ध को निर्णायक मोड़ पर लानेवाली अंबा की ऐतिहासिक भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। अंबा का जीवन उस किशोरी की व्यथा-कथा है, जिसकी प्रबल इच्छाशक्ति, संकल्प की दृढ़ता और जुझारूपन को कौरव-पांडव महारथियों के तुमुल जयघोषों से दबा दिया गया था।

महाभारत के पात्रों में अंबा (शिखंडी) का अपना पृथक्, विशिष्ट तथा चामत्कारिक रूप से जुझारू व्यक्तित्व उभरा है, जिसने नए कीर्तिमान स्थापित किए, क्योंकि उसने अंतिम साँस तक केवल संघर्ष ही नहीं किया, विजय भी पाई। अंबा का व्यक्तित्व इस बात का गवाह है कि नारी कुसुम से अधिक कोमल है तो वज्र से अधिक कठोर भी। वह कामिनी है तो कराली भी। एक बार वह कोई निर्णय ले लेती है कठोर निर्णय, भीष्म प्रतिज्ञा तो फिर काल भी उसे नहीं जीत

सकता। भीष्म भले ही अजेय हो, शास्त्र में परांगत हो, इच्छामृत्यु को प्राप्य हो, पर अंबा का नाम, उसकी उपस्थिति, स्मृति प्रसंग, संदर्भ उसे बड़े संकट में डाल देते हैं। उसका भीतर उसे धिक्कारता है। ऊपर से सामान्य लगने पर भी उसके मन की गहराई में एक घाव बना ही रह गया।⁹ युद्ध के समय इसी टीस के कारण वह अंबा से क्षमा-याचना के रूप में मृत्यु चाहता है, परंतु अंबा का निर्णय, 'नहीं! यदि आज तुम्हें अंबा ने मार दिया तो प्रतिकार पूरा हुआ मान लिया जाएगा। किंतु एक भीष्म का वध कर देने से उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। क्योंकि फिर-फिर भीष्म उत्पन्न होंगे। फिर-फिर अंबाओं के साथ षड्यंत्र रचे जाएँगे। नहीं! वध नहीं! अंबा को शक्तिशाली बनाना होगा। प्रश्न एक अंबा के साथ हुए अन्याय का नहीं है, भविष्य में हर अंबा को सुरक्षित करने का है।'¹⁰ इस बात को द्योतित करता है कि उसका संघर्ष केवल 'स्व' तक सीमित न होकर समस्त नारी-जाति के लिए है।

अंबा समाज की ओर से निराश अवश्य हुई, किंतु अपनी संकल्प-शक्ति पर अटूट विश्वास होने से हारी नहीं, आशावादी बनी रही। अंबा की कथा अपने आपमें अद्भुत है, विस्मयकारी है, क्योंकि अन्य कोई ऐसा दृष्टांत कहीं नहीं मिलता, जब एक नितांत किशोरी ने प्रचंड शक्ति से समाज के महाप्रतिष्ठित प्रौढ़ महाबलि को ललकारा हो। उस युग में ऐसी चमत्कारिक संकल्पशक्ति सत्रह वर्षीय कन्या में होना अचंभित करता है। अंबा समाज द्वारा तिरस्कृत, मात्र एक साधनहीन अल्पवय किशोरी थी, जो भीष्मवध की प्रतिज्ञा हृदय से लगाए-लगाए भीष्मा हो गई। उसने भविष्य में संघर्ष हेतु नारी के लिए मार्ग प्रशस्त किया, जिस पर भीष्म के ही जीवनकाल में द्रौपदी चल पड़ी। आज 21वीं शती में भी प्रत्येक पीड़ित नारी को आवश्यकता है अंबा जैसा बनने की। आज जब हमारे चारों ओर कन्याओं के अपहरण और बलात्कार जैसी घटनाएँ आम हो गई हैं, ऐसे समय में जरूरत है प्रत्येक किशोरी को अंबा जैसा शक्तिशाली बनने की। वह नारी-शक्ति को जाग्रत करते हुए कहती है, 'जागो अंबाओ! जागो! सावधान! कोई तुम्हें उत्पीड़ित न कर पाए! कोई तुम्हारा शोषण न कर पाए! शक्ति बनो! अबला नहीं! फिर कहीं कोई पुरुष किसी अंबा का जीवन नष्ट न कर पाए! जागो! उठो अंबाओ! सावधान अंबाओ! जागो..जागो..'¹¹ यही इस उपन्यास की सार्थकता है और यही अंबा-चरित्र की प्रासंगिकता।

कुंती

नरेंद्र कोहली द्वारा रचित इस उपन्यास में कुंती का समस्त जीवन सामाजिक मर्यादाओं और व्यक्तिगत भावनाओं के बीच झूलता हुआ महसूस होता है। वह एक के बाद एक अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को दबाती हुई, परिस्थितियों से समझौता करती हुई सामाजिक मर्यादाओं का शिकार होती चली जाती है। इन मर्यादाओं के कारण वह अपने जीवन के सबसे संवेदनशील सत्य (कर्ण जन्म) को भी अस्वीकार कर देती है। इस स्थिति पर आत्ममंथन करते हुए वह स्वयं कहती है, 'कुंती, यह तेरा अतीत था। वर्तमान सदा अतीत से भिन्न होता है। अपने इस गोपनीय अतीत को वर्तमान पर आरोपित मत कर। यदि तू अपने इस अतीत को स्वीकार कर सकती थी, तो फिर उसे त्यागने की क्या आवश्यकता थी? उसे त्यागा था, ताकि पिता कुंतीभोज का यश धूमिल न हो, शूरसेन का कुल कलंकित न हो।'¹² कुंती जीवनभर इस द्वंद्व को झेलती हुई मूक-वधिर बनी रहती है। वह सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अपने मातृत्व की बलि चढ़ा देती है। कुंती की इस मानसिक स्थिति का काव्यात्मक वर्णन करते हुए 'दिनकर' ने रश्मि रथी में लिखा है—

और हाय रनिवास चला वापस जब राजभवन को,
सबके पीछे चली एक विकला मसोसती मन को।
उजड़ गए हों स्वप्न कि जैसे हार गई हो दाँव,
नहीं उठाए भी उठ पाते थे कुंती के पाँव।¹³

सामाजिक व्यवस्था और कुलमर्यादा पर कुंती का यह महान बलिदान वस्तुतः संस्कृति की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। कुंती अपनी ममता, सुख, शांति, समृद्धि को त्यागकर एक आदर्श प्रस्तुत करती है। वह अपने आंतरिक विद्रोह को कभी भी मर्यादा से बाहर नहीं जाने देती। सारा द्रव्य मानसिक रूप से झेलते हुए प्रत्येक स्थान पर सक्रिय रहती है।

कुंती के जीवन का यह महान् त्याग इस बात का प्रतीक है कि समष्टि के सामने व्यक्ति नगण्य है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में इस प्रकार के व्यक्तिगत हितों को सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समर्पित कर देनेवाले का विशेष स्थान है। राम का जीवन इसका जीता-जागता प्रमाण है। राम ने अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं, आकांक्षाओं, भावनाओं को सामाजिक मर्यादा तथा सामूहिक हित की बलि-वेदी पर सहर्ष चढ़ा दिया। कुंती ने भी अपने व्यक्तिगत सुखों, समृद्धियों को मर्यादा स्थापित करने हेतु त्यागकर, सांस्कृतिक यज्ञ में अपने जीवन की आहुति दी, जिसे उपन्यासकार ने बड़ी कुशलता से सहेजकर एक ओर अपने सांस्कृतिक दायित्व की पूर्ति की है और दूसरी ओर इस पात्र की प्रासंगिकता को सिद्ध किया है।

हिडिंबा

‘हिडिंबा’ नाम से दो उपन्यास ‘नरेन्द्र कोहली’ तथा ‘नताशा अरोड़ा’ ने हिडिंबा नाम के पौराणिक पात्र को लेकर रचे हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि अनार्य, राक्षस आदि अपने गुणों व अवगुणों, भिन्न मूल्यों व अपनी स्थापित सभ्यता-संस्कृति के होते हुए भी त्याज्य ही रहे। ऐसे त्याज्य कि आज हजारों साल बाद भी हम उसी सोच को ढो रहे हैं। हिडिंबा महाभारत में वर्णित संपूर्ण ज्ञान, श्रेष्ठ सोच, आदर्श व्यवहार, सामाजिक व प्रशासनिक नियमों की उदारता, आर्यसीमा का अतिक्रमण कर अनार्य सीमा में प्रवेश न कर सकी, न उन्हें मानवीय मान सकी। तत्कालीन युग-सत्यों से उपजे परिणाम ही आज की समस्याओं का आधार बन गए हैं। आज की नक्सली समस्या को मूलतः सामाजिक त्रासदियों से उत्पन्न समस्या मानने के पीछे संभवतः एक कारण यह भी है। हिडिंबा व उसका पुत्र घटोत्कच ऐसे ही त्याज्य समाज के प्रतिनिधि हैं।¹⁴

हिडिंबा अपने पुत्र व पौत्र को आर्ययुद्ध में सहर्ष भेजती है बिना किसी मलाल के कि अब से पहले उस आर्यपरिवार (पांडव) ने कभी याद ही नहीं किया। वह तब उद्वेलित होती है, जब उसके पुत्र व पौत्र के मारे जाने पर अपने ही पक्ष के लोगों द्वारा उत्सव मनाया जाता है। वह आर्यों द्वारा किए गए इस छल के कारण उनकी (आर्यों) नैतिकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। हिडिंबा के तर्कपूर्ण उपालंभों से भीष्म के साथ कृष्ण भी विचलित होते हैं। परंतु हिडिंबा के त्याग, निष्ठा का कोई प्रतिदान उसे नहीं मिला। विडंबना है कि यह वह संकुचित सोच है, जो आज का युगसत्य भी है। हमारी वैचारिकता इक्कीसवीं सदी की है, किंतु इतना आगे आकर भी हम मानवीय मूल्यों में जहाँ के तहाँ खड़े हैं। एक ओर चाँद पर बसने का स्वप्न तो दूसरी ओर

धर्माधता, सांप्रदायिकता, कूपमंडूकता। हिडिंबा भीष्म पितामह के माध्यम से ऐसे ही अनेक प्रश्नों को उठाकर हमारी अंतरात्मा को झकझोरने का प्रयास करती है।

यह सर्वविदित है कि आदिवासी जनजातियाँ अपनी भाषा, वेशभूषा और सांस्कृतिक परंपराओं में मुख्यधारा से भिन्न रही हैं। हजारों वर्षों से वनों-पर्वतों की गोद में पलते इस समुदाय का प्रकृति सुरक्षा के प्रति कर्तव्यबोध इनके रक्त में है। प्रकृति इनकी माँ है, पिता है और गुरु भी है। इसी अधिकार-बोध के कारण वन-संपदा सहस्राब्दियों तक सुरक्षित रही। हिडिंबा की भावाभिव्यक्तियों में प्रकृति-प्रेम व रक्षण-भाव प्रकट हुए हैं। उसकी सहज प्रज्ञा जानती है कि यदि वन्य संपदा नष्ट होगी तो वे भी नष्ट हो जाएँगे। यद्यपि तत्कालीन युग में पर्यावरण जैसे आधुनिक शब्द की परिकल्पना नहीं थी, परंतु आज हिडिंबा की यह सोच उसे पर्यावरण-विमर्श से जोड़ती है।

हिडिंबा के व्यक्तित्व व जीवन-संबंधी प्रश्नों ने उसे आज की नारी के समकक्ष खड़ा कर दिया है। उसके प्रश्न सार्वभौमिक रूप से स्त्री-सम्मान से जुड़े हुए हैं। वह अनार्य समाज की प्रतिनिधि है, जो अपने आत्मसम्मान को सर्वोपरि रखते हुए पांडवों से कोई माँग नहीं रखती, बल्कि अपने वचन को निभाती है।¹⁵ उसका संपूर्ण जीवन त्याग और तपस्या की गाथा है। उसका स्वाभिमान बाहर से देखने में वैयक्तिक अवश्य लगता है, किंतु जब हम स्त्री-जाति के संदर्भ में घटित करके देखते हैं तो उसके कई सांस्कृतिक अर्थ निकलते हैं और वह सामूहिक बन जाता है। इसलिए वह उसका स्वाभिमान है, जो वैयक्तिक होकर भी स्वार्थी नहीं है।

सैरंध्री¹⁶, पांचाली¹⁷

महाकाव्यकालीन उपन्यासों में द्रौपदी का जीवन सर्वाधिक विरोधाभासों से युक्त है। वह एक साथ प्रश्न भी है और उत्तर भी, व्यवस्था भी है और विद्रोह भी, ध्वंस भी है और निर्माण भी तथा स्थिति भी है और प्राण भी। इस प्रकार से उसका जीवन अनेक विरोधाभासों को लेकर चलने वाला एक ऐसा स्रोत है, जो विपरीत तटों-कूलों को अर्थवान् करता चलता है। द्रौपदी जितनी ममतामयी दिखाई देती है, उतनी ही यथार्थवादी। उसमें जितनी सुकुमारता है, उतनी ही कठोरता। वह टूटते-बिखरते समाज और राजनीति के मूल्यों को बटोरने का संघर्ष जिस आश्चर्यजनक शक्ति से झेल सकती है, उतनी ही आश्चर्यजनक गति से जर्जर मूल्यों और पुरुषसत्ता के विरुद्ध विद्रोह भी कर सकती है। इस प्रकार से वह संपूर्ण नारीत्व का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। अतः उसके चरित्र में विरोधाभासों का आना स्वाभाविक ही था।

यहीं आकर उसकी परीक्षा समाप्त नहीं होती। पांडवों के अज्ञातवास के समय बदली हुई भूमिकाओं से तालमेल बैठाना द्रौपदी के लिए पांडवों से कहीं अधिक दुष्कर था। अर्जुन को अगर उर्वशी का श्राप था तो युधिष्ठिर को द्यूतप्रिय होने के नाते कंक बनने में सुविधा थी, भीम वैसे ही भोजनभट्ट थे, समस्या थी तो द्रौपदी की। जो न केवल सुंदरी होने के कारण सबके आकर्षण का केंद्र थी, बल्कि जिसने कभी सेवा-टहल का काम भी नहीं किया था। सुदेष्णा जैसी रानियाँ तो उसकी सेवा-टहल करने योग्य थीं। ऐसी स्थिति में उसे एक वर्ष तक सैरंध्री बने रहना द्रौपदी के लिए किसी अग्निपरीक्षा से कम नहीं था।¹⁸

द्रौपदी का जीवन एकता, समन्वय, त्याग, समर्पण और व्यवस्था का ही रूप नहीं है, बल्कि जब यह मूल्य रूढ़ होकर समाज-गति को अवरुद्ध करने लगते हैं तो वह प्रत्यक्ष रूप से

विवेकशील होकर इनको प्रश्नचिह्नित भी करती है। सभा में अर्द्धनग्न लाए जाने पर वह इसी प्रकार के धर्माधर्म-संबंधी प्रश्नों से जर्जर व्यवस्था को हिला देती है। वह समस्त सभा को चुनौती देते हुए कहती है, 'अहो! धिक्कार है। मिथ्या गर्व से मस्तक ऊँचा करके चलनेवाले भरतवंशी, कुरुवंशी महापुरुषों पर, आचार्यों पर, विद्वानों पर। निश्चय ही सभी श्रेष्ठ पुरुषों का सदाचार लुप्त हो चुका है, तभी तो यहाँ कुलवधू का शीलहरण हो रहा है और सभा में बैठे कुरुवंशी तमाशा देख रहे हैं। वह सभा नहीं, जहाँ वृद्ध न हों, वे वृद्ध नहीं जो धार्मिक न हों, वह धर्म नहीं, जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं जो छल से युक्त हो।'¹⁹ वह प्रश्न करती है स्त्री चाहे दासी हो या महारानी क्या पुरुष को उसे नंगा करने का अधिकार है?²⁰

इस प्रकार से द्रौपदी का जीवन जहाँ विशेष सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति त्याग, समर्पण, बलिदान सिखाता है, वहीं वह रूढ़ हो चुकी मान्यताओं, व्यवस्थाओं को तोड़ देने की चेतना से मंडित भी करता है। द्रौपदी का जीवन स्पष्ट रूप से युद्ध का आह्वान कर इस गल-सड़ चुकी व्यवस्था को साफ करने का एक सांस्कृतिक कर्म भी है। वह पांडवों के सामने कृष्ण को कहती है—'अवध्य का वध करने से जो पाप होता है, वही पाप वध्य का वध न करने से होता है, कृष्णचंद्र। इस तरह से द्रौपदी का जीवन सांस्कृतिक यज्ञ में सहनशीलता, त्याग, बलिदान, समर्पण और विद्रोह की भूमिकाओं को निर्धारित करता है। अतः आज स्त्री-विमर्श के युग में द्रौपदी का चरित्र विशेष अर्थवान हो उठा है। आज स्त्री की स्वतंत्रता के नाम पर जहाँ सभी व्यवस्थाओं, परंपराओं को तोड़ने में ही सार्थकता समझी जाती है, वहाँ द्रौपदी का चरित्र इन परंपराओं, मूल्यों के रूढ़पक्ष को न केवल चिह्नित ही करता है, अपितु बड़ी दृढ़ता से उनका प्रतिपक्ष प्रस्तुत करके हमारी चेतना-प्रक्रिया को नया आयाम भी देता है। वह विद्रोह केवल विद्रोह के लिए नहीं, अपितु मूल जीवन स्थापन के लिए करती है। कहना न होगा कि आज के युग में द्रौपदी का यह सांस्कृतिक कर्म जीवन को पूर्णता से प्रस्तुत करने के साथ-साथ पाठक को जागरूक भी करता है। यही इन उपन्यासकारों के कलात्मक प्रयोग हैं तथा यही इन पात्रों की प्रासंगिकता।

आज हम व्यावहारिक जीवन में यह स्पष्ट अनुभव करते हैं कि सत्य, अहिंसा, त्याग, श्रद्धा, करुणा, दया, प्रेम, सहानुभूति, भावुकता आदि मूल्य अपने मूल स्वरूप को खोते जा रहे हैं। विवेचित पौराणिक पात्रों का जीवन विशेष सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति जागरूक करने के साथ-साथ रूढ़ हो चुकी मान्यताओं, व्यवस्थाओं को तोड़ देने की चेतना भी देता है। आज स्त्री-विमर्श के युग में इन पात्रों का चरित्र विशेष अर्थवान हो उठा है।

संदर्भ

1. राजेंद्र यादव, उपन्यास स्वरूप और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ० 14
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ० 166
3. बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, 2013, पृ० 537
4. मृदुला सिन्हा, विजयिनी, भारतीय पुस्तक परिषद्, नई दिल्ली, 2015, पृ० 26
5. आशा प्रभात, मैं जनकनंदिनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
6. मृदुला सिन्हा, सीता पुनि बोली, विद्या विहार, नई दिल्ली, 2016
7. आशा प्रभात, मैं जनकनंदिनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ० 320
8. मृदुला सिन्हा, सीता पुनि बोली, विद्या विहार, नई दिल्ली, 2016, पृ० 190

9. भगवतीशरण मिश्र, मैं भीष्म बोल रहा हूँ, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2013, पृ० 137
10. चित्रा चतुर्वेदी 'कार्तिका', अंबा नहीं मैं भीष्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2009, पृ० 160
11. चित्रा चतुर्वेदी 'कार्तिका', अंबा नहीं मैं भीष्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2009, पृ० 160
12. नरेंद्र कोहली, कुंती, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ० 104-105
13. रामधारी सिंह 'दिनकर', रश्मि रथी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2016, पृ० 14
14. नताशा अरोड़ा, हिडिंबा, हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 2012, पृ० 185
15. नरेंद्र कोहली, हिडिंबा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ० 95
16. नरेंद्र कोहली, सैरंध्री, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
17. बच्चन सिंह, पांचाली, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001
18. नरेंद्र कोहली, सैरंध्री, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, फ्लैप से
19. विपिनकिशोर सिन्हा, कहो कौन्तेय, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 2005, पृ० 81
20. बच्चनसिंह, पांचाली, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001, पृ० 33

रचना

4166, अर्बन एस्टेट

फेज-2

पटियाला 147002

‘अंधायुग’ और ‘चक्रव्यूह’ में मानवीय अस्तित्व का सवाल

डॉ० वंदना सिंह

सहायक प्रवक्ता

मोरारजी देसाई राष्ट्रीय योग संस्थान, दिल्ली

अस्तित्ववाद के उद्भव और विकास का एक लंबा इतिहास है। इसके उद्भवकाल की परिस्थितियों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्थापित मूल्यों की चरम जड़ता को तोड़ने और बदलने की बेचैनी ने इस विचारधारा को जन्म दिया। इस विचारधारा में समय के साथ परिवर्तन होता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति ने यूरोपीय सामाजिक जीवन के भीतर कई परिवर्तन किए। एक तरफ जीवन के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ, वहीं समाज और परिवार के ढाँचे में भी परिवर्तन हुआ, परंपरागत सामाजिक संस्थाओं में विघटन होने लगा, व्यक्तिवाद को अधिक बढ़ावा मिला। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अधिकाधिक विकास के कारण पहले की अपेक्षा लोगों की आस्था धर्म और ईश्वर पर कम होने लगी थी। इसी काल में डेनिश विचारक सॉरेन कीर्केगार्द ने अस्तित्ववाद की आधारभूत प्रवृत्तियों की स्थापना की। कीर्केगार्द का मानना है कि सत्य मनुष्य के अंतरतम में मौजूद है और उस सत्य की खोज मनुष्य के अस्तित्व से जुड़ी हुई है। कीर्केगार्द अस्तित्वगत अनुभवों को मान्यता देते हैं। इस चिंतनधारा को कार्ल यास्पर्स, हाइडेगर, सार्त्र तथा कामू आदि महान चिंतकों और लेखकों ने व्यवस्थित रूप दिया और इसे दर्शन की कोटि तक ले गए। कीर्केगार्द ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे, लेकिन इस धारा के परवर्ती चिंतकों ने ईश्वर की सत्ता से इनकार कर दिया। कहा जा सकता है कि कीर्केगार्द की आस्तिकता समय-सापेक्ष ही थी। अस्तित्ववाद की नास्तिक विचारधारा से जुड़े नीत्शे द्वारा ईश्वर की मृत्यु की घोषणा के बाद भी आस्तिक धारा का चिंतन रुका नहीं। समय, स्थान और काल की एकता न होने के बावजूद अस्तित्ववादी विचारकों में वैचारिक संबद्धता है। यह एक-दूसरे के पूरक होने के अलावा स्वयं में संपूर्ण इकाई भी हैं। अस्तित्ववाद में अतीत और नियति को लेकर भी कई मान्यताएँ व्यक्त की गई हैं। अतीत को जानना बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि अतीत के बिना चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है। अतीत के ज्ञान से ही चेतना का निर्माण होता है। सार्त्र का मानना है कि देकार्त के कथन ‘मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ’ के स्थान पर ‘मैं सोचता हूँ अतः मैं था’ होना चाहिए, क्योंकि जब हम अस्तित्व ग्रहण करते हैं, उसके पूर्व हमारे अतीत का निर्माण हो चुका होता है। सार्त्र ने अपने से पहले के दार्शनिकों जैसे हीगल और कीर्केगार्द की मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया है और अस्तित्व को होने और न होने के दायरे में संकुचित नहीं किया है। अस्तित्ववादी चिंतन आस्तिकता और नास्तिकता दोनों प्रभावों के अधीन विकसित हुआ है। इन दोनों धाराओं में से आस्तिक धारा के चिंतक कीर्केगार्द, कार्ल यास्पर्स, मार्टिन बूवर, बर्दिएफ एवं

मार्सल हैं और फ्योडोर दास्तोएवस्की, ज्यां पॉल सार्त्र, फ्रेडरिक नीत्शे, मार्टिन हाइडेगर, काफ्का तथा आल्बेयर कामू अस्तित्ववाद की नास्तिक धारा से संबंध रखते हैं।²

अस्तित्ववादी विचारकों के संबंध में डॉ॰ रामविलास शर्मा कहते हैं—‘कीर्केगार्ड और यास्पर्स ईश्वर में विश्वास करते थे, हाइडेगर ने अपनी व्यवस्था में ईश्वर को जगह न दी थी। तीनों में सामान्य तत्त्व यह था कि वे वस्तुगत ज्ञान को अमान्य करते थे, केवल आत्मगत ज्ञान को स्वीकार करते थे। कीर्केगार्ड के बाद यास्पर्स और हाइडेगर अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक हुए। पराजित जर्मनी के बुद्धिजीवियों में इन्होंने अस्तित्ववाद को लोकप्रिय बनाया।’³ अस्तित्ववादियों में चिंतन की यह भिन्नता उनके समय की परिस्थितियों से भी प्रभावित है। साथ ही वैश्विक घटनाओं ने इसके प्रसार में योगदान दिया।

अस्तित्ववाद से जुड़े प्रमुख विद्वानों और चिंतकों ने मनुष्य के अस्तित्व, ईश्वरीय अस्तित्व, क्षणबोध और मृत्यु के विषय में अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं, परंतु इन सभी ने प्रमुख रूप से ‘अस्तित्व’ पर विचार किया है। मानवीय अस्तित्व और मानव की अस्तित्वगत इकाई इस दर्शन के केंद्र में है। मानव-अस्तित्व क्या है और इसे किस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है? यह प्रश्न सभी अस्तित्ववादी चिंतकों के विचार का केंद्र रहा, जिसका चरमोत्कर्ष सार्त्र के ‘बीइंग एंड नर्थिंगनेस’ ग्रंथ में है। मनुष्य की स्वतंत्रता की खोज और उसका प्रतिपादन सार्त्र के दर्शन का मुख्य अभीष्ट है तथा उनका चिंतन इसे समझने और परिभाषित करने की प्रक्रिया है। सार्त्र के अस्तित्ववाद के प्रमुख शब्दों में सत्ता, स्वतंत्रता, चयन, निर्णय, यातना या संत्रास, आकस्मिकता (कॉंटेजेंसी), सत्त्व (एसेंस), निरर्थकता (एबसर्डिटी), बैड फेथ (आत्मछल) तथा प्रामाणिकता (आथेंटिसिटी) हैं।⁴ सार्त्र ने मैं (परसोई) और अन्य (एनसोई) की परिकल्पना की है और उनकी ‘बीइंग’ की चेतना इसी पर आधारित है। डेनमार्क के कीर्केगार्ड एवं जर्मन दार्शनिक हाइडेगर ने अस्तित्ववाद को चिंतन के स्तर पर अभिव्यक्त किया। इनका मानना है कि सबसे पहला प्रश्न मनुष्य के अस्तित्व का है, बाकी सारे प्रश्न जैसे कि मानवता इत्यादि तो बाद में आते हैं। मनुष्य के अस्तित्व के सामने सबसे बड़ी चुनौती मृत्यु है, जिसको सहज रूप में लिया जाना चाहिए। हाइडेगर ने मृत्यु को प्रामाणिक जीवन-यापन का परिचय करानेवाला और जीवन में सक्रिय करनेवाला माना है।

हिंदी साहित्य में अस्तित्ववाद के प्रभाव की पड़ताल करने पर हिंदी नवलेखन पर अस्तित्ववादी चिंतन का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है, नई कविता, नई कहानी दोनों में ही इसके उदाहरण देखने को मिलते हैं। नई कविता में अस्तित्ववादी चिंतन नए कवि की संवेदना का अंग बनकर आया है। हालाँकि भारतीय चिंतन के क्षेत्र में भी जिजीविषा (क्रमशः जीने की इच्छा) और मुमुक्षा (मोक्ष की कामना) पर गंभीर विवेचन किया गया है। अधिकतर इसको दर्शन के रूप में पश्चिम में ही उभारा गया है, परंतु नए कवियों ने भी मानवीय अस्तित्व को बहुत महत्त्व दिया है। मनुष्य के अस्तित्व के विषय में कुँवरनारायण का कथन है—

एक अस्तित्व मिला अंधे को दो आँखें,
आँखों की सीमाएँ, अंधकार स्रष्टु हुआ
मर्म मिला
दर्दों में।⁵

जिस प्रकार अस्तित्ववाद के विचारकों में एक प्रकार का अंतर्विरोध दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार नई कविता और उसके कवियों में भी एक अंतर्विरोध दिखाई देता है। कुँवरनारायण में बाहर-भीतर का विभाजन है, जिसमें कवि सही-गलत के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। धर्मवीर भारती ने अपने 'अंधायुग' में चुनाव की स्वतंत्रता को नैतिकता-अनैतिकता की तुला पर तौलने का प्रयास किया है। 'अंधायुग' की एक पात्र गांधारी कहती है कि—

निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आए हैं सदा।
हम सबके मन में कहीं एक अंध गह्वर है।
बर्बर पशु अंधा पशु वास वहीं करता है,
स्वामी जो हमारे विवेक का,
नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण
यह सब अंधी प्रवृत्तियों की पोशाकें।⁶

इसी रचना में धृतराष्ट्र को वैयक्तिक सीमाओं के बाहर किसी प्रकार के सत्य के होने की जानकारी नहीं है, क्योंकि वह अंधा है, इसलिए उसकी चेतना स्वयं में ही आबद्ध रही है। इसी कारण उसकी चेतना का विकास नहीं हो सका। वह सुने हुए, पहले से ही बनाए गए मूल्यों का अनुसरण करता है, इसलिए वस्तुपरक और जड़ मूल्यों का प्रतिनिधि है। दूसरी तरफ गांधारी ने स्वयं ही अंधत्व को अपनाया है और जगत् से विच्छिन्न हो गई है। 'अंधायुग' के ये दोनों पात्र मानवीय अस्तित्व को एक नए सिरे से परिभाषित करते हैं। धृतराष्ट्र के पास चयन-हेतु कोई विकल्प नहीं है और गांधारी ने अपने अंधत्व का वरण स्वयं किया है।

लघु मानव और क्षणवाद, अस्तित्ववादी दर्शन से जुड़ी दो अन्य अवधारणाएँ हैं। लघुमानव किसी प्रकार का महामानव नहीं है, बल्कि लघुमानव का अर्थ है एक सामान्य मनुष्य, जो अपनी समस्त न्यूनताओं, कमजोरियों और इच्छाओं के साथ हमारे साथ मौजूद है। इसके प्रवक्ता लक्ष्मीकांत वर्मा हैं। इनका इस विषय में कहना है—'अस्तु जब हम मनुष्य को मनुष्य के रूप में ग्रहण करेंगे तो निश्चय हमारी दृष्टि में 'सुपरमैन' या 'अधिनायक' का रूप न आकर उस व्यक्ति का रूप आएगा, जो अपनी लघुता को लिए हुए अपने लघु परिवेश में सतत गतिशीलता के साथ अपनी दृष्टि और वाणी में आज भी अपने प्रति आस्था जीवित रखे है। 'ईश्वर, इतिहास और अभाव को जब तक संपूर्ण मानव समग्रता से संबंधित नहीं किया जाएगा, तब तक उसकी कमियाँ स्पष्ट नहीं होंगी। मानव समग्रता चोटी की स्थापनाओं से नहीं, वरन् बुनियादी स्थापनाओं द्वारा विकसित होती है और इन बुनियादी स्थापनाओं में लघुमानव का महत्त्व है।'⁷

अस्तित्ववाद जीवन और जगत् को उनमें मौजूद विसंगतियों के माध्यम से समझने का प्रयास करता है। नई कविता की बहुत सी रचनाओं में जीवन की विसंगतियों और निरर्थकता की ओर संकेत किया गया है। 'अंधायुग' और 'चक्रव्यूह' उस दौर की ऐसी ही दो रचनाएँ हैं। धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' में अश्वत्थामा को अपना जीवन व्यर्थ लगता है, वह उससे बहुत ऊब चुका है—

दुर्योधन सुनो
सुनो, द्रोण सुनो

मैं यह तुम्हारा अश्वत्थामा
 कायर अश्वत्थामा
 शेष हूँ अभी तक
 जैसे रोगी मुर्दे के
 मुख में शेष रहता है
 गंदा कफ
 बासी थूक
 शेष हूँ अभी तक।⁸

धर्मवीर भारती ने सार्त्र के अस्तित्ववाद का विश्लेषण किया है। उनका कथन है—‘मूल्यपरक दायित्व को स्वीकार न कर जो मूल्यहीन स्वतंत्रता पर ही आग्रह करते हैं, उनकी वैयक्तिकता कितनी बंजर और शून्य, कुहायुक्त, दिशाहीन भूल-भुलैया में भटक जाती है, इसका शायद सबसे रोचक उदाहरण ज्यों पाल सार्त्र और उसका नास्तिक अस्तित्ववाद है—‘उसने एक वक्तव्य में विचित्र तर्कों द्वारा अपने अस्तित्ववाद को मानववाद की ही शाखा सिद्ध करने का प्रयास किया है। ‘सार्त्र उन चिंतकों में से हैं, जो प्रभु को स्वीकार भी नहीं करते, पर उसे भूल भी नहीं पाते।’⁹ सार्त्र के विषय में उनका यह कथन उपयुक्त है। सार्त्र मानते हैं कि मनुष्य अस्तित्व में आने के बाद अपने कर्तव्य, भविष्य के विषय में निर्णय लेता है, दूसरे शब्दों में अस्तित्व में आने के बाद स्वयं को परिभाषित करता है, जिसमें किसी भी अलौकिक शक्ति का उसे सहयोग नहीं मिलता। इसी अर्थ में अस्तित्ववाद मानववाद है। सार्त्र के दर्शन के तर्कों में कई विरोधाभास देखने को मिलते हैं। बाहर से देखा गया मनुष्य एक खतरा है, पर अंदर से वह एक शून्य है, स्वत्वहीन है। इसलिए वस्तुतः ‘मैं’ कुछ भी नहीं होता।¹⁰ कुँवरनारायण ने भी ‘चक्रव्यूह’ में कुछ इसी तरह के स्वत्वहीन, भीतर से शून्य लोगों का वर्णन किया है—

पागल से, लुटे-लुटे,
 जीवन से छुटे-छुटे,
 ऊपर से सटे-सटे,
 अंदर से हटे-हटे,
 कुछ ऐसे भी ये दुनिया जानी जाती है।¹¹

कुँवरनारायण लघुमानव के विषय में कहते हैं—

चेतना का न्यून अंकुर
 मनुजता की सहज मर्यादा,
 उपजने दो खुली, संतुष्ट, रस जलवायु में,
 क्योंकि विकसित व्यक्ति ही वह देवता है
 इतर मानव किसे पूजता है।¹²

अर्थात् विशिष्ट क्षणों का भोग करने के बाद लघुमानव ही एक दिन महान बनेगा, पर इसके लिए उसका स्वतंत्र होना आवश्यक है—

आँक लेगा वह पनपकर
 विश्व का विस्तार अपनी अस्मिता में

सिर्फ उसकी बुद्धि को हर दासता से मुक्त रहने दो।¹³

अस्तित्ववाद में मनुष्य की स्वतंत्रता पर विस्तृत रूप में विचार किया गया है। अस्तित्ववादियों का मानना है कि मनुष्य स्वतंत्र है, पर उसकी स्वतंत्रता का अनुभव दूसरों की उपस्थिति में ही किया जा सकता है। सार्त्र ने कहा है कि मेरा (I) सोचना निरपेक्ष नहीं हो सकता, बल्कि यह दूसरों के अस्तित्व से टकराते हुए ही निर्मित होता है। मेरे और दूसरे के बीच का द्वंद ही मेरे व्यक्तित्व को परिभाषित करता है।¹⁴ अस्तित्ववादियों की मान्यता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थितियों के माध्यम से नियमित और नियंत्रित होती है। यह स्थितियाँ मनुष्य के जीवन को निर्धारित करती हैं, परंतु इन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता। संसार में जन्म लेने और उसके बाद के क्रियाकलापों में मानव की कोई भी इच्छा सम्मिलित नहीं होती। उसे बस इस धरती पर फेंक दिया गया है, जिसे पूर्वनिर्धारित नियति के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करना है। नए कवियों ने मनुष्य की नियति, उसके वरण की स्वतंत्रता इत्यादि विषयों पर विचार किया है और इस नियतिवाद और स्वतंत्रता को लेकर भी उनके अलग-अलग विचार हैं। कुँवरनारायण जीवन और मृत्यु की इस यात्रा के संदर्भ में लिखते हैं—

हम चलते रहे चलाए-से,
हम जाते रहे बुलाए-से
निभ गई मौत तक एक शर्त।¹⁵

सार्त्र नियति को पूर्वनिर्धारित नहीं मानते, जिनके मत का प्रभाव धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' में देखने को मिलता है—

जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटता है।¹⁶

क्षणबोध अस्तित्ववादी विचारकों के विचार का प्रमुख विषय रहा है। क्षण के महत्त्व के विषय में नई कविता में काफी कुछ लिखा गया है, परंतु इसके आधार पर नई कविता को क्षणवादी कहना अनुचित होगा। जीवन के प्रत्येक क्षण के विषय में कुँवरनारायण लिखते हैं—

कितना गहन हर एक क्षण
कितना कसा
जीवन बसा।¹⁷

अस्तित्ववादी विचारकों का मानना है कि आधुनिक मनुष्य के समक्ष स्वयं के अलावा किसी अलौकिक अथवा धार्मिक शक्ति का सहारा नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के नरसंहार और विध्वंस तथा वैज्ञानिकयुग की तार्किकता ने यह साबित कर दिया है कि मनुष्य ही अंततः मानवीय यथार्थ और उसके बाद पनपनेवाली बेचैनी और व्यथा का भोग करनेवाला है। नवलेखन युगीन साहित्य में अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों के दर्शन से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतंत्रता के आस-पास भारतीय समाज में जन्म लेनेवाली विसंगतियों और विषमताओं ने उन दिनों उभर रही नई प्रतिभाओं की संवेदना को बहुत प्रभावित किया। राजनीति से अत्यधिक प्रभावित प्रगतिवाद ने इन परिस्थितियों

के जो समाधान प्रस्तुत करने के प्रयास किए, वे उन्हें बहुत उपयोगी नहीं लग रहे थे। इस कारण एक ओर तो वह मानव अस्तित्व और सामाजिक संबंधों के विषय में नए सिरे से सोचने के लिए विवश हुए वहीं पश्चिम के चिंतन और विचार ने भी उन्हें प्रभावित किया। अस्तित्ववाद की पहले से निर्मित राह ने उन्हें अपनी तरफ आकर्षित किया। नई कविता की कृतियों 'अंधायुग' और 'चक्रव्यूह' में इन्हीं अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों, व्यक्ति स्वातंत्र्य की खोज, क्षणबोध, मानवीय अस्तित्व और मृत्यु, लघुमानव की प्रतिष्ठा पर विचार किया गया है।

संदर्भ

1. हनुमंतराय नीरव, (1990) अस्तित्ववादी स्वतंत्रता का प्रभामंडल और नयी कविता, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, पृ० 122 से उद्धृत।
2. Kierkegaard developed this problem in the context of his radical approach to Christian faith; Nietzsche did so in light of his thesis of the death of God. Subsequent existential thought reflects this difference: while some writers— such as Sartre and Beauvoir,— were resolutely atheist in outlook, others—such as Heidegger, Jaspers, Marcel, and Buber—variously explored the implications of the concept “authentic existence” for religious consciousness. <http://plato.stanford.edu//ntries//xistentialism/>
3. रामविलास शर्मा, नई कविता और अस्तित्ववाद, राजकमल प्रकाशन, पृ० 94
4. डॉ० विजयमोहन सिंह, सार्त्र : असंभव विकल्पों की तलाश, संवाद प्रकाशन, पृ० 171
5. कुँवरनारायण, चक्रव्यूह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ० 51
6. धर्मवीर भारती, अंधायुग, किताब महल, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ० 12
7. लक्ष्मीकांत वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, भारती प्रेस प्रकाशन, दरभंगा रोड, इलाहाबाद, पृ० 161
8. धर्मवीर भारती, अंधायुग, पृ० 25-26
9. धर्मवीर भारती, मानवमूल्य और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली, पृ० 89-90
10. डॉ० विजयमोहन सिंह, सार्त्र : असंभव विकल्पों की तलाश, पृ० 172
11. कुँवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० 120
12. वही, पृ० 127-128
13. डॉ० विजयमोहन सिंह, सार्त्र : असंभव विकल्पों की तलाश, पृ० 164
14. वही, पृ० 127-128
15. वही, पृ० 55
16. धर्मवीर भारती, अंधायुग, पृ० 75
17. कुँवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० 24

Vandana Singh
Room no. 318, Cenetary Hostel for Working Women,
YWCA of Delhi,
JaiSingh Marg, Hanuman Road Area,
Connaught Place, New Delhi-110001

21वीं सदी के कवि और उनकी कविता

मीनाक्षी (शोध छात्रा)

हिंदी विभाग

महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

21वीं सदी की कविता में चित्रित जीवन जिन तनावों, विसंगतियों एवं कुंठाओं के साथ जीवनयापन कर रहा है, वे पूर्णतः यथार्थ है। 21वीं सदी की कविता उस पुरानी घिसी-पिटी लकीरों पर चलने की बजाय अपना नया रास्ता चुनती है, नए तेवर अपनाती है, नवीनतम विषय-वस्तु को अपनाती है। बेकारी, बेरोजगारी, अत्याचार, व्यभिचार, दुराचार आदि तमाम विषयों को इस युग की कविता ने स्वीकार कर लिया है।

आज वैश्वीकरण के युग में आर्थिक और मानसिक रूप से पूरी तरह से हम गुलामी की ओर बढ़ते जा रहे हैं। अपनी संस्कृति को भूलकर अपनी पहचान को खोते जा रहे हैं। भौतिकवादी बनकर हम अपने बुनियादी एवं पुरातन मूल्यों को भूलते जा रहे हैं—

खूबसूरत घरों में नहीं रहते पीतल के लोटे,
काँस के कटोरे, मिट्टी के घड़े खील-पताशे।
वहाँ नहीं रहती गंगा जल की बोतल, गीता, रामायण,
राधा-कृष्ण-शिव के कैलेंडर।
खूबसूरत घरों में उगे रहते हैं, तमाम तरह के विदेशी फूल
खूबसूरत घरों में नहीं उगता तुलसी का पौधा।

वर्तमान समय अनेक चुनौतियों और संघर्षों का समय है। आज प्राकृतिक वातावरण अनेक कारणों से दूषित हो गया है। प्राकृतिक संपत्ति से खिलवाड़ औद्योगिकरण का बढ़ते जाना, जनसंख्या में बढ़ोतरी, गाँव का मिटना, शहरीकरण के कारण तेजी से कंक्रीट के जंगल बढ़ते जाना आदि इन योजनाओं के तहत पर्यावरण की असुरक्षा बढ़ना जंगलों का विनाश आदि अनेक कारण हैं, जिसने पर्यावरण को अनियंत्रित कर दिया है, जैसे—क्या तुमने कभी सुना है।

सपनों में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से पेड़ों की चीत्कार सुना है कभी रात के सन्नाटे में अँधेरे में मुँह ढाँप किस कदर नदियाँ रोती हैं?

हथौड़ों की चोट से टूटकर बिखरते पत्थरों की चीख...?
अगर नहीं तो क्षमा करना
मुझे तुम्हारे आदमी होने पर संदेह है।

21वीं सदी की कविता संवेदना के नए स्तर, सं० डॉ० शैलजा भारद्वाज, पृ० 106-107

आज भी नारी संघर्ष समाप्त नहीं हुआ है। वह अपने अस्तित्व की रक्षा करती है। आज की स्त्री अपने अधिकारों के प्रति उतनी ही जाग्रत भी है।

21वीं सदी के श्रेष्ठ कवियों चंद्रकांत देवताले, विनोदकुमार, विमलकुमार, कात्यायनी, राजेश जोशी, वीरेन डंगवाल, इब्बार रब्बी, विश्वनाथप्रसाद आदि प्रमुख कवियों को और उनकी रचनाओं की बात यहाँ करेंगे।

चंद्रकांत देवताले

चंद्रकांत अपनी कविता की सघन बुनावट और उसमें निहित राजनीतिक संवेदना के लिए जाने जाते थे। वे दुनिया का सबसे गरीब आदमी से लेकर बुद्ध के देश में बुश तक पर कविताएँ लिखते थे। देवताले वंचितों की महागाथा के कवि थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं में दलितों, वंचितों, आदिवासियों, शोषितों को जगह दी। उनकी कविताओं में न्यायपक्षधरता के साथ-साथ ग्लोबल वार्मिंग जैसी आधुनिक चुनौतियों पर भी विमर्श दिखता है। चंद्रकांत देवताले की कविता 'माँ पर नहीं लिख सकता' में उनकी संवेदना को देखा जा सकता है—माँ ने हर चीज के छिलके उतारे मेरे लिए देह, आत्मा, आग और पानी तक के छिलके उतारे और मुझे कभी भूखा नहीं सोने दिया। मैंने धरती पर कविता लिखी है। चंद्रमा को गिटार में बदला है, समुद्र को शेर की तरह आकाश के पिंजरे में खड़ा कर दिया।

सूरज पर कभी-भी कविता लिख दूँगा

माँ पर नहीं लिख सकता कविता।

चंद्रकांत देवताले ने अपनी कविता की कच्ची सामग्री मनुष्य के सुख-दुःख विशेषकर औरतों और बच्चों की दुनिया से इकट्ठी की थी। देवतालेजी के प्रमुख काव्य-संग्रह हैं, इतनी पत्थर रोशनी (2002), उजाड़ में संग्रहालय (2003), एक समय ऐसा जहाँ थोड़ा-सा सूर्योदय होगा (2008), पत्थर फेंक रहा हूँ (2011)।

विनोदकुमार शुक्ल

अपनी कविता की विरल अंतर्ध्वनियों में कवि-समाज में अलग से ही पहचाने जाते हैं, उनकी कविताएँ काव्य और शिल्प की बारीकी के लिए जानी जाती हैं। अपने संग्रह 'अतिरिक्त नहीं' में उन्होंने लिखा था, एक पेड़ में कितनी सारी पत्तियाँ हैं, अतिरिक्त एक पत्ती नहीं। जीवन के तमाम अधिभौतिक प्रश्नों को उन्होंने अपने परीक्षित कथन से आलंकृत किया है। जाते-जाते ही मिलेंगे जोग उधर के कविता बताती है कि केवल वाक्यों को सलीके से बरतकर वे उसे कितनी असाधारण कविता में बदल सकते हैं—जाते-जाते छूटता रहेगा पीछे/जाते-जाते बचा रहेगा, आगे/जाते-जाते कुछ भी नहीं बचेगा जब-तब सब-कुछ बचा रहेगा और कुछ भी नहीं में सब-कुछ होना बचा रहेगा। विनोदकुमार शुक्ल ने कविता की जो अपनी कलम तैयार की है, वह हिंदी के कवि-समाज में सबसे विरल है।

राजेश जोशी

वे अपने समय के लोकप्रिय कवियों में हैं, उनकी कविता में सब-कुछ है, जो एक पापुलिस्ट कविता में होना चाहिए। बच्चे काम पर जा रहे हैं से चर्चित राजेश जी का यह कहना मायने रखता है कि कविता हमारे समय की वह आखिरी आवाज जिसे बाजार और हिंसा अभी तक मलिन नहीं कर सकी है। राजेश जोशी की कविताएँ गहरे सामाजिक अभिप्राय वाली होती रहें। वे जीवन के संकट में भी गहरी आस्था को उभारती हैं। उनकी कविताओं में आत्मीयता और

लयात्मकता है तथा मनुष्यता को बचाए रखने का एक निरंतर संघर्ष भी। दुनिया के नष्ट होने का खतरा राजेश जोशी को जितना प्रबल दिखाई देता है, उतना ही वे जीवन की संभावनाओं की खोज के लिए बेचैन दिखाई देते हैं। राजेश जोशी के 'समर गाया' एक लंबी कविता के अतिरिक्त चार कविता संग्रह हैं। एक दिन बोलेंगे पेड़, मिट्टी का चेहरा, नेपटप में हँसी, दो पंक्तियों के बीच में।

कात्यायनी

कात्यायनी स्त्री-जीवन के अनेक प्रश्नों को उठानेवाली एकमात्र ऐसी कवयित्री हैं, जिन्हें केवल नारीवादी होने के नाते नहीं, कविता में स्त्री-स्वर की तीखी मुखरता और विचारधारा की पक्षधरता के लिए जाना जाता है। एक कविता-कार्यकर्ता का जीवन जीनेवाली कात्यायनी ने इस पौरुषपूर्ण समय में पहली बार कविता में स्त्री की उपस्थिति का सघन अहसास कराया था। बाद में 'फुटपाथ पर कुर्सी' और जादू नहीं कविता जैसे संग्रहों ने उनकी कविता पर लगातार उत्कृष्टता की मुहर दर्ज की। आखिर बात-बात पर पुरुषों को कटघरे में खड़ा करनेवाली कवयित्रियों में वे नहीं हैं।

कुमार विमल की कविताएँ मुक्ति के दस्तावेज हैं और एक दुर्लभ कवि की तरह उनकी लड़ाई जितनी बाहर से है, उतनी ही आत्मा से भी—

मुझे लड़ना है—

अपनी ही कविताओं के बिंबों के खिलाफ,

जिनके अँधेरे में मुझसे जिंदगी का उजाला छूट जाता है।

—एक छोटी-सी लड़ाई

यह लड़ाई आत्मा के विरुद्ध इतनी सरल नहीं होती, जितनी मालूम होती है। कविता के बिंब कुमार विकल जैसे प्रतिबद्ध कवियों में समाज-राजनीति से आते हैं।

21वीं सदी में चित्रित मानव-जीवन जिन तनावों, विसंगतियों एवं कुंठाओं के साथ जीवन-यापन कर रहा है, वे पूर्णतः यथार्थ हैं। 21वीं सदी की कविता उस पुरानी घिसी-पिटी लकीरों पर चलने के बजाय अपना नया रास्ता चुनती है। नए तेवर अपनाती है, नवीनतम विषयवस्तुओं को अपनाती है। बेकारी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, अत्याचार, व्यभिचार, अनाचार, दुराचार आदि तमाम विषयों को इस युग की कविता ने स्वीकार किया है। इक्कीसवीं सदी के संदर्भ में प्रभाकर श्रोत्रिय अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं—'अपनी शती की ओर हम कई संभावनाओं, आशाओं और प्रश्नों से देख रहे हैं। ये प्रश्न विज्ञान, विचार, अर्थशास्त्र, जाति, धर्म, पर्यावरण, सूचना प्रौद्योगिकी, कला, संस्कृति, हमारी मिट्टी, हमारी जनता से जुड़े हैं और ये सभी चीजें साहित्य से जुड़ी हैं, क्योंकि इन्हीं सब तत्त्वों और उपादानों से साहित्य अपना कथ्य और प्राण ग्रहण करता है।

21वीं सदी की कविताओं ने अपनी कविताओं में यथार्थ को पूर्ण अभिव्यक्ति दी है। 21वीं सदी में बढ़ती हुई महँगाई, बेकारी, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, अत्याचार, दुराचार आदि को उजागर गया है—

कहाँ तो तय था चिरागाँ हर एक घर के लिए

कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।

—साये में धूप, दुष्यंतकुमार

गजब है सच को सच कहते नहीं वो
कुरान-ओ उपनिषद, खोले हुए हैं।

—साये में धूप, दुष्यंतकुमार

संदर्भ

1. डॉ० राधा वर्मा, समकालीन हिंदी कविता के बदलते सरोकार, पृ० 25
2. राजेश जोशी, बच्चे काम पर जा रहे हैं
3. वागर्थ पत्रिका, दिसंबर, 2009, पृ० 70
4. दुष्यंतकुमार, साये में धूप
5. दुष्यंतकुमार, साये में धूप

पत्नी श्री राजेश कुंडु
मं० 65/13, हनुमान कॉलोनी
सुखपुरा चौक, रोहतक (हरियाणा) 124001
मो० 8708459491

भारत में भाषाशिक्षण : एक विचार

डॉ० कमल हरनाल

हिंदी विभाग

माउंट कारमेल डिग्री कालेज

बैंगलौर (कर्नाटक)

शिक्षा क्या है?

मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है, यह शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में मनुष्य की अंतर्निहित शक्तियों को प्रकट कर उसे मनुष्यत्व की ओर अग्रसर करती है। विश्व में घटित होनेवाली प्रत्येक घटना का प्रत्यक्ष संबंध मानव-जीवन से है, इन्हीं घटनाओं के परिणामस्वरूप उसके सामाजिक जीवन में परिवर्तन आता है। यह प्रक्रिया आजीवन चलती है और विभिन्न सामाजिक परिवर्तन इसके स्वरूप को परिवर्तित करते हैं।

ज्ञान चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक, मनुष्य के मन में निहित रहता है। अंतर्मन में छिपे इस ज्ञान का आवरण उम्र, समय और अनुभव के साथ हटता जाता है और ज्ञान की अभिवृद्धि होती रहती है। सदैव से मनुष्य-मन में निहित इस ज्ञान के आवरण को हटाने के लिए बाह्य गुरु द्वारा मार्ग दिखाने की आवश्यकता अवश्य होती है। अतः प्रकृति के कण-कण में व्याप्त इस शिक्षा को खोजकर, अनुभव कर एवं सही मार्गदर्शन द्वारा ही आत्मसात किया जा सकता है। चूँकि शिक्षा का उद्देश्य अंतर्मन में छिपे सर्वोत्तम को प्रकट करना है, उसके उदात्त रूप को सामने लाना है तो इस प्रक्रिया में शिक्षार्थी का सर्वांगीण विकास स्वयं सिद्ध हो जाता है।

भाषा की अनिवार्यता क्यों?

जसपर्सन के अनुसार 'भाषा मानव-मस्तिष्क और हृदय की चेरी बनती हुई ध्वनि रूप में या लिखित रूप में उसकी भावनाओं की अभिव्यक्ति है।' कोई भी शिक्षार्थी भाषा का दामन थामे बिना शिक्षा हासिल नहीं कर सकता। मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास में भाषा का इतना बड़ा हाथ है कि भाषा की कहानी को सभ्यता की कहानी कहना कतई गलत न होगा। यही एक ऐसा साधन है, जिसे हासिल कर मनुष्य पशु से श्रेयस्कर कहलाता है।

भाषा की औपचारिक एवं व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त किए व्यक्ति भिन्न-भिन्न विषयों से संबंधित अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर सकते हैं, वक्ता या लेखक के गूढ़ भावों को ग्रहण कर सकते हैं। सूक्ष्म और गहन विचारों की अभिव्यक्ति आसानी से कर सकते हैं। भाषा-शिक्षण द्वारा ही व्यक्ति स्वभाषा के उच्चस्तरीय साहित्य का रसास्वादन कर सकता है और उच्च साहित्य का सृजन भी। उपयोगी साहित्य का अच्छा ज्ञान भी भाषा द्वारा ही संभव है। बढ़ती प्रतिस्पर्धा के इस युग में यदि इतिहास, भूगोल, गणित, रसायन व ललित कलाओं का ज्ञान पाना

आवश्यक है तो साथ ही भाषा/भाषाओं का ज्ञान हासिल करना मनुष्य के लिए अति आवश्यक है। भाषा ही तो सर्वप्रथम अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है एवं ज्ञान-विज्ञान के विषयों की आधारशिला भाषा ही है। जब भाषा की मृत्यु होती है तो निश्चय ही भावी पीढ़ियाँ अपनी संस्कृति के एक बहुत महत्वपूर्ण भाग से वंचित रह जाती हैं, जिसका ज्ञान विकास एवं उन्नति में अति सहायक होता है। अतः भाषा का महत्त्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

भाषा-शिक्षण और हिंदी

भाषा पर विचार हो और हिंदी की चर्चा न हो, यह कैसे संभव है। भारतवर्ष में भले ही अनेक भाषाएँ बोली जाती हों, परंतु जब बात आती है राष्ट्र की एकता और अखंडता की तो वह तो केवल एक ऐसी भाषा पर निर्भर है, जो हमारे पूर्वजों एवं गुरुओं की धरोहर है, सांस्कृतिक विरासत के रूप में हमें प्राप्त है। इसमें कोई दो राय नहीं कि भारत में अनेक प्रादेशिक भाषाएँ बोली जाती हैं, लेकिन शिक्षा का माध्यम इन प्रादेशिक भाषाओं को बनाने की सोचें तो प्रत्येक प्रदेश की 'अपनी ढफली अपना राग' हो जाएगा। हर राष्ट्र को भावनात्मक एकता के सूत्र में पिरोनेवाली और जन-जन तक पहुँचनेवाली केवल एक राष्ट्रभाषा ही होती है। साथ ही हिंदीभाषा का प्रादेशिक भाषाओं से न तो कोई वैर है न विरोध, अपितु वे तो राष्ट्रभाषा हिंदी की सहचरियाँ हैं। हिंदीभाषा माँ है तो प्रादेशिक भाषाएँ उसकी बेटियाँ, भला कौन माँ अपनी बेटियों को फलता-फूलता देखकर प्रसन्न न होगी?

यदि आँकड़ों पर नजर डालें तो संपूर्ण विश्व में आज 80 करोड़ से अधिक जनसंख्या में हिंदीभाषी हैं और भारत में 41% लोग हिंदीभाषी हैं साथ ही भारत की 90 प्रतिशत जनसंख्या हिंदी भाषा को जानती व समझती है। पिछले 8-10 वर्षों में हिंदी की माँग 50 प्रतिशत बढ़ गई है।

करोड़ों की संख्या में भारत आनेवाले पर्यटकों को उनकी हिंदीभाषा समझने-बोलने की क्षमता व रुचि ही तो भारतीय इतिहास-दर्शन व संस्कृति से जोड़ती है। यही नहीं, प्रवासी भारतीय भी जो किसी-न-किसी कारणवश भारत से दूर बसे हुए हैं, अपने बच्चों को भारतीय संस्कृति व रीति-रिवाजों से जोड़े रखना चाहते हैं।

भारतीय कंपनियों के साथ व्यापार एवं वाणिज्य करने में भी हमारी हिंदीभाषा बहुत हद तक सहायक है। सांस्कृतिक एवं साहित्यिक भाषा होने के साथ-साथ हिंदी आज बैंकिंग, वाणिज्य, विज्ञान, तकनीक, व प्रौद्योगिकी की भाषा बन चुकी है।

भूमंडलीकरण ने विश्वव्यापार संगठन के इस युग में कई नए अध्याय खोल दिए हैं। बहुदेशीय कंपनियाँ भी अपने प्रचार व प्रसार के लिए हिंदीभाषा व संस्कृति की परख रखनेवालों को खोजती हैं। उनके उत्पादों की बिक्री के लिए भारत एक विशाल बाजार/मार्केट है और आकर्षण का मुख्य केंद्र भी।

आज प्रख्यात मीडिया और विज्ञापनों की भाषा भी हिंदी है, साथ ही हिंदीभाषायी विज्ञापनों की माँग निरंतर बढ़ती जा रही है। कंप्यूटरीकरण और भूमंडलीकरण ने हिंदी की प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। न केवल भारत में, अपितु भारतीय उपखंडों में भी हिंदीभाषा समझी व बोली जाती है। हिंदीभाषी जन आज जर्मनी, फीजी, मॉरिशस, युगांडा, यमन, नेपाल, न्यूजीलैंड, सिंगापुर, दक्षिण अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया एवं यूनाइटेड स्टेट्स के अन्यान्य देशों में रहते हैं। साहित्य व संस्कृति की दृष्टि से देखें तो विदेशी विश्वविद्यालयों में भी हिंदी का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, प्रगति

की नित नई राहें खुल रही हैं।

भारतवर्ष में हिंदी समाचारपत्रों की आज लगभग 80 लाख प्रतियाँ रोज निकलती हैं, जिनमें दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर, अमर उजाला, नवभारत टाइम्स, हिंदुस्तान दैनिक, राजस्थान पत्रिका, नई दुनिया आदि सर्वाधिक प्रचलित हैं। नई दुनिया तो प्रथम हिंदी समाचारपत्र है, जो इंटरनेट पर उपलब्ध है।

‘आज तक’, ‘ABP न्यूज’, ‘Zee न्यूज’ और ‘NDTV इंडिया’ तो आज हिंदी के विश्वविख्यात चैनल हैं। इसके अतिरिक्त ‘web duniya.com’ आज बहुत ही प्रख्यात ‘हिंदी न्यूज वेबसाइट’ बनती जा रही है।

विडंबना यह है कि हमारी राष्ट्रभाषा जो आज विश्वस्तर पर प्रसार लिए हुए है और निरंतर प्रगति के पथ पर अग्रसर है, उसे अपनाने से कुछ लोग आज भी कतराते हैं, ऐसा क्यों? निजभाषा के प्रति ऐसी उदासीनता की प्रवृत्ति क्यों?

भाषा-शिक्षण में भाषाविज्ञान का योगदान

भाषा कोई भी हो, उसे सही ढंग से सीखने, सिखाने व समझने में भाषाविज्ञान एक अहम भूमिका निभाता है। भाषा की संपूर्ण जानकारी के लिए भाषाविज्ञान की व उसके अंगों की अच्छी जानकारी होना शिक्षार्थी के लिए परमावश्यक है।

भाषाविज्ञान से तात्पर्य है—भाषा का विशिष्ट ज्ञान, भाषाविज्ञान के लिए अंग्रेजी में ‘philology’ और ‘linguistic’ शब्द प्रचलित हैं। ‘Philology’ जिसमें लिखित भाषा का अध्ययन होता है। शिक्षार्थी को भाषा के लिखित व मौखिक दोनों रूपों में पारंगत होने के लिए भाषाविज्ञान का अध्ययन बहुत आवश्यक है, क्योंकि भाषाविज्ञान ऐसा विशिष्ट ज्ञान है, जिसमें भाषा एवं भाषाओं का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। किसी भी भाषा की सही समझ के लिए उसके अंगों के बारे में जानना शिक्षार्थी के लिए आवश्यक है। भाषा के चार प्रमुख अंग माने गए हैं—ध्वनि, पद, वाक्य एवं अर्थ। इन चारों अंगों के योग से भाषा बनती है। भाषा के इन चार प्रमुख अंगों के आधार पर भाषाविज्ञान की चार शाखाएँ उठरती हैं—(क) ध्वनिविज्ञान (Phonology), (ख) रूपविज्ञान (morphology), (ग) वाक्यविज्ञान (syntax) और (घ) अर्थविज्ञान (semantics)। इन चारों अंगों पर भाषा का पूर्ण कार्य-व्यापार निर्भर है। भाषाविज्ञान किसी भी भाषा के अध्ययन का मूलाधार होता है। इसी के अंतर्गत लिखित, अलिखित, साहित्यिक, प्रचलित, स्वदेशी, विदेशी, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय, विकसित एवं अविकसित सभी प्रकार की भाषाओं का अध्ययन किया जाता है। भाषाविज्ञान ही वास्तव में यह जानकारी देता है कि भाषाओं की कौन-कौनसी ध्वनियाँ हैं, कौनसी ध्वनियाँ प्राचीन हैं और कौनसी आगत ध्वनियाँ हैं। ‘ष’ ध्वनि कहीं ‘श’ और कहीं ‘ख’ की तरह बोली जाती है, जिससे ‘वर्षा’ शब्द कहीं ‘बरखा’ हो जाता है। ‘वृक्ष’ ‘बिरछ’ और कहीं ‘रुख’ हो जाता है।

ध्वनियों से शब्दों का निर्माण होता है और शब्दों का विकास किस प्रकार होता है। शब्द किस प्रकार तद्भव रूप ग्रहण करते हैं, एक शब्द किस प्रकार दूसरी भाषा में आकर अपना आकार बदल लेता है। स्थान-भेद से क्यों और कैसे शब्द परिवर्तित होते हैं। ‘हिंस्र’ शब्द परिवर्तित होकर कैसे ‘सिंह’ बन गया और ‘भद्र’ शब्द कैसे ‘भहा और भला’ दो पृथक् अर्थों में प्रयुक्त होने लगा, इन सभी परिवर्तनों का सही ज्ञान भाषाविज्ञान द्वारा ही संभव हो सका है।

शब्द किसी-न-किसी अर्थ का द्योतक होता है और पीढ़ी-परिवर्तन के साथ-साथ शब्दों के अर्थ भी परिवर्तित होते रहते हैं, कभी इन अर्थों का विस्तार हो जाता है तो कभी संकोच। कहीं अर्थोत्कर्ष (expansion of meaning) हो जाता है और कहीं अर्थोपकर्ष (contraction of meaning) और कभी-कभी तो अर्थादेश (transference of meaning) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

भाषाविज्ञान द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि किस प्रकार 'रसोइया' शब्द का वाचक 'महाराज' शब्द समय के साथ 'साहस व हिम्मत' का बोधक होकर उत्कर्ष की ओर बढ़ गया और 'बास' शब्द जो अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की गंध का द्योतक था, आज केवल 'दुर्गंध' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

'असुर' शब्द जो 'देवता-विशेष' के लिए प्रयुक्त था, पूर्णतः लुप्त होकर 'राक्षस' या 'दैत्य' का वाचक बन गया। 'जुगुप्सा' जिसका मूल अर्थ 'छिपाने की इच्छा' था, परिवर्तित होकर 'घृणा' के लिए प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार अमूर्त अर्थ के द्योतक 'शयन', 'भवन', और 'वसन' शब्द अब 'बिछौना', 'घर' और 'कपड़ा' आदि मूर्त अर्थों के वाचक बन गए हैं।

इस प्रकार भाषा के शब्दों, अर्थों और रूप-परिवर्तनों के कारण-पीढ़ि, परिवेश, भावावेश, लाक्षणिकता, नम्रता, प्रदर्शन, सुश्राव्यता, अज्ञानता, भ्रांति, वैयक्तिक धारणा आदि हैं, अनेक कारणों से समय व स्थान के साथ भाषा में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं, जिसको केवल भाषाविज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है।

इतना ही नहीं, भाषाविज्ञान भाषाओं के साथ-साथ साहित्य के अध्ययन में भी अति सहायक होता है।

भाषाविज्ञान ही यह बोध कराता है कि किस प्रकार एक बोली धीरे-धीरे विभाषा, लोकभाषा बनकर साहित्य-रचना में प्रयुक्त होती है और धीरे-धीरे परिनिष्ठित भाषा बनकर उच्चस्तरीय साहित्य के निर्माण का कार्य करती है। भाषाभाषियों के मूल उद्गम और स्रोत का पता लगाते हुए भाषाभाषियों के रहन-सहन और धार्मिक आस्था आदि का बोध भी भाषाविज्ञान द्वारा ही संभव है।

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के उद्भव और विकास की कहानी एवं कौनसी संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति है, कौनसी सभ्यता संसार में कब विकसित हुई, इन सबका ज्ञान भाषाविज्ञान द्वारा ही संभव है। साथ ही अन्य भाषाभाषियों के साथ निकट संपर्क स्थापित करने में भाषाविज्ञान बहुत सहायक होता है, क्योंकि इसी के कारण संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, जर्मन आदि भाषाओं में समानता पाकर एक यूरोपीय परिवार की स्थापना की गई है और भारत से लेकर यूरोप तक आत्मीय संबंधों की स्थापना संभव हो सकी है। जब भाषा हमारे जीवन, जगत्, ज्ञान-विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में अपना अधिकार रखती है तब भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करनेवाले भाषाविज्ञान का संबंध ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं एवं शास्त्रों (व्याकरण, साहित्य, इतिहास, मनोविज्ञान, दर्शन, भूगोल, समाजशास्त्र, शरीरविज्ञान आदि) से होना स्वाभाविक है।

निष्कर्षतः, भाषाविज्ञान हमारी वाणी का विज्ञान है और वाणी का संबंध भाषा से है, हमारे जीवन और रोजमर्रा के कार्यों से है। भाषाविज्ञान का अध्ययन शिक्षार्थी को न केवल शब्दों, वाक्यों, शब्दार्थों आदि का सही ज्ञान उपलब्ध कराता है, अपितु उसकी भाषागत जिज्ञासा को शांत कर भाषा की जीवनी-शक्ति का बोध कराता है, जिससे उसका दृष्टिकोण उन्नत होता है। अतः

विदित है कि भाषा-शिक्षण में भाषाविज्ञान बहुत अहम भूमिका निभाता है।

भाषा की महत्ता

मनुष्य मननशील प्राणी है और चिंतन व मनन भाषा के बिना संभव ही नहीं है। भाषा विचारों का तारतम्य बनाती है, जाग्रतावस्था हो या सुप्तावस्था, विचार तो अंतर्मन में बनते रहते हैं और उन्हें वाणी देती है—भाषा। भाषा और सामाजिक व्यवस्था का अति घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि दादा, नाना, चाचा, पिता, माता, भाई-बहन आदि संबंध भाषा द्वारा ही निभाए जाते हैं। भाषा ही विभिन्न युगों के साहित्य और इतिहास को सँजोकर रखती है। प्रत्येक युग की कुरीतियों, परिस्थितियों, और प्रवृत्तियों का ज्ञान भाषा ही कराती है। भाषा न होती तो मनुष्य जुबान पाकर भी गूँगा ही रहता।

जीवन के उल्लासपूर्ण व शोकग्रस्त क्षणों की अभिव्यक्ति जितनी गहनता से स्वभाषा में हो सकती है अन्य किसी भाषा में नहीं।

शिक्षार्थी के मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिए विचारशक्ति और अभिव्यक्ति-कला का विकसित होना अत्यंत आवश्यक है। यहाँ मातृभाषा सहजता से बाजी मार ले जाती है, क्योंकि जितना सशक्त वर्णन स्वभाषा में होता है अन्यथा नहीं। संस्कृति के संरक्षण, प्रचार व विकास का एकमात्र साधन भाषा ही है।

‘मातृभाषा बच्चों को अपने पूर्वजों के विचारों, भावों और महत्वाकांक्षाओं की समृद्ध थाती से परिचित कराने का सर्वोत्तम साधन है।’—जाकिर हुसैन कमेटी

हिंदी आज सभी सोपानों को पार करते हुए विश्वभाषा बनने की ओर अग्रसर है। आज जब दुनियाभर में भारत, भारतीयता और भारत की अमूल्य खोज-योग-साधना आदि के प्रति विश्व की जिज्ञासा व रुचि बढ़ती जा रही है, हिंदीभाषा के प्रति भी रुझान बढ़ता जा रहा है।

आज भारत की नई सरकार द्वारा चलाए जा रहे ‘Make in India’ अभियान के कारण भारत उद्योग व उत्पादन के एक नए स्रोत के रूप में उभर रहा है। इसी के चलते लोग हिंदीभाषा को सीखने व समझने में रुचि दिखा रहे हैं। आज भारतवर्ष विश्वभर में प्रत्येक क्षेत्र में अपना लोहा मनवा रहा है, इसी कारण भारतीय नागरिकों में भी अपनी संस्कृति व भाषा को लेकर एक नवीन उत्साह पैदा हो रहा है। यह उत्साह युवाओं को अपने साहित्य व भाषा के प्रति एक नए नजरिए से देखने के लिए प्रेरित कर रहा है।

आज संपूर्ण विश्व एक छोटे से ‘ग्राम’ में परिवर्तित हो गया है। यातायात के आधुनिक साधनों (supersonic), इंटरनेट, स्मार्टफोन आदि आधुनिक सुविधाएँ प्रदान करनेवाले उपकरणों ने विश्व को एक ‘ग्लोबल-विलेज’ बना दिया है। इसी कारण आज हमारी हिंदीभाषा नया मोड़ ले रही है, जिसका महत्त्व अक्षुण्ण है।

संदर्भ

1. डॉ॰ द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, भाषाविज्ञान और उसके सिद्धांत, पृ॰ 62, 85
2. नरेश मिश्र, भाषाविज्ञान और हिंदी, पृ॰ 24, 48

A4-006, Netravati Block, NGV
Koramangla, Bangalore 560047
M. 9448432035, 7986418258

व्यंग्य-विधा में सामाजिक चेतना

डॉ० अशोककुमार

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

हिंदी साहित्य की अन्यानेक विधाओं में समाहित होने के बावजूद व्यंग्य-लेखन एक सशक्त विधा के रूप में अपनी अलग पहचान बना रहा है। कहन और लेखन की रवानगी में रचनाधर्मिता की सशक्त अनुपालना इस विधा में बड़ी ईमानदारी से की जा रही है। वर्तमान में अनेक साहित्यकार समाज की असंगतियों को एक खास भाषा-शैली द्वारा समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। उनकी यह भाषा जीवन की तमाम विद्रूपताओं, अवसाद, उत्पीड़न व समस्याओं को साहित्य का रूप प्रदान कर व्यावहारिक जीवन में उनसे निबटने के लिए मनुष्य-मस्तिष्क को जागरूक करने का कार्य करती है। व्यंग्यकार अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति द्वारा मानव-हृदय को झकझोरते हैं तथा प्रत्येक वेदना-पीड़ित व्यक्ति की मौन-व्यथा को वाणी प्रदान करते हैं। जब साहित्यकार इस प्रकार की अभिव्यक्ति करता है, तो वह समाज में चिंतनशीलता को विकसित करता है, जिससे सामाजिक जागृति होती है। यही कारण रहा है कि साहित्य-समाज में समय-समय पर उच्चकोटि के व्यंग्यकार होते रहे हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी को व्यंग्य का स्वरूप प्रदान कर सामाजिक चेतना का कार्य किया।¹

सामाजिक चेतना एक सतत और सशक्त जागरूकता की प्रवृत्ति है। जीवन-जन में उलझे मानव-मन को सार्थक कार्यों में प्रवृत्त रखने का माध्यम है। सामाजिक चेतना के बारे में रत्नाकर पांडेय ने कहा है—‘समाज की अधोगति तथा पतनावस्था की नाना प्रतिकूल परिस्थितियों में जो प्रतिभा शक्ति आकर्षक दीप्ति बनकर चमक उठे और जिसके प्रभाव से समस्त समाज में नवजागरण की लहर दौड़ जाए, उसी को सामाजिक चेतना का अग्रदूत समझना चाहिए। मानव-मात्र के मन में चैतन्य का अस्तित्व विद्यमान रहता है, परंतु रूढ़ि, अज्ञानता और अभावों के परिणामस्वरूप यह मृतप्राय या कुंठित हो जाती है, इस दुष्प्रभाव अथवा कुंठा से मुक्ति का स्वरूप ही सामाजिक चेतना है।’

वास्तव में देखा जाए तो समाज में वैषम्य अनेक आधारों पर दिखाई देता है। यह विषमता आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में फैली हुई है। लेखक समाज का ही अंग होता है, इसलिए हानि-लाभ, सही-गलत का प्रभाव उस पर पड़ता है। इस दृष्टि से साहित्यकार जब इन विषमताओं से साक्ष्य करता है तो सामाजिक चेतना उसकी लेखनी में उभरकर आती है। व्यंग्यकार अन्य विधाओं के रचनाकार की अपेक्षा अपने परिवेश, समय और समाज के प्रति अधिक चौकस रहता है। चौकस इसलिए कि भाषा की शालीनता भी बनाए रखनी है और पाठक की उत्सुकता

और जिज्ञासु प्रवृत्ति को भी जिंदा रखना है। यहाँ जितनी सजगता विषय-चयन को लेकर जरूरी मानी जाती है, विषय-प्रस्तुति उससे कहीं अधिक श्रम की माँग करती है।

सही अर्थों में देखा जाए तो आज का समाज एड़ी से शुरू होकर चोटी तक की स्थिति तक विखंडन की प्रक्रिया से दो-चार हो रहा है। भारतीय समाज का मूलाधार परिवार है। हकीकत तो ये है कि परिवार की वर्तमान स्थिति विशाल वृक्ष की एक शाखा जैसी भी नहीं रह गई है। हम देखते हैं कि परिवार में संयुक्त पद्धति पर गहरा प्रभाव पड़ा है, जिससे परिवार में सामाजिक परंपरा की रवायत टूट रही है। परिवार के नाम पर अब पति-पत्नी व अपने बच्चों को ही इसका आधार बना लिया जाता है। यहाँ तक कि जब सास-श्वसुर को साथ रहना पड़ता है, तो बहू की साँसें फूलने लग जाती हैं। उन्हें वे बोझ से प्रतीत होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक परिवेश में परिवार की दशा-दिशा को स्पष्ट करना व्यंग्यकारों का बड़ा कर्तव्य बन जाता है।

समाज में जहाँ संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं, वहीं आपसी रिश्तों में भी स्वार्थ की प्रवृत्ति पनपती नजर आती है। इसी स्वार्थ के कारण आज सभी प्रकार के रिश्तों में टकराहट देखी जा सकती है। डॉ० हरीश नवल की यह चिंता द्रष्टव्य है जहाँ परिवार टूटते और रिश्ते आखिरी साँस लेते नजर आते हैं 'फार्मल नमस्कार-नमस्कार के बाद पहला काम तो यह किया कि सास को अपने बिछौने से हटाकर पीछे कोठरी में उसकी उमर से मेल खाती हुई चारपाई-सी वस्तु पर हस्तांतरित कर दिया और फिर बशेशरनाथ पर चढ़ बैठी। क्यूँ जी, एक तुम्हीं लाडले श्रवणकुमार थे। डोली में बैठाकर बुढ़िया को सराय रोहिल्ला तीर्थ पर लाकर पुण्य कमा रहे हो? बाकी दोनों सौतेले थे, जो मेरी जान को ही आफत लानी थी...आदि...अदि।'² एकांत जीवन की उद्यम लालसा में युवा इतना आगे बढ़ जाएगा कि माता-पिता को कुछ नहीं समझेगा, ऐसा इस परिवेश में कभी सोचा भी नहीं गया था। परिणामतः ओल्ड एज होम के अचानक बढ़ जाने का कारण यही है।

वृद्ध माँ-बाप, जो संतान की नैतिक जिम्मेदारी होते हैं, उन्हें ही बोझ समझ लिया जाता है। उन्हें बड़-से-बदतर जीवन जीने को मजबूर होना पड़ता है। सास-बहू की कटुता के कारण माँ-बेटे के प्यार को भी कटुता के स्वार्थ में भी परिवर्तित होते देखा जा सकता है। समाज में ऐसे प्रसंग प्रत्येक नागरिक के चिंतन पर प्रश्न उठाते हैं कि कौन जिम्मेवार है इन परिस्थितियों का? बुढ़िया विक्रमांक और सराय रोहिल्ला' में बेटे की कटुता समाज को झकझोरनेवाली है—मैं तो जानबूझ यहाँ लाया हूँ ताकि लोग देखें बहू थी, लेकिन वक्त में बशेशर की घरवाली ही काम आई। सबसे छोटी बहू थी, लेकिन सास का ख्याल उसी को सबसे ज्यादा था, फिर माँ कौनसा तंग करेंगी, पड़ी रहेंगी। कोठरी में खा-पी ज्यादा सकती नहीं हैं। राशनकार्ड में उनका नाम बढ़वा लेंगे और राशन ब्लैक कर देंगे, क्यों?'³ रिश्तों की कड़वाहट इतनी बढ़ जाती है कि मानवीय संवेदना तक समाप्त हो जाती है। समाज में माता-पिता सबसे अधिक सम्मानीय होने चाहिए, वे ही उपेक्षा का शिकार क्यों हो जाते हैं? क्यों उनके प्रति हमारी सहानुभूति नहीं रहती?

व्यंग्यकारों ने सामाजिक विसंगतियों के ऐसे मुद्दे उठाए हैं, जो वास्तव में व्यक्ति की चिंतनशीलता को प्रेरित करते हैं। मानवीय संवेदना को प्रकट करना तो प्रत्येक साहित्यकार का कार्य होता है, जबकि एक व्यंग्यकार का कार्य यह है कि वह समाज को उस स्तर तक सोचने के लिए मजबूर कर दे कि लोग उसमें परिवर्तन के स्तर पर कार्य करने लगे। समाज की दीनहीन दशा भी सामाजिक चेतना को सक्रिय करती है। वह लेखक को बार-बार प्रश्न उठाने के लिए मजबूर

करती है, क्यों मानव-मानव के प्रति इतना क्रूर हो जाता है कि वह उसे पशुओं जैसा जीवन जीने के लिए मजबूर कर देता है। ज्ञान चतुर्वेदी ने 'सूअर के बच्चे और आदमी' के माध्यम से मानवीय जीवन की त्रासदी व्यक्त की है, वहीं उसके लिए सोचने पर मजबूर किया है—'आदमी के तीन बच्चे कचरे में से बीन बीनकर कुछ खा रहे हैं। यह क्या मजाक हो रहा है सूअरों के साथ? यदि आदमी ही कचरा खाने लगेगा, तो हम सूअरों का क्या होगा? आदमी कबसे सूअर हो गया? आदमी को यह क्या हो गया है—वह अधिकारों के लिए न लड़कर हम सूअरों के अधिकारों पर अतिक्रमण कर रहा है।'¹⁴ सच तो ये है कि आर्थिक असमानता की लगातार वृद्धि ने जहाँ एक तरफ कुछ लोगों को सुख-साधन से परिपूर्ण जीवन-यापन का साधन मुहैया कराया है, वहीं बहुतों को पशुवत् जीवन जीने के लिए विवश भी किया है।

समाज में कुछ लोग अधिक धनी हैं, तो कुछ इस हालात में क्यों हैं कि वे अपनी जीविका के साधन भी नहीं जुटा पाते? समाज की विषमता का मूल बढ़ती हुई भ्रष्टाचारी प्रवृत्ति है, जो व्यक्ति का शोषण भी निचले स्तर तक करती है। देश में आज छोटे-से-छोटे सरकारी अधिकारी से लेकर उच्च पदों के प्रत्येक स्तर तक धाँधली चलती है। समाज में बढ़ती इस समस्या के चलते लेखिका सूर्यबाला ने धाँधलेबाजी की पोल खोलते हुए कहा है—'कैसा कमीशन? और किसकी धाँधली? कौनसे कमीशन और धाँधली की बात कर रहा है तू? इसे स्पष्ट कर, क्योंकि यहाँ साहित्य, कला, धर्म, विज्ञान और शिक्षा आदि अन्य क्षेत्र हैं और हर क्षेत्र की अपनी-अपनी धाँधलियाँ हैं। इन धाँधलियों के अंदर भी असंख्य धाँधलियों का निवास है।'¹⁵ और मनुष्य उसका पोषणकर्ता। हर वह व्यक्ति, जो भ्रष्टाचार से तंग आकर जीवनयापन के तरीकों को विकसित करने में लगा होता है, वही आगे आकर स्वयं भ्रष्टाचारी हो जाता है। सरकारी कर्मचारियों की इसी बदनीयती को प्रस्तुत करते हुए 'देश-सेवा के अखाड़े में' एक अन्य स्थान पर वे कहती हैं—'क्यों शर्मिदा कर रहे हैं आप? आप इस एरिया के जनसेवक होकर आ रहे हैं और खरीदकर मेवे खाएँगे? लानत नहीं होगी इस जमीन के बाशिंदों के लिए? आखिर हम किस मर्ज की दवा हैं। आज ही सूखे मेवों का एक टोकरा भेज देते हैं।'¹⁶

समाज में सभी प्रकार की समस्याओं की जड़ लोगों की स्वार्थी प्रवृत्ति एवं आरामपरस्त जिंदगी है। आज मनुष्य अपनी इन्हीं प्रवृत्ति के कारण दूसरों के हित के बारे में मनुष्य सोचता ही नहीं है। वह अपने लिए सभी प्रकार की भौतिक सुविधाएँ जुटाने में लीन रहता है, वह अपनी सुविधाओं की खातिर किसी प्रकार की सहानुभूति को अपने हृदय में पनपने भी नहीं देता। आज देखने में आता है कि व्यवसाय व्यक्ति को अधिक स्वार्थी, लालची बना रहा है। देखने में तो ये भी आता है कि व्यक्ति अपनी रिपोर्ट, संवाद-लेखन, समाचार आदि के लिए मानवीय संवेदना को ताक पर रखकर, सुंदर चित्र खींचता रहता है, जबकि दूसरी तरफ मनुष्य विपदाओं के जाल में उलझकर अंतिम साँस ले रहा होता है। अंतिम साँस ले रहे इन्हीं मनुष्यों के आस-पास कुछ ऐसे जड़ स्वार्थी होते हैं कि बाढ़, सूखा या फिर किसी भी आपदा के दौरान अपनी कमाई करने में लग जाते हैं। मीडियाकर्मी इन भयावह तस्वीरों को समाज के सामने न लाकर उन चित्रों और घटनाओं को अधिक बढ़ाचढ़ा कर दिखाते हैं, जिनसे उनके चैनल अधिक चलें। डॉ॰ हरीश नवल ने 'बाढ़ में...एक संवाद कथा' लिखते हुए कहते हैं कि 'ये वह जगह होगी, जहाँ कल राहतकार्य में लगी नाव उलट गई थी। ये लोग लाशें ढूँढ रहे होंगे, वहीं चलते हैं। उस मोड़ से न्यू वेटर होगा,

कुछ देर रुकना तो पड़ेगा, पर मेहनत वसूल हो जाएगी, फूली-नीली सफेद पड़ी लाशों को निकालते हुए फायर ब्रिगेडवालों की तस्वीर ले लेते हैं।” अब जहाँ मरे हुआं को नहीं बखसा जा रहा है तो जीवितों के साथ कैसा सुलूक होता होगा समाज में ये विचारणीय है।

बालेंदुशेखर तिवारी द्वारा ‘सब चलता है’ के माध्यम से समाज में, प्रत्येक स्तर पर होने वाली घटनाओं का वर्णन व्यक्ति को सोचने पर मजबूर करता है कि देश में जो कुछ गलत कार्य होता है, क्या उसके सुधार के लिए कोई उपाय है? क्यों प्रत्येक प्राणी अपना कर्तव्य ठीक से नहीं निभाता? समाज की असंगतियों को क्या मजाक समझते हुए आगे बढ़ते चला जाना चाहिए? देखा जाए तो वे तमाम असंगतियाँ ही कई बार बड़ी खतरनाक बन जाती हैं, वे कहते हैं—‘कहीं कोई छिपाव, कहीं कोई बनावट नहीं है। ठेकेदार परिश्रमपूर्वक ऐसी सड़कों और पुलों का निर्माण करते हैं, जिनका कार्य समाप्त होने के पहले ही मरम्मत का टेंडर निकल आए। डॉक्टर सिर्फ अमीर रोगियों में रुचि लेते हैं और नेताओं के बारे में तो कुछ भी कहना बड़ा मुँह और सड़ी बात होगी।”

समाज में फैले प्रत्येक प्रकार के भ्रष्टाचार पर नजर डालते हैं, तो आज इसका रंग-ढंग और बदला-बदला महसूस होता है। पहले जहाँ अपनी धौंस पर सीधे-सीधे भ्रष्टाचारी करते थे, वहाँ अब ठेकेदार अपनी लालची प्रवृत्ति को छद्मवेश में छुपाकर रखते हैं। ऐसा भी देखने में आता है कि भ्रष्ट लोगों का पता भी नहीं चलता, वे नीचे-नीचे समाज को खोखला करते रहते हैं। जो समाज के लिए बहुत ही चिंता का विषय है। व्यंग्यकार सुभाष चंद्र सामाजिक चेतना को जाग्रत करने में ‘नई मैडम’ लेख द्वारा कहते हैं—‘समझदारी के दरवाजे पर दस्तक दी तो सब समझ में आ गया। समझते ही वह उछल पड़े। मूँछधारी शत-प्रतिशत मुख्य ठेकेदार और वे दोनों क्लीन शेव्ड लड़के ठेकेदार नंबर 5 और 6 थे। पत्रकारजी उन्हें इंगित करके मैडम से कुछ कहना ही चाहते थे कि तभी मैडम मूँछधारी की ओर इशारा करके बोल पड़ीं, विजय जी ये हैं मेरे पति मि० तोलानी। बहुत बड़े कांट्रेक्टर हैं। फिर उन्हें सँभलने का मौका दिए बिना लड़कों का परिचय कराने लगीं—यह है मेरा छोटा अजय और दूसरा है मेरा भतीजा विजय। वह (पत्रकार) गश खाकर वहीं गिर पड़े थे। गिरते समय उन्हें सिर्फ यह याद था कि यह फर्श शहर में सबसे ईमानदार अधिकारी का है।”

समाज में सबसे अधिक जागृति का कार्य शिक्षकों द्वारा किया जाता है। शिक्षक विद्या-मंदिरों में जो शिक्षा देते हैं, वह व्यक्ति के भविष्य-निर्माण से लेकर देश-निर्माण तक सहयोग देती है, परंतु जब शिक्षकगण ही किसी भी प्रकार की चिंता किए बिना देश के भविष्य के साथ खिलवाड़ करते हैं, तो साहित्यकारों के चिंतन का विषय बन जाता है कि वे देश में सामाजिक जागृति के कार्यों में लोगों की रुचि पैदा करें। अनेक व्यंग्य-लेखों में शिक्षा के क्षेत्र में होनेवाले गलत कार्यों पर सवाल उठाया गया है। आज हम देखते हैं कि शिक्षक शिक्षा के नाम पर उचित-अनुचित का भी ध्यान नहीं रखता। वह परीक्षा-पत्र, परीक्षा-भवन, कॉपी-जाँच करने इत्यादि किसी भी कार्य को सही ढंग से नहीं कर पाता है। परीक्षाओं में होनेवाली धाँधली बड़ी-बड़ी परीक्षाओं को रद्द करवा देती है। ऐसे कार्यों के प्रति चेतना दृष्टि रखते हुए हरीश नवल लिखते हैं—‘परीक्षाएँ भी चल रही हैं और उत्तर-पुस्तिकाएँ भी जाँची जा रही हैं। हमारे एक वरिष्ठ सहयोगी दोनों का कार्य एक साथ करते हैं। वे परीक्षा-केंद्र में निरीक्षण करने आते हैं और बेटे की उत्तर-पुस्तिकाएँ जाँचते रहते हैं। जिस कक्षा में वह होते हैं आर्यपुत्र अत्यंत प्रसन्न होते हैं। लगभग सन्नाटे के आलम में वह

जाँचकार्य करते हैं और वे उत्तर-पुस्तिकाओं में चेपते हैं। दोनों एक-दूजे से संतुष्ट रहते हैं।¹⁰

व्यंग्यकार रवींद्रनाथ त्यागी ने 'एक दीक्षांत भाषण' द्वारा समाज में शिक्षा के क्षेत्र में होनेवाली असंगतियों को पूरी तरह उजागर करके रख दिया है। जब शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्ति हावी हो जाएगी तो क्या किसी भी प्रकार की शिक्षा देश की उन्नति कर पाएगी? शिक्षा के प्रति गैरजिम्मेदाराना व्यवहार प्रत्येक नागरिक के चिंतन का विषय होना चाहिए। लेखक ने सामाजिक चेतना की भावना को ध्यान रखते हुए कुछ इस तरह कहा है—'आज का समारोह सच्चे अर्थों में दीक्षांत समारोह है। वैसे भी पिछले दो वर्षों से इस संस्थान में छात्र कम और पुलिस बटालियन ज्यादा उपस्थित रही है, जो कि एक संतोष का विषय है। आप लोगों के सामूहिक प्रयत्नों के फलस्वरूप इस संस्थान का फर्नीचर, रसायनशाला, पुस्तकालय व दफ्तर पूरी तरह जला दिए गए हैं, जिसके लिए आप बधाई के पात्र हैं। आपमें से बहुत से लड़के और लड़कियाँ पिछले कई वर्षों की अवधि से कक्षा में नहीं पधारे और न ही आपने परीक्षा में ही भाग लिया, पर डिग्रियाँ सबको दी जा रही हैं, इसी को कहते हैं समाजवाद।'¹¹

वास्तव में देखा जाए तो वर्तमान व्यंग्य समाज की निम्न-से-निम्न समस्या को उजागर करता हुआ, समाज में चेतना की चिंगारी जगाता है। समय बदला है तो सामाजिक परिवर्तन भी आज के समय की माँग है। व्यंग्यकारों ने समाज की चेतना को जाग्रत करने के लिए कभी सामाजिक समस्या को उठाया है तो कभी राजनीतिक और धार्मिक को। अब क्योंकि समाज धर्म, राजनीति, अर्थ आदि के समुच्चय से निर्मित हुआ है, इसलिए यह कहना उचित होगा कि व्यंग्यकार संपूर्ण सामाजिक परिवेश को चैतन्य करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

संदर्भ

1. रत्नाकर पांडेय, हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना, पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1976, पृ० 156
2. हरीश नवल, संकलित व्यंग्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2013, पृ० 12
3. वही, पृ० 12
4. ज्ञान चतुर्वेदी, संकलित व्यंग्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2015, पृ० 184
5. सूर्यबाला, श्रेष्ठ व्यंग्य, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2016, पृ० 39
6. वही, पृ० 51
7. हरीश नवल, संकलित व्यंग्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2013, पृ० 76
8. श्रीलाल शुक्ल व प्रेम जनमेजय, हिंदी हास्य-व्यंग्य संकलन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2016, पृ० 215
9. सुभाषचंद्र, श्रेष्ठ हास्य व्यंग्य, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2016, पृ० 106
10. हरीश नवल, संकलित व्यंग्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2013, पृ० 87
11. श्रीलाल शुक्ल व प्रेम जनमेजय, हिंदी हास्य-व्यंग्य संकलन, पृ० 167

मो० 9464000270

राही मासूम रजा के उपन्यासों में शैलीवैज्ञानिक संदर्भ

प्रो० डॉ०वी०एन० भालेराव (शोध निर्देशक)

अरुण अशोक सोनकांबळे (शोध-छात्र)

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

राही मासूम रजा स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के अग्रणी साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनकी पहचान उपन्यासकार के रूप में है। उन्होंने अपने उपन्यासों में देश-विभाजन की त्रासदी, सांप्रदायिकता, बेरोजगारी, हिंदू तथा मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता, ग्रामीण अंचल और भारतीयता को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। साहित्य मूलतः भाषिक अनुप्रयोग के रूप में स्थापित है। साहित्य, समाज और भाषा का अटूट संबंध होता है। राही ने हिंदी में कुल नौ उपन्यास लिखे हैं, जिनमें आधा गाँव, टोपी शुक्ला, हिम्मत जौनपुरी, ओस की बूँद, दिल एक सादा कागज, सीन:75, कटरा बी आर्जू, असंतोष के दिन और नीम का पेड़ आदि हैं। उनके उपन्यास भाषा एवं कथ्य की दृष्टि से काफी प्रभावपूर्ण एवं विशिष्ट हैं। साहित्य की हर दृष्टि से आलोचना की जाती है, पर भाषा की दृष्टि से आलोचना शैलीविज्ञान के माध्यम से की जाती है। शैलीविज्ञान मूलतः भाषिक आलोचना के रूप में स्थापित है। शैलीविज्ञान को मुख्यतः तीन प्रकारों में विभाजित किया जाता है, जिनमें भाषावैज्ञानिक शैलीविज्ञान, पाठपरक शैलीविज्ञान, संरचनात्मक शैलीविज्ञान आदि हैं। भाषा वैज्ञानिक शैलीविज्ञान के उपकरणों में चयन, विचलन, समानांतरता आदि आते हैं। चयन शैलीविज्ञान का महत्वपूर्ण उपकरण है। इस संदर्भ में डॉ० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है—

‘शैलीविज्ञान के प्रसंग में इसका अर्थ होगा किसी भाषा में प्राप्त एकाधिक इकाइयों या व्यवस्थाओं में अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी एक को चुन लेना।’ अर्थात् चयन का अर्थ चयनित करना या चुनना से संबंधित है। यह चयन भाषिक संरचना की दृष्टि से ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ तथा प्रोक्तिस्तर पर होता है। प्रस्तुत आलेख का लक्ष्य राही मासूम रजा के उपन्यासों में प्रोक्ति का चयन किस तरह से हुआ है, इसे स्पष्ट करना है। प्रोक्ति के बारे में डॉ० भोलानाथ तिवारी लिखते हैं—‘तर्कपूर्ण क्रमयुक्त और आपस में आंतरिक रूप से सुसंबद्ध, एकाधिक वाक्यों की ऐसी व्यवस्थित इकाई को प्रोक्ति कहते हैं, जो संदर्भ-विशेष अर्थद्योतन की दृष्टि से पूर्ण हो।’² प्रोक्ति मुख्यतः अर्थ को सुस्पष्टता के साथ स्पष्ट करने की बृहद् भाषिक इकाई है, जो अपनी पूर्णता के लिए परवर्ती वाक्यों पर निर्भर होती है। प्रोक्ति के अनेक प्रकार हैं, जिनमें गत्यात्मक प्रोक्ति, स्थिर एकालाप प्रोक्ति, प्रत्यक्ष कथन प्रोक्ति, अप्रत्यक्ष कथन प्रोक्ति, आदेशपरक प्रोक्ति आदि महत्वपूर्ण हैं। इनमें से इस आलेख में स्थिर एकालाप प्रोक्ति का अनुप्रयोग राही के उपन्यासों में किस तरह से हुआ है, इसे सोदाहरण स्पष्ट करना है। शैलीविज्ञान भाषा की विशिष्टता को स्पष्ट करता है। स्थिर एकालाप प्रोक्ति के बारे में डॉ० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है—‘इस आधार पर मुख्यतः संलाप (दो व्यक्तियों के बीच) तथा एकालाप (एक ही व्यक्ति अकेले में बोलता है।

वह वक्ता भी होता है और श्रोता भी) दो भेद होते हैं।³ अर्थात् स्थिर एकालाप प्रोक्ति में पात्र स्थिर रूप से विचार करता है। राही मासूम रजा के उपन्यासों में स्थिर एकालाप प्रोक्ति का प्रयोग बड़े पैमाने पर हुआ है, जिसके उदाहरण निम्नलिखित हैं—‘आधा गाँव’ उपन्यास में स्थिर एकालाप प्रोक्ति का प्रयोग इस तरह से हुआ है—‘हाँ, एक बात और! यह गंगौली कोई काल्पनिक गाँव नहीं है और इस गाँव में जो घर आएँगे, वे भी काल्पनिक नहीं हैं। मैंने तो केवल इतना किया है कि इन मकानों को मकानवालों से खाली करवाकर इस उपन्यास के पात्रों को बसा दिया है। ये पात्र ऐसे हैं कि इस वातावरण में अजनबी नहीं मालूम होंगे, और शायद आप भी अनुभव करें कि फुन्नन मियाँ, अब्बू मियाँ, झँगटिया-बो, मौलवी बेदार कोमिला, बबुरमुआ, बलराम चमार, हकीम अली, कबीर गया अहीर और अनवारूल हसन राकी और दूसरे तमाम लोग भी गंगौली के रहनेवाले हैं, लेकिन मैंने इन काल्पनिक पात्रों में कुछ असल पात्रों को भी फेंट दिया है। ये असली पात्र मेरे घरवाले हैं, जिनसे मैंने यथार्थ की पृष्ठभूमि बनाई है और जिनके कारण इस कहानी के काल्पनिक पात्र भी मुझसे बेतकल्लुक हो गए हैं।

आइये, अब चले!⁴

प्रस्तुत प्रोक्ति में स्थिर एकालाप प्रोक्ति दृष्टिगोचर होती है। ‘आधा गाँव’ उपन्यास में गंगौली नामक गाँव अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में लेखक राही स्वयं कह रहे हैं। गाँव की असलियत को उन्होंने पाठकों के सामने रखा है, जो स्थिर एकालाप प्रोक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। लेखक ने इसमें उपन्यासों के पात्रों का परिचय दिया है।

‘टोपी शुक्ला’ उपन्यास में स्थिर एकालाप प्रोक्ति यत्र-तत्र दिखाई देती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—‘जिस लड़की ने यह बात कही उसका नाम महनाज था। मामूली शक्ल-सूरत की लड़की थी। पाँच-छह साल पहले जवान हुई थी। लेक्चरर थी, परंतु वह जिसे पसंद करती, उसे कोई और लड़की हथिया लेती और वह फिर अकेली रह जाती। उसके लेटेस्ट आशिक डॉक्टर वहीद ने अभी कुछ दिनों पहले डॉक्टर शौकत फारुकी से शादी कर ली थी। डॉक्टर मिस फारुखी से (यह बताना जरूरी है कि मिस फारुखी औरत थी।)⁵ इसमें लेखक राही मासूम रजा ने महनाज के बारे में कहा है। महनाज टोपी शुक्ला उपन्यास की पात्रा है। यहाँ पर केंद्र में लेखक है। उपर्युक्त मंतव्य अकेले लेखक के द्वारा हो रहा है, इसलिए वह स्थिर एकालाप प्रोक्ति के अंतर्गत आता है, जो प्रोक्ति चयन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

‘हिम्मत जौनपुरी’ उपन्यास में भी स्थिर एकालाप प्रोक्ति दृष्टिगोचर होती है, एक उदाहरण द्रष्टव्य है—‘मासूम।’ बड़ी बेसुरी आवाज में किसी ने मुझे पुकारा। मैं इस आवाज को लाखों-करोड़ों की भीड़ में पहचान सकता हूँ। यह रामलखन चाचा की आवाज थी।⁶ इसमें भी स्वयं लेखक स्वयं से बात कर रहे हैं। भाषा की विशिष्टता का अध्ययन करने का कार्य शैलीविज्ञान करता है। उपर्युक्त प्रोक्ति, जो वाक्यों को आपस में जोड़ने का कार्य करती है, चयन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है।

‘ओस की बूँद’ उपन्यास में वजीर हसन के कमरे में कायदे-आजम की टँगी थी। उस तस्वीर ने उनकी परेशानी में शरीक होने से इंकार कर दिया। वजीर हसन अकेले में सोच रहे हैं। दीनदयाल के साथ खेले हुए सारे खेल उन्हें याद आ रहे हैं, जिसका वर्णन लेखक ने किया है—जिसमें स्थिर एकालाप प्रोक्ति उजागर हुई है।

‘वजीर हसन थोड़ी देर तक तसवीर के सामने खड़े रहे। उन्हें अपनी की हुई तमाम तकरीरें

और अल्लन से होनेवाली तमाम बहसों और दीनदयाल के साथ खेले हुए तमाम खेल याद आ रहे थे। वह उन खेलों से आँखें नहीं मिला पा रहे थे। उन्होंने हाथ बढ़ाकर वह तसवीर उतारी और दीवार पर पड़ जानेवाले उस दाग को देखने लगे। जो तसवीर के कारण दीवार पर पड़ा था। सारी दीवार का रंग कुछ और कह रहा था। तसवीर ने एक ही रंग के दो बना दिए थे। क्या यह रंग एक हो सकेगा? वजीर हसन के पास इस भयानक सवाल का कोई जवाब नहीं था। वह घबराकर तसवीर को हाथों में लिए कमरे से निकले ही थे कि पुलिस आ गई।⁷ प्रस्तुत प्रोक्ति में वजीर एक ही पात्र है, जो अकेले में है। उसकी मनस्थिति एवं सोच का यहाँ पर वर्णन किया गया है, जिससे स्थिर एकालाप प्रोक्ति दृष्टिगोचर हुई है।

‘दिल एक सादा कागज’ उपन्यास का रफन एक मुख्य पात्र है। उसने जो सिगरेट सुबह की चाय के लिए बचा रक्खी थी, वह उसे जलानी पड़ी। उस वक्त जन्त सोने के लिए कहती है। तब लेखक ने रफन का चित्रण किया है, जो एकालाप प्रोक्ति का उदाहरण दृष्टव्य है—

‘उसने अपने आपमें जन्त की तरफ देखने की हिम्मत न पाई। वह जन्त का यह राज भाँप चुका था कि उसने सपने देखना छोड़ दिया है। रुपए के साथ-साथ सपने भी सिकुड़ गए हैं। अब मनुष्य भविष्य के सपने नहीं देखता। वर्तमान के सपने देखता है। यह देखता है कि अरहर की दाल दो रुपए किलो नहीं है, बल्कि रुपए की चार किलो है। यह सोचने तक की हिम्मत नहीं पड़ती कि दाल रुपए की बीस किलो है या घी रुपए किलो है। बढ़ती हुई कीमतों ने आदमी को कितना यथार्थवादी बना दिया है।’⁸

उपर्युक्त उद्धरण में स्थिर एकालाप प्रोक्ति को उजागर किया गया है। जो रफन तत्कालीन समय की महगाँई को लेकर चिंतित है, जिसका वर्णन स्थिर एकालाप प्रोक्ति के माध्यम से राही मासूम रजा ने प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से किया है।

‘सीन: 75’ उपन्यास में भी स्थिर एकालाप प्रोक्ति का प्रयोग हुआ है। इस उपन्यास की पुष्पलता स्त्री पात्र है, जो अपनी बदसूरती के कारण चिंतित है। उसकी तमाम सहेलियाँ बॉयफ्रेंड के साथ मशगूल हैं, लेकिन वह अपनी कुरूपता के कारण यह नहीं कर पाती। पुष्पलता की इस मनोभावना को लेखक ने स्थिर एकालाप प्रोक्ति के माध्यम से इस तरह दर्शाया है—‘पुष्पलता बिचारी की अपनी समस्याएँ थीं। उसकी तमाम सहेलियाँ किसी-न-किसी पर आशिक थी। उनके साथ पिक्चरें देखने जाती थीं। बैंड स्टैंड की चट्टानों के पीछे अपने बॉयफ्रेंड के साथ नेकिंग करती थीं। दो-एक तो नेकिंग की हदों से भी आगे निकल चुकी थीं। दस-बारह चरस के सिगरेट पीती थीं। दो चार एल०सी०डी० की यात्राएँ भी करने लगी थी। नेशनल कॉलेज में वे आपस में खूब बातें करतीं और बिचारी पुष्पलता अपने-आपको अकेला पाती, क्योंकि उसके पास अपनी दोस्तों का कहने लायक न कोई किस्सा था, न कोई अनुभव।’⁹ उपर्युक्त विवेचन पुष्पलता के बारे में है, जो स्थिर एकालाप प्रोक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है।

‘कटरा बी आर्जू’ उपन्यास में स्थिर एकालाप प्रोक्ति का उदाहरण द्रष्टव्य है—

‘आशाराम? आशाराम कौन? देश ने अपने आपसे सवाल किया और चट से कोई चीज उसके दिमाग में टूट गई और फिर जैसे प्यास भी खत्म हो गई। उसने खुर्शीद आलम खाँ, जगदंबाप्रसाद और दूसरे तीनों बेनाम कार्टेबिलों की तरफ देखा और चिल्लाया’, ‘बोलो श्रीमती गांधी की जय, बोलो श्रीमती गांधी की जय...’¹⁰

प्रस्तुत उदाहरण में स्थिर एकालाप प्रोक्ति दिखाई देती है। देश इस उपन्यास का पात्र है। वह अपने आपसे सवाल कर रहा है। इससे राही की शैली की पहचान होती है।

राही द्वारा लिखित 'असंतोष के दिन' उपन्यास में स्थिर एकालाप प्रोक्ति दृष्टिगोचर हुई है, जिसका उदाहरण निम्नलिखित है—'अब्बास ने यह बात मजाक में कही थी। पर अपने संपादकीय के नीचे किए हुए अपने हस्ताक्षर को घूरते हुए उसने अपने आपसे पूछा, क्या मैंने वाकई जानी बख्शी से वह बात मजाक में कही थी।'¹¹ प्रस्तुत उद्धरण में स्थिर एकालाप प्रोक्ति नजर आती है। इसमें अब्बास एक ही पात्र है, जो अपने-आपसे बात कर रहा है, जिसमें जो वक्ता भी है और श्रोता भी है। इससे स्थिर एकालाप प्रोक्ति दृष्टिगोचर होती है।

'नीम का पेड़' उपन्यास में जीवन नामक पात्र है। लेखक राही मासूम रजा ने इसके बारे में कहा है—'जीवन आजादी के बाद की उस पीढ़ी की नुमाइंदगी करता था, जिन्होंने दूसरों के सहारे सत्ता को साधना सीख लिया था। यानी हर सरकार में उनका सिक्का चलता था, जितनी उनको नेताओं की जरूरत होती थी, उससे ज्यादा नेताओं को उनकी जरूरत होती थी।'¹² प्रस्तुत उद्धरण में जीवन नामक पात्र के बारे में कहा गया है, जिससे स्थिर एकालाप प्रोक्ति नजर आती है।

इस तरह से राही मासूम रजा के उपन्यासों में भाषिक अनुप्रयोग बड़ी कलात्मकता के साथ हुआ है। यह अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की शाखा के अंतर्गत आता है। प्रोक्तिपरक शैलीविज्ञान में उपर्युक्त विवेचन में चयन को ध्यान में रखा गया है। प्रोक्तिगत चयन विशिष्टता के साथ प्रयुक्त होने से वाक्य आंतरिकता के साथ जुड़ा हुआ है। प्रस्तुत उपन्यासों में स्थिर एकालाप प्रोक्ति का प्रयोग होने से पाठ सुसंयोजित बनकर पूर्ण अर्थ की प्रतीति बड़े ही कलापूर्ण ढंग से हुई है। शैलीविज्ञान साहित्य की भाषिक आलोचना होने के कारण उसमें साहित्य के भाषिक को स्पष्ट किया जाता है। प्रोक्ति यह तर्कपूर्ण और क्रमबद्धता के साथ जुड़ी होने के कारण प्रोक्ति में सुसंगतता आई है। स्थिर एकालाप प्रोक्ति का राही के उपन्यासों में बड़े ही कलापूर्ण ढंग से प्रयोग होने से पाठ प्रभावपूर्ण है। उनकी शैली एक प्रकार की प्रवाहमयता है। चयन एवं भाषिक विशिष्टता राही के उपन्यासों में स्थिर एकालाप प्रोक्ति के माध्यम से स्पष्ट हुई है।

संदर्भ

1. भोलानाथ तिवारी, शैलीविज्ञान, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 80
2. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान, किताब महल प्रकाशन, दिल्ली पृ० 214
3. वही, पृ० 216
4. राही मासूम रजा, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2013, पृ० 14
5. राही मासूम रजा, टोपी शुक्ला, तेरहवाँ संस्करण, 2016, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 66
6. राही मासूम रजा, हिम्मत जौनपुरी, प्रथम संस्करण मार्च 1969, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 45
7. राही मासूम रजा, ओस की बूँद, 2013, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 49
8. राही मासूम रजा, दिल एक सादा कागज, 2010, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 155
9. राही मासूम रजा, सीन : 75, 2012, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 45
10. राही मासूम रजा, कटरा बी आर्जू, 2011, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 177
11. राही मासूम रजा, असंतोष के दिन, 1986, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 25
12. राही मासूम रजा, नीम का पेड़, 2013, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 55

मो० 9503007853

स्मृतियाँ हमारे जीवन की अनमोल निधि

अनिता ललित

स्मृतियाँ हमारे जीवन की अनमोल निधि, जो कभी भी हमें अकेला नहीं होने देतीं! भले दुनियावाले हमारा साथ छोड़ दें, यहाँ तक कि जब हमारे अपने भी हमें अकेला छोड़ देते हैं, स्मृतियाँ हमारे संग रहती हैं, उनकी कमी को पूरा करती हैं। समय चाहे जैसा भी हो, हम सुखी हों या दुःखी हों, स्मृतियाँ हमारा दामन सदैव थामे रहती हैं। जीवन हर पल बदलता रहता है, मगर स्मृतियों के रूप में अपने निशान पीछे छोड़ता जाता है। जब कभी हम स्मृतियों के घेरे में आते हैं, हम कुछ देर को अपना हर दुःख भूल जाते हैं और बरबस ही मुस्कुरा उठते हैं। यहाँ तक कि यदि कोई दुखद स्मृति भी होती है, तो वह हमारे आज में आकर एक विजयी सुकून का एहसास दिलाती है कि हम उस दुःख से जीतकर, उससे उबरकर आगे बढ़ पाए। जीवन के हर पड़ाव में स्मृतियाँ हमारे कदम से कदम मिलाकर खड़ी होती हैं। जैसे-जैसे हम बढ़ते जाते हैं, बीते हुए पल-छिन हमारी स्मृतियों में मुस्कुराते हुए हमारा हाथ थाम लेते हैं—वे कभी हमें गुदगुदाते हैं, वापस बुलाते हैं, कभी कोई सीख देते हैं और कभी-कभी तो जब उन पलों के बिछड़ने की पीड़ा जब हमारी आँखें नम कर देती है, तब उन्हीं स्मृतियों में हम उन्हें दोबारा जी लेते हैं।

कुमुद रामानंद बंसल जी का हाइकु-संग्रह 'स्मृति-मंजरी' जब मेरे सामने आया तो उसके शीर्षक ने अनायास ही मुझे आकर्षित किया। यह संग्रह दिखने में इतना आकर्षक है कि देखते ही उसे हाथ में उठाने का दिल करता है। जीवन के उपवन में स्मृति-मंजरी की सुगंध का आनंद उठाते हुए मैं उसे पूरा पढ़ गई और सराबोर हो गई।

कवयित्री ने इस संग्रह को दो भागों में बाँटा है—प्रथम खंड-स्मृति उर्मियाँ-जिसमें कवयित्री के बचपन की स्मृतियों का वर्णन करते हुए हाइकु हैं। द्वितीय खंड-सचराचर-जिसमें कवयित्री एवं चर-अचर के अटूट संबंध व उनसे एकाकार के अनुभव को अभिव्यक्त करते हुए हाइकु हैं। पुस्तक के हर पृष्ठ पर गाँव का दृश्य बना हुआ है, जो इस संग्रह की पृष्ठभूमि को निश्चित करता है। यूँ लगता है कि कवयित्रीका बचपन गाँव में बीता, जिसकी मधुर स्मृतियाँ आज भी उनके मन को तरंगित करती हैं!

पहले खंड का पहला हाइकु ही मानो हम सभी के दिलों पर दस्तक देता है—

खोली जो मैंने/ बचपन की पेटी/ मिली दौलतें।

बचपन की इस दौलत में पिता का धैर्य, स्नेहभरी डाँट/सीख और माँ के प्यार-दुलार की गिनियाँ न हों, ऐसा कैसे संभव हो सकता है—नेह-साँचे में/ ढली पिता की डाँट/ शब्द सपाट।

जीवन-सार/ निभाया धर्माचार/ धैर्य-शृंगार।

माँ के अथाह-अपार, निःस्वार्थ स्नेह का इतना सटीक चित्रण भला और क्या होगा—

तपती देह /माँ की हथेलियोंसे/टपके नेह।
 माँ के बिना किसी बच्चे के जीवन में सिवा दुःख के और कुछ नहीं रहता—
 बिना माँ के/ जीवन सदा सूना/ दुःख दोगुना।
 लापरवाह, अपनी ही दुनिया में मगन बचपन! जिसमें कवयित्री विचरती हुई विभिन्न प्रकार
 की खाने-पीने की चीजों को याद करती हैं, जो बड़े होकर हमारी आँखों से ही नहीं, वरन् स्वभाव
 से भी दूर हो जाते हैं और जिनके बारे में पढ़-सुनकर अगर आज भी अनायास हमारे मुँह में पानी
 आ जाए, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं—
 नाता पुराना/ भीगते हुए रोटी/ अचार खाना।
 यादों में बसे/ आटे के गुलगुले/ चाशनी में डले।
 न भूले मन/ धूप में बैठकर/ गन्ने चूसना।
 इस खंड में कवयित्री अपने बचपन के दिनों को याद करती हैं, उस परिवेश की, जब वे
 प्रकृति के निकट थी, गाँव था, झूला था, चूल्हा था; जब आँगन होता था, मिलजुलकर उठना-बैठना
 होता था। नीम की छाया के आनंद से कौन अछूता रह सकता है—
 नीम की छाया/ करके सम्मोहित/ मन लुभाया।
 कवयित्री के हृदय में गाँव की स्मृतियाँ एक विशेष स्थान बनाकर बैठी हुई हैं। नई-नई
 वस्तुओं व घरेलू उपकरणों के आविष्कार से पहले जब गाँव में झूले पड़ते थे, हँसी, गुनगुनाहट
 गूँजती थी, पेड़ों से टपके या तोड़े फल खाए जाते थे, तब उसका अपना ही आनंद होता था।
 दीपक और लालटेन का प्रकाश ही जीने के लिए काफी हुआ करता था। सुराही, घड़ा, सिल इन
 सभी की सौधी महक आज भी उनके दिल में बसी हुई है—
 सुराही घड़े/ सिल-पिसी चटनी/ कांजी के बड़े।
 दीप-प्रकाश/ भरता था उजाला/ सौ सूर्य वाला।
 आधुनिकीकरण ने जहाँ जीने के नए सोपान दिए, वहीं आपसी संबंधों का नरम गलीचा भी
 हमारे पैरों-तले से खींच लिया। कवयित्री के शब्दों में—
 मौसम ठंडा/ गर्म होते थे दिल/ अब उलटा।
 साथ ही आधुनिकीकरण की अंधी दौड़ का नतीजा ये हुआ है कि हमारे बच्चे अब घरों में
 बंद होकर रह गए हैं, वे खेल के मैदानों में नहीं दिखाई पड़ते! गाँव की गलियाँ, चौपालें सब सूनी
 पड़ी हैं—
 सूनी गलियाँ/ छिपे हुए बच्चों को/ ढूँढ़ें आँखियाँ।
 सूने चौपाल/ नहीं दिखाई देते/ ग्वालों के बाल।
 नौजवान कबड्डी खेलते और पहलवानी करते दिखते थे, वे भी अब नदारद हैं—
 खोई है टेर/ कबड्डी-कबड्डी की/ सूने मैदान।
 पहले जहाँ घर छोटे और दिल बड़े हुआ करते थे, अपनापन अधिक होता था, हर कोई एक-
 दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होता था; आज वहीं, घर बड़े और दिल छोटे हो गए हैं—इस कड़वी
 सच्चाई का सामना हम सभी कर रहे हैं! कवयित्री भी इससे अछूती नहीं रहीं—
 क्या था जमाना/ खुशी लेने-देने का/ न था पैमाना।
 गुड़ की भेली/ बाँटते थे गाँव में/ शिशु जन्म पे!

आपसी संवाद में आज के शहरवासियों-सी ठंडक न होकर खनक होती थी-

मुग्ध-विभोर/ बातों में थी खनक/ पुराना दौर।

सूर्योदय के साथ उठना, सूर्यास्त होते ही सो जाना, ये गाँव की अपनी विशेषता है, अपनी एक पहचान है! जबकि शहरों में शाम ढलते, सवेरे-सी रौनक होने लगती है और उगते सूर्य के दर्शन शायद बहुत ही कम लोग करते होंगे। यहाँ तक कि कवयित्री के अनुसार-स्वयं उषा भी सूर्योदय नहीं देखती-यह विरोधाभास बहुत सुंदर बन पड़ा है-

बीतती सोते/ सो उषा, नहीं देखे/ सूर्य उगते।

इन सभी बातों की कमी कवयित्री को आज के आधुनिक जीवन में महसूस होती है! उनके अनुसार, जीवन की रात्रि में जब अपना साया भी साथ छोड़ देता है, तब स्मृतियाँ ही हैं, जो साथ निभाती हैं। इसका खूबसूरत चित्रण देखिए-

जीवन-रात/ सिंगिनी छाया छूटी/ यादों का साथ।

तभी, वे कभी नन्हे बालक की मुस्कान में, कभी अपनी स्मृतियों में सुख तलाशती हैं और जीवन में इतना आगे बढ़ आने के बाद, आज जब वे वर्तमान के सुखों को अतीत की स्मृतियों से तौलती हैं, तो निश्चय रूप से स्मृतियों का पलड़ा भारी पाती हैं-

वर्तमान के/ सभी सुखों पर हैं/ स्मृतियाँ भारी।

बालक हँसा/ चंद्रमा खिल उठा/ बाँकी है छटा।

भरा अँजुरी/ शीतल झोंका हवा/ स्मृति-मंजरी।

दूसरे खंड 'सचराचर' में कवयित्री ने सभी चर-अचर को अपना ही हिस्सा माना है, उनसे एकाकार किया है-स्वयं को सृष्टि का भाग और सृष्टि को स्वयं के भीतर उतारा है, उसे महसूस किया है, जिससे उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं जीवन-दर्शन, अध्यात्म भी झलकता है-

जीवन-मृत्यु/ प्रकाश-तिमिर भी/ मेरे भीतर।

काल-अकाल/ पल-अनुपल भी/ हैं द्वारचार।

उच्च या तुच्छ सब हमारे मन में है-

मुक्त मन में/ समाया सब-कुछ/ उच्च या तुच्छ।

इस खंड में कवयित्री ने बहुत ही गहनता से इस सृष्टि की हर कृति का अध्ययन कर उसे प्रस्तुत किया है। इनमें जहाँ भ्रमर, चींटी, मयूर, चिरैया हैं, वहीं खेतों की मेड़ें, धान की बालियाँ, नदिया, तलैया, समंदर, लताएँ, पुष्प इत्यादि सभी का उल्लेख है। तितली के अस्तित्व से मिली सीख जगजाहिर है एवं झींगुर की परेशान कर देनेवाली झन-झन भी कवयित्री को लुभाती है-

भेद खोलती/ तितली ये बोलती/ जीना दो घड़ी।

झींगुर-बीन/ झनक झन-झन/ लुभाए मन।

नन्हे पक्षी भी इतने सजग होते हैं कि अपना रास्ता नहीं भूलते-

सदा सजग/ पथ से न भटके/ लघु विहग।

हर प्राणी का दुःख अपनाकर वे उसके कष्ट को हृदय से अनुभव करती हैं! पशु-हत्या को लेकर दुःख प्रकट करके भी एक प्रकार से कवयित्री ने हम इंसानों से ऐसा न करने की अपील की है-

मेरा ये मन/ पशु-पीड़ा में रोता/ मूँद नयन।

बेबस पशु/ जीते जी तन कटे/ इंसान हँसे।
 प्रकृति से उनका लगाव अदम्य है, जो उनके हाइकु में स्पष्ट दिखता है—
 माँगता विदा/ ढलता पीत-भानु/ रंगीन छटा।
 ताप भीषण/ भूनता भड़भूँजा/ बैठ गगन।
 धरा सजती/ हैं सोलह शृंगार/ मेघों का प्यार।
 नीम के पेड़ से कवयित्री के मूक संवाद की संजीदगी हृदयस्पर्शी है—
 नीम का पेड़/ मूक संवाद होता/ हम दोनों में।
 बसंत में कवयित्री प्रसन्न होती हैं, परंतु पतझर भी उन्हें कदापि निराश नहीं करता, यह भाव
 उनके सकारात्मक स्वभाव को दर्शाता है—
 आया बसंत/ खिले पुष्प अपार/ सुख संचार।
 पत्ते झड़ना/ नहीं होता है अंत/ आता वसंत।
 जहाँ प्रकृति की सुंदरता कवयित्रीकी कलम से निखरकर हम पाठकों के समक्ष आती है,
 वहीं प्रकृति को कष्ट पहुँचने से उठे दर्द का अनुभव भी हमारे दिलों तक पहुँचता है—
 असभ्य विश्व/ फैलाता प्रदूषण/ दुष्कर जाल।
 हंसिनी के भय से सिमटने का चित्रण मर्मस्पर्शी है—
 भय से स्वतः/ हंसिनी सिमटती/ वन डोलती।
 अंत में कवयित्री हम सभी सभ्य कहलानेवाले मानव-समुदाय से अपील करती हैं कि हमें
 अपने आचरण से अपनी इस सृष्टि को बचाना चाहिए, उसे सँवारना चाहिए—
 सभ्याचरण/ हो मंगलाचरण/ वृक्ष-वरण।
 कुल मिलाकर 'स्मृति-मंजरी' हाइकु-संग्रह पाठकों के हृदय तक अवश्य पहुँचेगा, ऐसी
 आशा है।
स्मृति-मंजरी (हाइकु-संग्रह): कुमुद रामानंद बंसल; पृ०108 (पेपरबैक), मूल्य : 250
 रुपए, संस्करण : 2015, प्रकाशक : पराग बुक्स, ई-28, लाजपतनगर, साहिबाबाद 201705
 (उत्तर प्रदेश)

1/16 विवेक खंड
 गोमतीनगर, लखनऊ 226010
 anita.atgrace@gmail.com

हिंदी साहित्य निकेतन महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ

● निश्रुत खानकाही एवं डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल गशल और उसका व्याकरण	250.00
● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल बृहत् हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश	1500.00
हिंदी तुलनात्मक शोधसंदर्भ	995.00
हिंदी शोध : नई दृष्टि	800.00
हिंदी शोध के नए प्रतिमान	800.00
शोधसंदर्भ-भाग-1	500.00
शोधसंदर्भ-भाग-2	550.00
शोधसंदर्भ-भाग-3	525.00
शोधसंदर्भ-भाग-4	595.00
शोधसंदर्भ-भाग-5	895.00
शोधसंदर्भ-भाग-6	1500.00
हिंदी तुकांत कोश	300.00

रचनावली

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)	
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-1 (कविता खंड एक)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-2 (कविता खंड दो)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-3 (कविता खंड तीन)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-4 (कविता खंड चार)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-5 (निबंध खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-6 (उपन्यास खंड एक)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-7 (उपन्यास खंड दो)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-8 (उपन्यास खंड तीन)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-9 (उपन्यास-नाटक खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-10 (कहानी खंड)	1000.00
राजेन्द्र मिश्र रचनावली-11 (निबंध-डायरी खंड)	1000.00
डॉ० आदित्य प्रचण्डिया (संपादक)	
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (एक)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (दो)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (तीन)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (चार)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (पाँच)	700.00

डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (छह)	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (सात)	700.00
डॉ० कमलकिशोर गोयनका एवं डॉ० मीना अग्रवाल (संपादक)	
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (एक)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (दो)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (तीन)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (चार)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (पाँच)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (छह)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (सात)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (आठ)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (नौ)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (दस)	950.00
गिरिराजशरण अग्रवाल रचनावली (ग्यारह)	500.00
समीक्षा एवं समालोचना	
सवाल साहित्य के • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
हिंदी सिनेमा और दांपत्य संबंध • डॉ० चंद्रकांत मिसाल	500.00
सिनेमा और साहित्य का अंतःसंबंध • डॉ० चंद्रकांत मिसाल	200.00
सिनेमा, साहित्य और संस्कृति • नवलकिशोर शर्मा	150.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • धर्मेन्द्र उपाध्याय	300.00
डॉ० कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान • डॉ० अंजु भटनागर	500.00
अमरकांत का कथासाहित्य • डॉ० योगेश गोकुल पाटिल	400.00
नारी-समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन • डॉ० अनुभूति	450.00
राजस्थानी चित्रशैली में आखेट दृश्य • डॉ० सुषमा सिंह	250.00
भोपाल के संग्रहालयों की चित्रकला • डॉ० सुषमा सिंह	250.00
मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध • डॉ० ज्योति सिंह	150.00
मृदुला गर्ग और नारी-अस्मिता का प्रश्न • डॉ० ज्योति सिंह	300.00
काका हाथरसी : एक समीक्षा-यात्रा • डॉ० मिथिलेश माहेश्वरी	300.00
सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य • डॉ० मनोजकुमार	250.00
अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर • डॉ० दीपा के०	250.00
आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत) • डॉ० मीना अग्रवाल	450.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य • डॉ० हरीशकुमार सिंह	350.00
साठोत्तरी हिंदी-गजल : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान	
• डॉ० अनिलकुमार शर्मा	350.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का व्यंग्य-साहित्य : कथ्य एवं भाषा •	
डॉ० वी० जयलक्ष्मी	450.00

हिंदी ग़ज़ल और डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल • डॉ० पूनम अग्रवाल	595.00
ग़ज़ल संस्कृति और भीतर शोर बहुत है • भागीनाथ वाकले	400.00
हिंदी कथासाहित्य में नारी-विमर्श • प्रा० अमृता भरत पाटिल	540.00
लोकरंगमंच के विविध आयाम • डॉ० पूर्णचंद्र शर्मा	200.00
लोकनाट्य सांग : कल और आज • डॉ० पूर्णचंद्र शर्मा	700.00
हरियाणा के लोकगायक • डॉ० पूर्णचंद्र शर्मा	400.00
हरियाणा के लोककवि • डॉ० पूर्णचंद्र शर्मा	300.00
देवबंद की स्वांग-परंपरा • डॉ० सुरेंद्र शर्मा	200.00
एक साक्षात्कार : पं० अमृतलाल नागर के साथ • डॉ० शंकर क्षेम	150.00
ग़ज़ल : सौंदर्य और यथार्थ • अनिरुद्ध सिन्हा	150.00
समय के हस्ताक्षर (हिंदी के आधुनिक कवि) • डॉ० ज्योति व्यास	150.00
कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व • डॉ० लालबहादुर रावल	300.00
जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार • डॉ० अशोककुमार	350.00
बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन • डॉ० ओमदत्त आर्य	500.00
आस्थावाद एवं अन्य निबंध • डॉ० मिथिलेश दीक्षित	300.00
साहित्य और संस्कृति • डॉ० मिथिलेश दीक्षित	300.00
हिंदी व्यंग्य-निबंध : स्वतंत्रता के बाद • डॉ० आशा रावत	350.00
आज़ादी के बाद का हिंदी गद्य व्यंग्य • डॉ० प्रेम जनमेजय	500.00
हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष • विनोदचंद्र पांडेय	300.00
हिंदी बालसाहित्य : डॉ० सुरेंद्र विक्रम का योगदान • डॉ० स्वाति शर्मा	450.00
भीष्म साहनी का कथासाहित्य : सांप्रदायिक सद्भाव • डॉ० पी०आर० वासुदेवन	300.00
हिंदी ब्लॉगिंग : अभिव्यक्ति की नई क्रांति • अविनाश वाचस्पति, रवींद्र प्रभात	495.00
हिंदी ब्लॉगिंग का इतिहास • रवींद्र प्रभात	300.00
सूरदास का सौंदर्य-चित्रण • डॉ० विजय इंदु	250.00
हरिऔध का सौंदर्य-चित्रण • डॉ० विजय इंदु	500.00
साठोत्तरी हिंदी रेखाचित्र : शैलीवैज्ञानिक अध्ययन • डॉ० मीनल रश्मि	250.00
समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक चेतना • डॉ० शीला गहलौत	500.00
संत रविदास • डॉ० सुदेश कुमारी	300.00
हरिवंशराय बच्चन के काव्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ • डॉ० राजकुमार जमदग्नि	500.00
साहित्य और संस्कृति का अंतःसंबंध • डॉ० आदित्य प्रचण्डिया	400.00
मोक्षशास्त्र का माहात्म्य • डॉ० आदित्य प्रचण्डिया	400.00
वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष • डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
फिजी में प्रवासी भारतीय • डॉ० शुचि गुप्ता	300.00
मुक्तिबोध का रचना-संसार • डॉ० शिवशंकर लधवे	200.00
नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक • डॉ० अशोक उपाध्याय	200.00
यशपाल के उपन्यासों में सामाजिक चेतना • डॉ० अनीता रानी	400.00

सृजन और साहित्य • डॉ राजेंद्र मिश्र	400.00
समालोचना के फलक • डॉ बागेश्री चक्रधर	300.00
शिक्षा की समस्याएँ और हिंदी कथासाहित्य • डॉ शशिप्रभा	450.00
ललित निबंध : परंपरा और चिंतन • डॉ शिवाजी एन देवरे	300.00
ललित निबंधकार डॉ श्यामसुंदर दुबे • डॉ शिवाजी एन देवरे	300.00
डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़ल दृष्टि • डॉ शिवाजी एन देवरे	300.00
रुहेलखंड के परंपरागत लोकगीत • श्रीमती नीरजा द्विवेदी	200.00
हिंदी कहानी के नए प्रतिमान • डॉ अभयकुमार खैरनार	500.00
हिंदी नाटक के नए प्रतिमान • डॉ मनोजकुमार	400.00
हिंदी उपन्यास के नए प्रतिमान • प्रा० जसपालसिंह वळवी	550.00
जनसंख्या अवधारणा एवं लैंगिक संरचना • डॉ विश्वनाथ पांडेय	500.00
भारत में सांप्रदायिक सद्भाव • डॉ गीता यादव	500.00
एक इंद्रधनुषी व्यक्तित्व • सं० डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	600.00
साठोत्तर व्यंग्य और श्रीलाल शुक्ल • डॉ रमेश तिवारी	400.00
स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में व्यंग्य • डॉ शेरजंग गर्ग	700.00
कुछ व्यंग्य की कुछ व्यंग्यकारों की • डॉ हरीश नवल	300.00
राष्ट्रीयता, संस्कृति और साहित्य • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	700.00
साहित्यिक निबंध : मूल्य और मूल्यांकन • डॉ निशा तिवारी	400.00
जनमानस के पक्षधर हिंदी नुक्कड़ नाटक • डॉ पी०वी० कोटमे	400.00
प्रेम जनमेजय के व्यंग्य साहित्य में	
सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना • डॉ साधना झा	700.00
समकालीन साहित्य की दिशाएँ • डॉ रमेश तिवारी	400.00
डॉ महेंद्रसागर प्रचण्डियः व्यक्ति और स्रष्टा • डॉ कनुप्रिया प्रचण्डिया	450.00
साहित्य की परख • डॉ कनुप्रिया प्रचण्डिया	450.00

हास्य-व्यंग्य

मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
मेरे इक्यावन व्यंग्य • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
चुनी हुई हास्य कविताएँ • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
बाबू झोलानाथ • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
राजनीति में गिरगिटवाद • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
आदमी और कुत्ते की नाक • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
आओ भ्रष्टाचार करें • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
दूध का धुला लोकतंत्र • गोपाल चतुर्वेदी	150.00
आधुनिक बेताल कथाएँ • गिरीश पंकज	250.00
भज्जी का जूता • महेशचंद्र द्विवेदी	150.00

क्विलयर फंडा ● महेशचंद्र द्विवेदी	120.00
प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग ● महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
वीरप्पन की मूँछें ● महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
वसीयतनामा ● पं० सूर्यनारायण व्यास, सं० राजशेखर व्यास	150.00
नो टेंशन ● डॉ० सुरेश अवस्थी	200.00
काका की विशिष्ट रचनाएँ ● काका हाथरसी	300.00
काका के व्यंग्य-बाण ● काका हाथरसी	200.00
कक्के के छक्के ● काका हाथरसी	200.00
लूटनीति मंथन करी ● काका हाथरसी	200.00
खिलखिलाहट ● काका हाथरसी	200.00
पैसे कहाँ से दें ● डॉ० आशा रावत	200.00
चाहिए एक और भगतसिंह ● डॉ० आशा रावत	100.00
नमस्कार प्रजातंत्रा ● महेश राजा	150.00
ए जी सुनिए ● अशोक चक्रधर	100.00
इसलिए बौद्धम जी इसलिए ● अशोक चक्रधर	100.00
नमस्ते जी ● डॉ० बलजीत सिंह	150.00
अब हँसने की बारी है ● डॉ० बलजीत सिंह	200.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ	300.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ	300.00
पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी	300.00
शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य ● डॉ० शिव शर्मा	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) ● डॉ० शिव शर्मा	300.00
अपने-अपने भस्मासुर ● डॉ० शिव शर्मा	250.00
प्रतिनिधि व्यंग्य ● दामोदरदत्त दीक्षित	200.00
हँसते-हँसते कट जाएँ रस्ते ● मधुप पांडेय	200.00
धमकीबाशी के युग में ● निश्रुत खानकाही	200.00
ला खर्चा निकाल ● गजेंद्र तिवारी	200.00
जलनेवाले जला करें ● गजेंद्र तिवारी	200.00
पेट में दाढ़ियाँ हैं ● सूर्यकुमार पांडेय	100.00
ये है इंडिया ● डॉ० हरीशकुमार सिंह	220.00
आँखों देखा हाल ● डॉ० हरीशकुमार सिंह	250.00
सच का सामना ● हरीशकुमार सिंह	150.00
लिफ्ट करा दे ● डॉ० हरीशकुमार सिंह	200.00
देवेंद्र के कार्टून ● देवेंद्र शर्मा	200.00

कार्टून कौतुक • देवेन्द्र शर्मा	120.00
लिफ़ाफ़े का अर्थशास्त्र • डॉ० पिलकेंद्र अरोरा	200.00
अजगर करे न चाकरी • बाबूसिंह चौहान	200.00
जिंदगी तेरे नाम डार्लिंग • डॉ० लालित्य ललित	200.00
विलायतीराम पांडेय • डॉ० लालित्य ललित	200.00
नो कमेंट • सुमित प्रताप सिंह	200.00
सावधान पुलिस मंच पर है • सुमित प्रताप सिंह	200.00
चुनिदा व्यंग्य : आलोक पुराणिक • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : आशा रावत • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : गिरिराजशरण अग्रवाल • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : गोपाल चतुर्वेदी • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : प्रेम जनमेजय • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : महेशचंद्र द्विवेदी • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : श्रवणकुमार उर्मलिया • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : सुभाष चंद्र • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : सुशील सिद्धार्थ • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : हरीशकुमार सिंह • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
चुनिदा व्यंग्य : वागीश सारस्वत • सं० डॉ० रमेश तिवारी	300.00
कहानी	
एक सपना मेरा भी था • डॉ० आशा रावत	200.00
एक थी माया • विजयकुमार	200.00
अमृत वृद्धाश्रम • विजयकुमार	350.00
सरहदों के पार • सुरेशचंद्र शुक्ल	200.00
छोटे-छोटे सुख • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
कथा जारी है • बाबूसिंह चौहान	250.00
इक्कीस कहानियाँ • सत्यराज	200.00
अंदर धूप बाहर धूप (नारी-मन की कहानियाँ) • डॉ० मीना अग्रवाल	250.00
कुत्तेवाले पापा • मीना अग्रवाल	150.00
क्या अच्छा क्या बुरा • मीना अग्रवाल	200.00
उत्तराखंड की लोकगाथाएँ • डॉ० दिनेशचंद्र बलूनी	200.00
एक बौना मानव • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
लव जिहाद • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
इमराना हाशिर हो • महेशचंद्र द्विवेदी	150.00
हैं आस्माँ कई और भी • नीरजा द्विवेदी	200.00
कौन कितना निकट • रेणु 'राजवंशी' गुप्ता	120.00
लघु कथाएँ • डॉ० हरिशरण वर्मा	150.00

कमरा नंबर 103 • सुधा ओम ढींगरा	150.00
कहानियाँ अमेरिका से • सं० इला प्रसाद	150.00
अंतराल • संगीता	200.00
प्रेमचंद की कालजयी कहानियाँ • सं० डॉ० कमलकिशोर गोयनका	150.00
लघुकथाएँ जीवनमूल्यों की • सं० सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'	150.00
पंद्रह सिंधी कहानियाँ • सं० देवी नागरानी	200.00
दर्द की एक गाथा • सं० देवी नागरानी	300.00
भाँति-भाँति की मानुसी • अंशु त्रिपाठी	250.00
लड़की हँस रही है • डॉ० राजेंद्र मिश्र	300.00
आत्मकथा का कोलाज • नीलम चतुर्वेदी	200.00
आ से आजादी • नीलम चतुर्वेदी	300.00
ऐसा प्यार कहाँ • नीतू मुकुल	250.00
रेल कहानियाँ • कृपासागर साहू	300.00
मेरी समग्र कहानियाँ • प्रहलाद तिवारी	800.00

उपन्यास

इतिहास की आवाज़ • राजेन्द्र मिश्र	450.00
अनोखा उपहार • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
आसरा • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	100.00
तीन बीघा ज़मीन • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
मन के जीते जीत • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
कुल का चिराग • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
नया सवेरा • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
जागृति • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	450.00
कालचक्र से परे • श्रीमती नीरजा द्विवेदी	200.00
शांतिधाम • श्रीमती नीरजा द्विवेदी	250.00
भीगे पंख • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
मानिला की योगिनी • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
और लहरें उफनती रहीं • डॉ० तारादत्त निर्विरोध	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • डॉ० शिव शर्मा	300.00
अराज-राज • डॉ० मोहन गुप्त	200.00
सुराज-राज • डॉ० मोहन गुप्त	350.00
एक गुमनाम फौजी की डायरी • डॉ० आशा रावत	250.00
एक चेहरे की कहानी • डॉ० आशा रावत	250.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास) • डॉ० आशा रावत	200.00
एक फरिश्ता ऐसा देखा • प्रेमसागर तिवारी	250.00
रोशनी का पहरा • डॉ० आरती लोकेश	300.00

मेरे समग्र उपन्यास खंड एक • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड दो • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड तीन • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड चार • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड पाँच • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड छह • प्रहलाद तिवारी	850.00
मेरे समग्र उपन्यास खंड सात • प्रहलाद तिवारी	850.00

एकांकी-नाटक

• डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
मंचीय हास्य-व्यंग्य एकांकी	200.00
मंचीय सामाजिक एकांकी	200.00
बच्चों के हास्य नाटक	200.00
बच्चों के रोचक नाटक	200.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक	200.00
बच्चों के अनुपम नाटक	200.00
बच्चों के उत्तम नाटक	200.00
भारतीय गौरव के बाल-नाटक	200.00
प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक	200.00
ग्यारह नुक्कड़ नाटक	200.00
बच्चों के अनोखे नाटक • प्रकाश मनु	200.00
हास्य-व्यंग्य के बाल-नाटक • प्रकाश मनु	200.00
संसार : एक नाट्यशाला • बाबूसिंह चौहान	250.00
ग्यारह एकांकी • डॉ० हरिशरण वर्मा	200.00
संस्कार एवं अन्य नाटक • डॉ० हरिशरण वर्मा	300.00
दमन • रामाश्रय दीक्षित	100.00
स्वप्न पुरुष • डॉ० उर्मिला अग्रवाल	250.00
अफलातून की अकादमी • डॉ० शिव शर्मा	150.00
औरत की जंग • राजेन्द्र मिश्र	200.00
प्रजापथ • राजेन्द्र मिश्र	200.00

ललित निबंध एवं रेखाचित्र

कैसे-कैसे लोग मिले • निश्तर खानकाही	125.00
यादों का मधुबन • कृष्ण राघव	150.00
समय के चाक पर • डॉ० लालबहादुर रावल	125.00
समय एक नाटक • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
दर्पण झूठ बोलता है • बाबूसिंह चौहान	60.00

मकड़जाल में आदमी • बाबूसिंह चौहान	80.00
उफनती नदियों के सामने • बाबूसिंह चौहान	100.00
अनुभव के पंख • चंद्रवीरसिंह गहलौत	250.00
मेरे साक्षात्कार • डॉ० बालशौरि रेड्डी	250.00
आधी हकीकत आधा फसाना • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
फूलों की महक • डॉ० ओमदत्त आर्य	200.00
संवाद साहित्यकारों से • डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त बरसैया	200.00

गीत-गज़ल, कविता

निश्तर खानकाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/ निश्तर खानकाही	500.000
ग़ज़ल मैंने छेड़ी (ग़ज़ल-संग्रह)/ निश्तर खानकाही	80.00
ग़ज़लों के शहर में (ग़ज़ल-संग्रह)/ निश्तर खानकाही	200.00
मेरे लहू की आग (ग़ज़ल-संग्रह)/ निश्तर खानकाही	150.00
कोई आवाज़ देता है • डॉ० कुँअर बेचैन	250.00
दिन दिवंगत हुए • डॉ० कुँअर बेचैन	250.00
कुँअर बेचैन के नवगीत • डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
कुँअर बेचैन के प्रेमगीत • डॉ० कुँअर बेचैन	250.00
पर्स पर तितली (हाइकु) • डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
मातृभूमि के लिए • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	200.00
संघर्ष जारी है • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	170.00
जीवन-पथ में • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
देश हम जलने न देंगे • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
झरनों का तराना है • लक्ष्मी खन्ना सुमन	200.00
अहसासों के ताने-बाने • लक्ष्मी खन्ना सुमन	200.00
समय के भूगोल में • राजेंद्र मिश्र	200.00
असाबिया • राजेंद्र मिश्र	200.00
आठवाँ राग • राजेंद्र मिश्र	200.00
हवाएँ ख़ामोश हैं • राजेंद्र मिश्र	200.00
सदियाँ गुज़र रही हैं • राजेंद्र मिश्र	300.00
शब्द ही नहीं हैं • राजेंद्र मिश्र	300.00
सप्त स्वर • राजेंद्र मिश्र	400.00
आपातकालीन कविताएँ • राजेंद्र मिश्र	300.00
शमा हर रंग में जलती है • रामेश्वरप्रसाद	150.00
अक्षर हूँ मैं (कविताएँ) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
सन्नाटे में गूँज (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00

भीतर शोर बहुत है (ग़ज़ल-संग्रह) ● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
मौसम बदल गया कितना (ग़ज़ल-संग्रह) ● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
रोशनी बनकर जिओ (ग़ज़ल-संग्रह) ● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
शिकायत न करो तुम (ग़ज़ल-संग्रह) ● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
आदमी है कहाँ (ग़ज़ल-संग्रह) ● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
खुशबू सा बिखर जाऊँगा (ग़ज़ल-संग्रह) ● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
प्रतिनिधि ग़ज़लें ● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बूँद के अंदर समंदर (मुक्तक) ● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
मान भी जा छुटकी ● गीतिका गोयल	150.00
आदमी के हक़ में (ग़ज़ल-संग्रह) ● रामगोपाल भारतीय	100.00
यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ) ● रमेश कौशिक	200.00
हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ) ● रमेश कौशिक	150.00
गांधारी का सच (खंडकाव्य) ● आर्यभूषण गर्ग	200.00
राधेय (खंडकाव्य) ● डॉ० आकुल	120.00
असितचंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक) ● डॉ० आकुल	120.00
शिंदगी गाती तो है/ (ग़ज़ल-संग्रह) ● डॉ० आकुल	120.00
आसमान मेरा भी है (ग़ज़ल-संग्रह) ● किशनस्वरूप	100.00
बूँद-बूँद सागर मैं (ग़ज़ल-संग्रह) ● किशनस्वरूप	100.00
आँचल-आँचल खुशबू (ग़ज़ल-संग्रह) ● कर्नल तिलकराज	200.00
ज़ख़्म खिलने को हैं (ग़ज़ल-संग्रह) ● कर्नल तिलकराज	200.00
अग्निमुता ● राजेंद्र शर्मा	150.00
सीतायनी ● डॉ० शंकर क्षेम	150.00
गंगापुत्र भीष्म : शर-शैया से ● डॉ० शंकर क्षेम	150.00
हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह) ● शर्चींद्र भटनागर	250.00
तिराहे पर (ग़ज़ल-संग्रह) ● शर्चींद्र भटनागर	250.00
ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह) ● शर्चींद्र भटनागर	200.00
अर्खंडित अस्मिता (मुक्तक) ● शर्चींद्र भटनागर	200.00
कुछ भी सहज नहीं (नवगीत-संग्रह) ● शर्चींद्र भटनागर	200.00
त्रिवर्णी (नवगीत-संग्रह) ● शर्चींद्र भटनागर	200.00
युवाओं के गीत ● शर्चींद्र भटनागर	400.00
गुलमुहर की छाँव में (ग़ज़ल-संग्रह) ● मनोज अबोध	100.00
मेरे भीतर महक रहा है (ग़ज़ल-संग्रह) ● मनोज अबोध	150.00
तारा प्रकाश समग्र ● तारा प्रकाश	600.00
उजियारा आशाओं का ● तारा प्रकाश	150.00
बुलंदी इरादों की ● तारा प्रकाश	150.00
चलने से मंज़िल मिलती है ● तारा प्रकाश	200.00

इंद्रधनुष • तारा प्रकाश	200.00
संवेदनाओं के रंग • तारा प्रकाश	200.00
सुरों के खत • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनहरे मंत्र का जादू • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनते हुए ऋतुगीत • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	150.00
सुबह की अंगूठी • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	150.00
सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह) • डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
जो सच कहे (हाइकु-संग्रह) • डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
यादें बोलती हैं (कविताएँ) • डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
धूप अपनेपन की (मुक्तक-संग्रह) • डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
एक मुट्ठी धूप • नीरजा सिंह	100.00
कटे हाथों के हस्ताक्षर • डॉ० कमल मुसद्दी	150.00
फ़ासले मिट जाँगें (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
भीतर का संगीत (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
सुख के बिरवे रोप (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
इंद्रधनुष के रंग (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
प्यार के गुलाल से (हाइकु) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
हारना हिम्मत नहीं (मुक्तक) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
मानव तू जग में सुंदरतम • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
रिश्ते नए अब जोड़िए (ग़ज़लें) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
बहती नदी हो जाइए (ग़ज़लें) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	150.00
अँधियारों से लड़ना सीखें (ग़ज़लें) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहा-संग्रह) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहा-संग्रह) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
अनजाने आकाश में • महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
बातें कुछ अनकही • सत्येंद्र गुप्ता	200.00
मैंने देखा है • सत्येंद्र गुप्ता	200.00
हौसला तो है • सत्येंद्र गुप्ता	200.00
जिंदगी रुकती नहीं • सत्येंद्र गुप्ता	200.00
जज्बात की धूप • धूप धौलपुरी	250.00
आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ • नवलकिशोर शर्मा	180.00
जब चाँद डूब रहा था • नवलकिशोर शर्मा	200.00
एड्स शतक • पूरणसिंह सैनी	150.00

श्रीगोगाचरित (महाकाव्य) ● पूरणसिंह सैनी	300.00
श्रीकृष्णचरित (महाकाव्य) ● पूरणसिंह सैनी	800.00
खोजें जीवन सत्य (दोहे) ● डॉ० ओमदत्त आर्य	150.00
अपनी एक लकीर (दोहे) ● डॉ० ओमदत्त आर्य	200.00
राष्ट्र-शक्ति ● सलेकचंद संगल	150.00
माँ तुझे प्रणाम ● सलेकचंद संगल	150.00
लहरों के विरुद्ध ● डॉ० रामप्रकाश	200.00
हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता ● महेंद्र कुमार	200.00
पीड़ा का राजमहल ● डॉ० उर्मिला अग्रवाल	200.00
मैं एक समुद्र ● डॉ० तारादत्त 'निर्विरोध	200.00
उड़ान जारी है ● विनोद भृंग	200.00
कहता कुछ मौन (हाइकु-संग्रह) ● हरिराम पथिक	200.00
जो जिया वो रचा (मुक्तक-संग्रह) ● हरिराम पथिक	200.00
धनुषभंजक राम ● चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'	200.00
एक कुल्हड़ चाय ● स्वर्ण ज्योति	200.00
सूर्यनगर की चाँदनी ● रामेश्वर वैष्णव	150.00
रात ● दामोदर खड़से	200.00
स्मृतियाँ ● सुषमा अग्रवाल	200.00
कविताएँ फेसबुक से ● लालित्य ललित	200.00
दुनिया इतनी भी बुरी नहीं ● लालित्य ललित	200.00
बचे रहेंगे केवल शब्द ● लालित्य ललित	200.00
मेरे लिए तुम्हारा होना ● लालित्य ललित	250.00
सब पता है ● लालित्य ललित	250.00
आँगन घर में टहलेगा ● लालित्य ललित	250.00
घर उदास है ● लालित्य ललित	300.00
अपने में से तुम्हें देखना ● लालित्य ललित	200.00
आदत सी तुम्हारी ● लालित्य ललित	250.00
चुप्पी में से उद्घोष ● लालित्य ललित	300.00
चुप हैं शब्द और उनके अर्थ ● लालित्य ललित	200.00
कभी सोचता हूँ कि ● लालित्य ललित	250.00
इतना होने के बाद भी ● लालित्य ललित	250.00
विरमाल गीत समग्र ● सं० डॉ० पंकज विरमाल	500.00
विस्थापित मन ● आस्था नवल	200.00
रंगारंग कविताएँ ● बलवंत रंगीला	300.00
सिद्धांत सतसई ● डॉ० महेंद्रसागर प्रचण्डिया/संपादन डॉ० कनुप्रिया प्रचण्डिया	300.00
ऋतरा-ऋतरा सागर ● प्रेमसागर कालिया	300.00

श्रीमद्भगवद्गीता (पंजाबी कविता अनुवाद) • अनुवादक प्रेमसागर कालिया	200.00
समकालीन महिला ग़ज़लकार • हरेराम 'समीप'	300.00
कविताओं के मन से • विजयकुमार	495.00
सोच की चिंगारियाँ • चमनलाल	200.00
मेरी समग्र कविताएँ • प्रहलाद तिवारी	950.00
कवि नहीं हूँ, फिर भी • सुरेंद्रकुमार यादव	400.00
माट्टी की आवाज • रामकुमार आत्रेय	250.00
मेघ संचार • पवित्र मोहन दाश	250.00
मेरी समग्र कविताएँ • प्रहलाद तिवारी	800.00

आत्मकथा-संस्मरण, साक्षात्कार, पत्र

मेरा जीवन : ए-वन • काका हाथरसी	300.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • धर्मेन्द्र उपाध्याय	250.00
आत्मसरोवर • ओम्प्रकाश अग्रवाल	125.00
निष्ठा के शिखर-बिंदु • नीरजा द्विवेदी	200.00
स्विट्ज़रलैंड के वे 21 दिन • नीरजा द्विवेदी	200.00
कुछ अपनी कुछ जगबीती • नीरजा द्विवेदी	250.00
सफ़र साठ साल का • डॉ० अजय जनमेजय (सं)	400.00
यादों की गुल्लक • गीतिका गोयल, डॉ० अनुभूति (संपादक)	300.00
आधी हकीकत आधा फ़साना • डॉ० बलजीतसिंह	150.00
मेरे साक्षात्कार • डॉ० बालशौरि रेड्डी	250.00
संवाद : साहित्यकारों से • डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैया'	200.00
उत्तरोत्तर • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)	250.00
श्रद्धांजलि • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)	250.00

बाल-साहित्य

गधा बत्तीसी • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
ईनी-मीनी की मजेदार दुनिया • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
चिड़ियों की दुनिया रंगीन • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
कविताओं में पंचतंत्रा • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	250.00
छुटके-मुटके जंगल में • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
नन्हे-मुन्ने गीत सुहाने • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
मैं भी स्कूल जाऊँगी • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
नन्ही-मुन्नी बाल ग़ज़लें • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00
Tiny -Tots in Forest • Laxmi Khanna 'Suman'	200.00
Adventures of the Laughing Donkey • Laxmi Khanna 'Suman'	200.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत) • गीतिका गोयल	200.00

बातूनी कहानियाँ • गीतिका गोयल	200.00
धरती पर चाँद (पुरस्कृत) • शंभूनाथ तिवारी	200.00
हम बगिया के फूल (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
दिन बचपन के (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
जादूगर बादल (बालगीत) • विनोद भृंग	200.00
आटे-बाटे दही चटा के (शिशुगीत) • बालकृष्ण गर्ग	200.00
बालकृष्ण गर्ग के बालगीत • बालकृष्ण गर्ग	500.00
किशोर मन की कहानियाँ • डॉ० सरला अग्रवाल	200.00
चलो आकाश को छू लें • डॉ० तारादत्त निर्विरोध	200.00
मानव-विकास की कहानी • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
पार्टी गेम्स • चाँदनी कक्कड़	125.00
कागज की नाव • डॉ० सरोजनी कुलश्रेष्ठ	200.00
शिक्षाप्रद बालकहानियाँ • डॉ० अशोक कुमार	200.00
भारतीय लोकजीवन की कहानियाँ • डॉ० तारा प्रकाश	200.00

विविध

उत्तराखण्ड में आध्यात्मिक पर्यटन • डॉ० सरिता शाह	200.00
• निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	
पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
नारी : कल और आज	300.00
• निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे	300.00
हिंसा : कैसी-कैसी	300.00
दंगे : क्यों और कैसे	300.00
• रमेशचंद्र दीक्षित, निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
अपराध-अपराधी : अन्वेषण एवं अभियोजन • डॉ० गिरिराज शाह	200.00
गुरु नानकदेव • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
अमृतवाणी • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
आप भी तनावमुक्त हो सकते हैं • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
वेद-वेदांत दर्शन • डॉ० मूलचन्द दालभ	300.00
प्रकृति : एक ज्ञेय तत्त्व • डॉ० मूलचन्द दालभ	300.00
कन्हैया गीता • डॉ० मूलचन्द दालभ	900.00
टास्कफोर्स : हैल्थकेयर प्रोजेक्ट्स • डॉ० गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर	450.00

सिद्धाश्रम का संन्यासी • मनोज भारद्वाज	300.00
समुद्री दैत्य सुनामी • डॉ० लालबहादुर रावल	300.00
डगर पनघट की • सुधीर गुप्ता	200.00
था सुंदरतम की • महेंद्र शर्मा	200.00
Ecosystem in The Central Himalyas • Dr.Vikram Singh IPS	200.00

अपना आदेश निम्नलिखित पते पर भेजें

हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 09557746346, 07838090732

गुड़गाँव कार्यालय

बी-203, पार्क व्यू सिटी 2, सोहना रोड, गुड़गाँव 122018

0124-4076565

केंद्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क : हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा 282005, फोन : 0562-2530684,

वेबसाइट : www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई० में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र—दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी-शिक्षण का प्रसार, हिंदी-शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदीभाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदीभाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा-आयोजन तथा उपाधि-वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

शिक्षणपरक कार्यक्रम :

(1) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी-शिक्षण, (2) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (3) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (4) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (5) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम :

(1) हिंदी-शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (2) हिंदीभाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (3) हिंदीभाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (4) हिंदीभाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (5) हिंदी का समाजभाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (6) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण-सामग्री का निर्माण।

शिक्षण-सामग्री निर्माण और भाषा-विकास :

(1) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी-शिक्षण सामग्री निर्माण, (2) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (3) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (4) कंप्यूटर साधित हिंदीभाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (5) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण-संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (6) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/ त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन :

हिंदीभाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोशविज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका-‘गवेषणा’, ‘मीडिया’, और ‘समन्वय पूर्वोत्तर’ का प्रकाशन।

पुस्तकालय :

भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषाशिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :

हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ :

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत, ■ अफगानिस्तान के नानारहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी०ए० का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ, ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू०एस०ए०, यू०के०, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोकसाहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

डॉ० कमलकिशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, कें०हिं०शि०मं०
kkgoyanka@gmail.com

प्रो० नंदकिशोर पांडेय
निदेशक
nkpandey65@gmail.com